गगनाञ्चल

वर्ष 19 अंक 1 1996

विश्व हिंदी अंक

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्

प्रकाशक

मीरा शंकर
महानिदेशक
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली

संपादक

कन्हैयालाल नन्दन

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् भारत सरकार के विदेश मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्त संगठन है। भारत व अन्य देशों के मध्य सांस्कृतिक संबंधों एवं पारस्परिक सद्भाव को स्थापित तथा संपुष्ट करने के उद्देश्य से 1950 में परिषद् की स्थापना की गयी थी। भारत तथा दूसरे देशों के मध्य इस सांस्कृतिक संवाद के उद्देश्य से आयोजित अपने प्रकाशन कार्यक्रम में परिषद् अन्य गतिविधियों के अतिरिक्त त्रैमासिक पत्रिकाएं भी प्रकाशित करती है जो हिंदी (गगनाञ्चल), अंग्रेजी (इंडियन-होराइजन्स, अफ्रीका क्वार्टरली), अरबी (सक़ाफ़त-उल-हिंद), स्पेनिश (पपेलस-दे-ला-इंडिया) और फ्रेंच (रेकौंत्र अवेकलैंद) भाषाओं में हैं। प्रकाशन सामग्री के लिए संपादक 'गगनाञ्चल' से निम्नलिखित पते पर संपर्क किया जाना चाहिए :

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्,
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ इस्टेट, नयी दिल्ली-110002

शुल्क दरें

एक अंक	*वार्षिक*	*त्रैवार्षिक*
रु. 25.00	रु. 100.00	रु. 250.00
US$10.00	US$40.00	US$100.00
£4.00	£16.00	£40.00

ISSN 0971 - 1430

मुद्रक : विमल ऑफसेट, 1/11804, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

राष्ट्रपति
भारत गणतंत्र
PRESIDENT
REPUBLIC OF INDIA

संदेश

करीब डेढ़ सौ वर्ष पूर्व भारत के मेहनतकश लोगों के माध्यम से भारत की संस्कृति और भाषा समुद्र तट पर स्थित सुंदर देश त्रिनिडाड एवं टोबेगो में पहुंची थी। अपनी सहृदयता, सौहार्दता एवं समन्वय के गुण के कारण आज हिंदी तथा विश्व के अन्य देशों में बसे भारतवंशियों के बीच संपर्क की भाषा बन गई है। पिछले वर्ष ट्रिनिडाड टोबेगो की अपनी यात्रा के समय मैंने हिंदी के सुखद स्पर्श का अनुभव किया था। मुझे यह देखकर अच्छा लगा था कि वहां भारतीय भाषाएं, कला और संस्कृति अपने विकास के द्वारा दोनों देशों के भावनात्मक संबंधों को और अधिक घनिष्ठ बना रही हैं। हिंदी भाषा इन सबको आपस में जोड़ने का महत्वपूर्ण दायित्व निभा रही है।

मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुई कि ट्रिनिडाड एवं टोबेगो में 5वें विश्व हिंदी सम्मेलन का आयोजन किया जा रहा है। इसे मैं समस्त हिंदी प्रेमियों के प्रति इस देश के द्वारा व्यक्त किए गए सम्मान का प्रतीक मानता हूं। इस हेतु ट्रिनिडाड एवं टोबेगो के लोग सचमुच बधाई के पात्र हैं।

मैं इस सम्मेलन की सफलता के लिए अपनी हार्दिक शुभकामनाएं प्रेषित करता हूं।

शंकर दयाल शर्मा

(शंकर दयाल शर्मा)

नई दिल्ली
18 मार्च, 1996

विश्व हिंदी सम्मेलन पर हार्दिक शुभकामनाएं

हिंदी को जब तक एक सीमित दृष्टिकोण से देखा जाता रहेगा, उसका समुचित विकास होना कठिन है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम हिंदी को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखें। हिंदी भाषा की आंतरिक शक्ति असीम है और यह शक्ति उसे अपनी उदार प्रवृत्ति के कारण मिली है। यदि हम हिंदी को जन सामान्य की भाषा न बनाकर उसे संपूर्ण भारत के विशाल परिवेश से जोड़कर नहीं देखेंगे; तो हिंदी की गति रुक जाएगी। ट्रिनिडाड में आयोजित विश्व हिंदी सम्मेलन का आयोजन इस बात का परिचायक है कि हिंदी का परिवार ग्लोब के चारों ओर घूम रहा है। आज हिंदी केवल भारत की भाषा ही नहीं है, इसके विकास की चिंता करने वाले भारतीय नहीं हैं, अपितु अनेक विदेशी विद्वान्, हिंदी और उससे जुड़े सवालों पर चिंतन करते रहते हैं।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् का निरंतर यह प्रयत्न रहा है कि विदेशों में जहां भी हिंदी सीखने की इच्छा है, उस इच्छा का सम्मान किया जाए और हिंदी-शिक्षण की उचित व्यवस्था की जाए। परिषद् द्वारा विदेशों में भेजे गए अनेक विजिटिंग प्रोफेसर यह कार्य अथक परिश्रम तथा संपूर्ण लगन के साथ कर रहे हैं। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् हिंदी के विकास में निरंतर प्रयत्नशील रहा है और रहेगा। गगनाञ्चल का प्रस्तुत अंक इस प्रयास की कड़ी है।

ट्रिनिडाड में आयोजित विश्व हिंदी सम्मेलन के लिए मैं अपनी हार्दिक शुभकामनाएं देता हूं। मुझे विश्वास है कि इस सम्मेलन में सार्थक गोष्ठियां होंगी तथा हिंदी शक्ति में वृद्धि होगी।

वसंत साठे

(वसंत साठे)
अध्यक्ष
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्

नई दिल्ली
21 मार्च, 1996

डा. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी
भारतीय उच्चायुक्त

INDIA HOUSE,
ALDWYCH,
LONDON, W.C.2.

संदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हो रही है कि ट्रिनिडाड एवं टुबैगो की हिंदी निधि तथा वेस्टइंडीज विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्त्वावधान में एवं ट्रिनिडाड तथा टुबैगो की सरकार तथा भारत सरकार के सहयोग से 4 अप्रैल 1996 से 6 अप्रैल 1996 तक ट्रिनिडाड में पांचवें विश्व हिंदी सम्मेलन का आयोजन किया जा रहा है। इस सम्मेलन का आयोजन इस बात का प्रमाण है कि भाषा और साहित्य में हमें एक-दूसरे के साथ जोड़ने की अद्वितीय सामर्थ्य और क्षमता है। भाषा संस्कृति की मंजूषा भी है और वाहिनी भी। एक विश्वभाषा के रूप में हिंदी का उल्लेखनीय स्थान है। यह भाषा संस्कृत भाषा की लाड़ली पुत्री है, फारसी और संस्कृत का अंतरंग संबंध है, और अधिकांश भारतीय भाषाएं हिंदी की सहोदर बहनें हैं। हिंदी विश्व के एक बहुत बड़े जनसमुदाय की मातृभाषा या संपर्क भाषा है। भारत की सीमाओं से परे भारतवंशी जनसमुदाय ने इस भाषा की निष्ठापूर्वक सेवा की है, उसको अपनी अर्चना के सिंहासन पर अभिसिक्त किया है। हिंदी भारतीय एकता की भाषा है। महर्षि दयानंद ने कहा था, "यदि हमें जुड़ना है, एक होना है, तो हमें हिंदी को अपनाना होगा।" महात्मा गांधी ने कहा था, "यह काम स्वराज की तरह ही महत्त्वपूर्ण है।" हिंदी का उद्भव एक प्रकार से भारतीय संस्कृति के अमृतमंथन द्वारा हुआ। यदि हमें एकता की रक्षा करनी है तो हमें हिंदी के अमृत को बचाना होगा और हिंदी को भारत देश की राजभाषा, राष्ट्रभाषा और संपर्कभाषा के रूप में ही नहीं अपितु विश्वभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करना होगा।

हिंदी विश्व की सबसे अधिक बोली और समझी जाने वाली भाषाओं में से प्रमुख है। हिंदी के सेतु के माध्यम से हम दूसरी भाषाओं से जुड़ते हैं, अपने आप से और अपनी अस्मिता और विरासत से जुड़ते हैं। हिंदी ही ऐसी भाषा है, जो सशक्त और समर्थ भाषाओं को भी अपने अनुरूप ढाल लेती है। कोस-कोस पर स्वरूप परिवर्तित कर लेने की क्षमता हिंदी भाषा की एक अनुपम विशेषता, निरंतरता एवं सनातनता है।

लगभग तीन दशक पूर्व जब मैं भारतीय संसद (लोक सभा) का सदस्य था, मैंने यूरोप में हिंदी तथा भारतीय साहित्य, संस्कृति, दर्शन, विचार एवं जीवन के संप्रेषण के लिए

एक केंद्र स्थापित करने की संकल्पना की थी। मेरे उस प्रस्ताव पर कुछ सार्वजनिक चर्चा भी हुई, उस विचार को समर्थन भी मिला, किंतु उसे तब साकार रूप मिला जब मैंने 1991 में लंदन में भारतीय उच्चायुक्त का पद ग्रहण किया और मेन्चेस्टर में प्रथम योरोपीय अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन का आयोजन हुआ। मेरे मुख्य संरक्षण में एवं भारतीय उच्चायोग के तत्त्वावधान में आयोजित इस प्रथम योरोपीय अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन में जब 'अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन एवं भारतीय भाषा परिषद् (अहिंसम भारतीय) नामक संस्था की स्थापना हुई तो मुझे लगा जैसे अनायास ही एक अद्भुत संयोग से मेरा एक सोया हुआ सपना साकार हो उठा। इस सारस्वत सांस्कृतिक उपक्रम (अहिंसम भारतीय) के माध्यम से भारतवासी, भारतवंशी एवं भारतमित्रों को परस्पर अधिक-से-अधिक जोड़ने की दिशा में और भारतीय वैश्विक दृष्टि का मार्ग प्रशस्त करने के उद्देश्य को लेकर हमारी सबसे अधिक उल्लेखनीय बौद्धिक सांस्कृतिक उपलब्धि रही है ब्रिटेन के विश्वविद्यालयों द्वारा भारतीय भाषाओं की व्याख्यात्मक आचार्यपीठ की स्थापना की घोषणा। आशा है इस उपक्रम में ब्रिटेन के अधिकांश विश्वविद्यालय भाग लेंगे।

मेरे लिए और मेरी पत्नी श्रीमती कमला सिंघवी के लिए यह हार्दिक हर्ष का विषय है कि पांचवें विश्व हिंदी सम्मेलन के आयोजन से हिंदी भाषा वैश्विक स्तर पर प्रतिष्ठित होगी और जैसा मैंने अपनी एक कविता 'हिंदी हम सबकी परिभाषा', (जिसे तृतीय विश्व हिंदी सम्मेलन में बोधगीत के रूप में प्रस्तुत किया गया था) में लिखा है :

'कोटि-कोटि कंठों की भाषा/जन-गण की मुखरित अभिलाषा
हिंदी है, पहचान हमारी/हिंदी हम सबकी परिभाषा/आजादी के दीप्त भाल की
बहुभाषी वसुधा विशाल की/सहृदयता के एक सूत्र में/यह परिभाषा देश काल की
निज भाषा जो स्वाभिमान को/आम आदमी की जुबान को
मानव-गरिमा के विहान को/अर्थ दे रही संविधान को/हिंदी आज चाहती हमसे
हम सब निश्छल अंतस्तल से/सहज, विनम्र, अथक यत्नों से
मांगें न्याय आज से, कल से।'

ट्रिनिडाड की हिंदी निधि और वेस्टइंडीज विश्वविद्यालयों को मेरी और मेरी पत्नी की ओर से शत-शत बधाई, विनम्र साधुवाद और पांचवें विश्व हिंदी सम्मेलन की अपार सफलता के लिए हार्दिक मंगलकामनाएं।

लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

(डा. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी)

प्रकाशक की ओर से

पांचवां विश्व हिंदी सम्मेलन इस बार 4, 5 और 6 अप्रैल को ट्रिनिडाड एवं टुबैगो में आयोजित हो रहा है। इस सम्मेलन में लगभग पैंतीस देशों से आए प्रतिष्ठित विद्वान हिंदी से जुड़े अनेक सवालों पर चिंतन तथा विश्लेषण का एक मंच प्रस्तुत करेंगे। भारत से हजारों मील दूर विश्व के दूसरे कोने में हिंदी की चिंता दृष्टिगत होती है, तो मन असीम गौरव के भाव से भर जाता है। हिंदी का विरोध बहुत हुआ है, परंतु यह हिंदी की असीम शक्ति है कि उसकी निरंतर प्रगति होती रही है। जैसे जल अपना धरातल स्वयं ढूंढ लेता है, वैसे हिंदी ने भी अपने विरोधों के बावजूद अपनी आत्मीय प्रवृत्ति के कारण अपना धरातल स्वयं तलाशा है। हिंदी को प्रस्तुत अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करने में जहां भारत के अनेक हिंदी-सेवियों ने अथक परिश्रम किया है, वहां अनेक विदेशी विद्वान भी सक्रिय रूप से इस प्रगति के भागीदार रहे हैं। मेरा विश्वास है कि हिंदी का चाहे जितना विरोध हो, उसके निरंतर विकास को कोई रोक नहीं सकता है।

गगनाञ्चल का प्रस्तुत अंक हिंदी की अंतःशक्ति को पाठकों के समक्ष उद्‌घाटित करने का प्रयास है। प्रस्तुत अंक में जहां एक ओर हिंदी के विभिन्न पक्षों पर विद्वान लेखकों के चिंतनशील आलेख हैं, वहीं विदेशों में हिंदी के बढ़ते कदमों की सशक्त आहट भी आपको सुनाई देगी। हिंदी के क्षेत्र में कार्यरत विभिन्न विद्वानों से साक्षात्कार, हिंदी के लिए उनकी चिंता एवं सोच को रेखांकित करते हैं। ट्रिनिडाड तथा टुबैगो की कला, संस्कृति, साहित्य आदि के संबंध में वहां के विद्वानों द्वारा प्रस्तुत आलेख वहां की साक्षात जानकारी देते हैं।

मैं आशा करती हूं कि पांचवें विश्व हिंदी सम्मेलन के लिए शुभकामनाओं के रूप में *गगनाञ्चल* का प्रस्तुत अंक हिंदी के इस विशाल-यज्ञ में महत्त्वपूर्ण सामग्री सिद्ध होगा।

मीरा शंकर

(मीरा शंकर)
महानिदेशक
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
नई दिल्ली

दो शब्द संपादक के

गगनाञ्चल का यह अंक हिंदी की विश्व यात्रा में भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् का 'एक स्वर मेरा मिला लो' जैसा प्रयास है, जिसके लिए परिषद् के अध्यक्ष श्री वसंत साठे और परिषद् की महानिदेशक श्रीमती मीरा शंकर का मैं हृदय से आभारी हूं। महानिदेशक महोदया ने विशेष रुचि लेकर इस अंक की तैयारी में हमारा जो उत्साहवर्धन किया, इसी का परिणाम है कि अंक को हम बहुत कम समय में आप सबके सामने ला सके।

हिंदी हमारी अस्मिता, हमारी आत्मा की वाणी, हमारी वैचारिक संपदा और संस्कारों की पहचान है। हमें इस पर गर्व होना चाहिए, वह है। लेकिन उसका घर अब सिर्फ भारत की सीमाओं तक सीमित नहीं है, सुदूर देशों में बसे हुए भारतवासियों ने भी उसे अपने सांस्कृतिक वैभव को सुरक्षित रखने का माध्यम बनाया है। मॉरिशस, ट्रिनिडाड, फिजी, सूरीनाम में हिंदी की सेवा में रत हमारे बंधुजन उस आध्यात्मिक और चेतनागत विरासत का परचम लहराते आ रहे हैं, जिसमें मीरां सूर, कबीर की वाणी है, तुलसी की लय है, जिसमें 'नानापुराण निगमागम सम्मत' है, भारतेंदु, रत्नाकर के साथ रसखान का रस है, पद्माकर, बिहारी, केशव, घनानंद, मतिराम का मर्म है, ठाकुर की कसक है, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', मैथिलीशरण गुप्त, महावीर प्रसाद द्विवेदी की धार है, निराला का ओज है, प्रसाद का दर्शन है, महादेवी की वेदना का उदात्त प्रस्फुटन है, बच्चन का नशा है—हमारी समूची परंपरा है, चिंतन है, पहचान है। हमारा पुरातन है और हमारा अधुनातन भी है। आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों के त्वरा युग में हिंदी की धार को रेखांकित करने में हमारी समीक्षा पद्धतियों और रचनात्मकता की बहुआयामी दिशाओं ने जो भूमिका अदा की है, उसे उसमें रचबस कर ज्यादा बेहतर समझा जा सकता है।

हिंदी की रचनात्मक कला अब सिर्फ भारत में ही नहीं, अन्य देशों में भी परवान चढ़ रही है। उन देशों का संघर्ष, उनकी परंपराएं, उनका परिवेश विश्व हिंदी को एक नयी दिशा दे रहा है। हिंदी एक नए तरीके से समृद्ध हो रही है। हम उस रचनात्मकता को नमन करते हैं और आशा करते हैं कि दिन-दिन विशाल होते जा रहे हिंदी संसार का सद्भाव विश्व हिंदी सम्मेलन के माध्यम से और अधिक मुखरित होगा।

मेरे लिए सांस्कृतिक संबंध परिषद् के निष्ठावान, कर्मठ हिंदी सेवी अजय
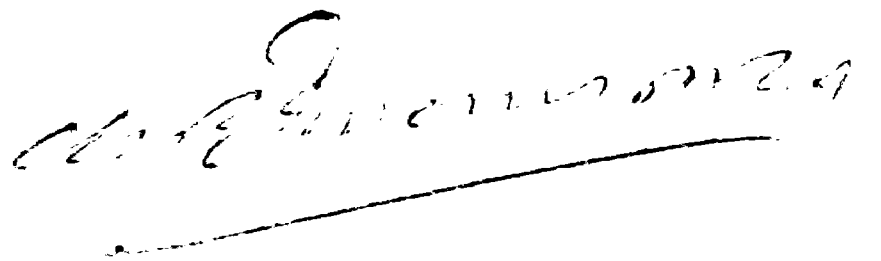
गुप्ता और प्रखर व्यंग्य-लेखक-प्राध्यापक डॉ. प्रेम जनमेजय का अप्रतिहित सहयोग एक वरदान है। अजय गुप्ता की सेवाएं अगर परिषद् की ओर से मुझे प्राप्त न होतीं, तो *गगनाञ्चल* के लिए थोड़ा द्रविड़ प्राणायाम करना पड़ता। वे *गगनाञ्चल* के लिए अपने श्रम, अपने समय और अपनी निष्ठा से मुझे हमेशा अभिभूत करते हैं। मैं इसके लिए परिषद् को धन्यवाद देना चाहता हूं।

डॉ. प्रेम जनमेजय अपनी दैनंदिन व्यस्तताओं से अपने को काट कर हिंदी के लिए और विशेषकर हिंदी रचनात्मकता का अद्यतन *गगनाञ्चल* के माध्यम से देश-विदेश तक पहुंचाने के लिए मुझे अपना सहयोग देने को तैयार हुए, इसे मैं अपना सौभाग्य और डॉ. जनमेजय की उदारता मानता हूं। वे हिंदी के ऐसे सर्वप्रिय रचनाकार हैं, जिनका 'प्रेम' *गगनाञ्चल* के लिए रचनाकारों का सहयोग पाने में सोना और सुहागा की याद दिलाता है।

विश्व हिंदी सम्मेलन के संदर्भ में इस विशेष अंक की संयोजना में मैं अपने प्रिय हिंदी सेवी रचनाकार-प्राध्यापक सुरेश ऋतुपर्ण को अपने साथ ला सका, यह मेरे लिए परम सुख का विषय रहा। उनकी उस क्षेत्र की जानकारियां, टोबैगो-ट्रिनिडाड के परिवेश और वहां की रचनाशीलता से उनका परिचय, हर विश्व हिंदी सम्मेलन से उनका जुड़ाव—ये कुछ ऐसी बातें थीं जिनके बिना इस अंक की कुछ विशिष्टताओं से हम निश्चित रूप से वंचित रह जाते। उन्होंने जिस आदर भाव के साथ सामग्री संयोजन में मुझे अपना सहयोग दिया, यह मेरे लिए अविस्मरणीय है।

अपने रचनाकार मित्रों, अग्रजों और सहयोगियों के बिना अंक का कोई रूप बन ही नहीं सकता था, वस्तुतः यह उन्हीं की देन है। *गगनाञ्चल* के प्रति उनका यह प्रेम मेरी सबसे बड़ी शक्ति है।

गगनाञ्चल आपकी आशाओं के अनुरूप बने और आप सबका प्रेम पाए, इसी आकांक्षा के साथ ...

(कन्हैयालाल नन्दन)
संपादक

अनुक्रम

विशेष

छंद के बंध

चिंतन

दृष्टिकोण

सागर पार से रचनाएं

विशिष्ट खंड : ट्रिनिडाड एवं टुबैगो

साक्षात्कार

हिंदी की गंध

हिंदी की विकास यात्रा के आलोक बिंदु

डॉ. शंकर दयाल शर्मा

"मैं यह मानता हूं कि देश की सभी महान् भाषाएं राष्ट्रीय भाषाएं हैं और सबके पास अपना-अपना समृद्ध साहित्य है। प्रत्येक भारतीय का यह कर्त्तव्य है कि वह देश में भावनात्मक एकता के लिए राष्ट्र की सभी भाषाओं में समन्वय करे।" भारत के राष्ट्रपति महामहिम डॉ. शंकर दयाल शर्मा का प्रेरक आलेख हमें इस सोच की ओर प्रेरित करता है।

इस समय मुझे स्वर्गीय इंदिरा गांधी के वे शब्द अनायास ही याद आ रहे हैं, जो उन्होंने प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन के अवसर पर कहे थे। उन्होंने कहा था :

'भारत जैसे संयुक्त परिवार का अच्छा उदाहरण मिलना कठिन है। हमारी प्रत्येक भाषा इस परिवार की पुत्री के समान है। ये सभी भाषाएं भारत की सांस्कृतिक संपत्ति की समान उत्तराधिकारिणी हैं। ये भाषाएं भारत की राष्ट्रभाषाएं हैं और इनमें से हिंदी संपर्क की भाषा है।'

पुराने समय से देश के कोने-कोने के लोगों ने अपने इस पारिवारिक दायित्व को निभाया है। इसी का परिणाम है कि आज यह महान् और विशाल देश इतना शक्तिशाली है, जो किसी-किसी के लिए ईर्ष्या का कारण तक बन जाता है। भारत की महानता प्रत्येक भारतीय के इस पारिवारिक दायित्व पर निर्भर है।

आज इस अवसर पर, मुझे उपयुक्त लग रहा है कि मैं इस बात की चर्चा करूं कि हमारी राजभाषा हिंदी के लिए पूरे देश का योगदान रहा है।

मैं अपनी बात की शुरुआत दक्षिण भारत के योगदान से करना चाहूंगा। हिंदी के विद्वान मेरी इस बात से सहमत होंगे कि हिंदी का विकास केवल उत्तर भारत में ही नहीं हुआ है, बल्कि दक्षिण भारत का भी इसमें बहुत बड़ा योगदान रहा है। वहां की हिंदी को 'दक्खिनी हिंदी' कहा गया। 'दक्खिनी हिंदी' हिंदी का वह रूप है, जिसका विकास 14 से 19वीं सदी तक बहमनी, कुतुबशाही और आदिलशाही सुलतानों के संरक्षण में हुआ था। जिस समय उत्तर भारत में खड़ी बोली केवल बोलचाल की भाषा थी, उस समय दक्षिण में वहां के शासकों के संरक्षण में हिंदी में साहित्य की रचना हो रही थी। इतिहासकार फरिश्ता ने लिखा है कि राजकीय कार्यालयों में फारसी की बजाय हिंदी चलती थी।

17वीं सदी में तंजाबुर पर शासन करने वाले शाहजी महाराज ने हिंदी भाषा में दो यक्ष गानों की रचना की थी। सन् 1880 के आसपास श्री शिष्टु कृष्णमूर्ति शास्त्री तथा नरहरी नामक विद्वानों ने तुलसीदास के 'रामचरितमानस' का तेलुगु में अनुवाद किया था। इसी के आसपास मछलीपट्टणम के निवासी नोदेल्ल पुरुषोत्तम कवि ने 32 हिंदी नाटकों की रचना की, जो उस समय खेले गए और जिनका वहां के लोगों पर काफी प्रभाव भी पड़ा। श्री शिवन्न शास्त्री लगातार 'सरस्वती' पत्रिका में लिखते रहे और उन्होंने खड़ी बोली हिंदी का स्वरूप संवारने में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की काफी सहायता की। सन् 1942 के आंदोलन में अल्लूरी सत्यनारायण राजू ने जेल में रहकर हिंदी सीखी और महान् विद्वान राहुल सांकृत्यायन के उपन्यास 'वोल्गा से गंगा' का तेलुगु में अनुवाद किया।

कर्नाटक में सदियों से 'दक्खिनी हिंदी' के रूप में 'कर्नाटकी हिंदी' की चर्चा रही है। गुलबर्गा इसका केंद्र रहा। वहां बंदे नवाज वली जैसे प्रसिद्ध दक्खिनी कवि हुए। स्वयंभू जैसे जैन कवियों की हिंदी को देन विख्यात है। मध्यकाल में कर्नाटक के हरि कथाकार अपनी कथाओं के बीच-बीच में तुलसी, कबीर और मीरा के लोकप्रिय गीत सुनाते थे। मैसूर तथा अरकाट के सुलतान अपने राज्यों में दक्खिनी तथा उर्दू को विशेष प्रोत्साहन देते थे। मैसूर के सुलतान टीपू तथा कोल्ली के राजा के बीच हुए समझौते में कोल्ली राजपरिवार में हिंदुस्तानी की शिक्षा दिए जाने का उल्लेख मिलता है।

केरल के महाराजा स्वाति तिरुनाल ने ब्रज भाषा में अनेक गीत रचे। उनके 37 गीत मिलते हैं। मध्यकाल में केरल की सेना में मराठा रेजिमेंट और राजपूत रेजिमेंट हुआ करती थी। ये सैनिक तथा उनका परिवार हिंदी जानता था और उनका स्थानीय लोग आदर करते थे। इनके द्वारा लोगों पर हिंदी का प्रभाव पड़ा। सन् 1941 में केरल में त्रिचूर से पहली हिंदी पत्रिका 'हिंदी मित्र' का प्रकाशन हुआ, जिसके संपादक के.जी. नीलकंठन नायर थे। यह परंपरा विकसित होती गई और आज केरल के अनेक रचनाकार और अनुवादक इस कार्य को आगे बढ़ा रहे हैं।

राष्ट्रकवि सुब्रह्मण्यम भारती राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से हिंदी भाषा को पर्याप्त महत्त्व

देते थे। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान इसके महत्त्व को देखते हुए उन्होंने हिंदी की कक्षाएं भी शुरू की थीं। लोकमान्य तिलक को 29 मई, 1908 को लिखे एक पत्र में उन्होंने उन्हें 'प्रिय गुरुजी' संबोधित करते हुए लिखा था :

"हमसे कहा गया है कि हम ... हिंदी पाठ की एक कक्षा खोलें। हमने तो पहले ही एक छोटी-सी कक्षा खोल रखी है। उम्मीद है आने वाले दिनों में इस कक्षा में पढ़ने वालों की संख्या बढ़ेगी।"

यह ध्यान देने की बात है कि बापू ने सन् 1918 में जिस 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' की स्थापना की थी, उसका मुख्यालय मद्रास रखा गया और इस काम के लिए उन्होंने अपने पुत्र देवदास गांधी को मद्रास भेजा था। 17 जून, 1918 को ब्राडवे के तत्कालीन होम रूल कार्यालय में श्री सी.पी. रामास्वामी अय्यर की अध्यक्षता में श्रीमती ऐनी बेसेंट ने प्रथम हिंदी वर्ग का उद्घाटन किया था। चार वर्ष के अंदर ही वहां हिंदी-प्रचार का काम इतना बढ़ गया था कि उसकी सुविधा के लिए 'हिंदी-प्रचार-प्रेस' खोलना पड़ा था।

मुझे यह जानकर अच्छा लगा कि कई तमिलभाषी विद्वान् महान भाषा तमिल और हिंदी रचनाकारों का तुलनात्मक अध्ययन करते आ रहे हैं। इसी प्रकार महत्त्वपूर्ण लेखकों के साहित्य का एक-दूसरे की भाषाओं में अनुवाद किया जा रहा है। मैं इसे अत्यंत सराहनीय काम मानता हूं, क्योंकि अनुवाद की प्रक्रिया से हमारे देश की महान् भाषाओं के विद्वानों के विचार और शैली का विस्तार होगा। इससे हमारी आने वाली पीढ़ी को भी हमारी संस्कृति की विविधता में एकता का लाभ मिल सकेगा। अनुवाद की इस प्रक्रिया में हिंदी की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है।

पांडिचेरी में सन् 1949 से अरविंद आश्रम से फ्रेंच और अंग्रेजी में निकलने वाली पत्रिका का हिंदी संस्करण निकलने लगा था।

महाराष्ट्र उत्तर और दक्षिण के बीच में बसा हुआ राज्य है। इसलिए स्वाभाविक रूप से इसका दोनों से संपर्क रहा। नामदेव और एकनाथ जैसे संतों ने मराठी के साथ-साथ हिंदी में भी पदों की रचना की, प्रवचन दिए, विचार प्रबोधन किया तथा हिंदी के माध्यम से लोगों में एकता, समानता और सक्रियता की भावना का संचार किया।

महाराष्ट्र की समाज-सेविका रमाबाई ने अमेरिका से लौटने के बाद सन् 1890 में 'यूनाइटेड स्टेट्स की लोकस्थिति व प्रवासवृत्त' नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में हिंदी की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा :

'जिस प्रकार अंग्रेजी दस करोड़ लोगों की भाषा है, उसी प्रकार हमारे यहां भी एक आम भाषा है। भारत के करीब सभी लोग हिंदी भाषा समझते हैं। ...यदि हमारी राष्ट्रीय और सार्वजनिक सभाएं हिंदी स्वीकार कर लें, तो हिमालय से कन्याकुमारी तक और सिंधु समुद्र संगम से मणिपुर की सरहद तक सभी देशप्रेमी स्वतः ही हिंदी भाषा के प्रचार में जुट जाएंगे।'

लोकमान्य तिलक ने स्वाभिमान तथा सुविधा की दृष्टि से हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने की उपयुक्तता का समर्थन किया। सन् 1917 में राष्ट्र-भाषा प्रचार के लिए कलकत्ता में आयोजित एक सम्मेलन में उन्होंने कहा कि हम सभी भारतीय भाई अपने-अपने प्रांतीय भेदभावों को भुलाकर यह काम करेंगे। बाद में उन्होंने स्वयं हिंदी में भाषण देना शुरू किया। काका कालेलकर ने अपने एक संस्मरण में इस बात की चर्चा की है कि लोकमान्य तिलक ने मध्यप्रेदश के खंडवा में अपना भाषण हिंदी में दिया था। कुछ हिंदी-प्रेमियों ने राष्ट्रभाषा के संबंध में जब उनके पास ज्ञापन भेजा, तब उसके उत्तर में तिलक ने कहा था :

"राष्ट्र के संगठन के लिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता है, जिसे सर्वत्र समझा जा सके। ... हिंदी भाषा राष्ट्रभाषा बन सकती है।"

विनोबा भावे ने भी राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की प्रक्रिया में हिंदी के महत्त्व को पूर्ण रूप से समझकर लोगों को समझाने का अथक प्रयास किया। अपने सर्वोदय आंदोलन के दौरान वे सभी लोगों से हिंदी में ही बात करते थे। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि उनके सर्वोदय आंदोलन की सफलता में हिंदी का सबसे बड़ा योगदान रहा है। इस प्रकार वे हिंदी के प्रेमी तो थे ही, साथ ही उन्होंने अपने सर्वोदय आंदोलन की सफलता के द्वारा हिंदी की उपयुक्तता को प्रमाणित भी किया।

हिंदी-पत्रकारिता के क्षेत्र में मराठीभाषियों के योगदान से आज सभी परिचित हैं। बाबूराव विष्णु पराड़कर, गोविंद शास्त्री दुगवेकर, लक्ष्मीनारायण गर्दे तथा बालकृष्ण भट्ट जैसे विद्वान मराठीभाषियों ने हिंदी-पत्रकारिता की नींव रखी। उनका मुख्य जीवन-कार्य देशभर में एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण प्रस्थापित करना था। इस प्रयास में लोगों में राष्ट्रीय प्रेम जागृत करना और राष्ट्रीय जीवन में हिंदी को केंद्रीय स्थान देना उनके महत्त्वपूर्ण लक्ष्य थे।

काका कालेलकर ने राष्ट्रभाषा के प्रचार को राष्ट्रीय कार्यक्रम का अंग मानकर उसके लिए लगातार काम किया। उन्होंने अपनी मौलिक रचनाओं द्वारा हिंदी भाषा और साहित्य को समृद्ध किया।

यह बात विशेष रूप से गौर करने की है कि प्रथम हिंदी साप्ताहिक 'उदंतमार्तंड' सन् 1826 में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। महान् समाज-सुधारक राजा राममोहन राय पश्चिमी विचारों से प्रभावित होने के साथ-साथ भारतीय भाषाओं के पोषक थे। उनके संपादन में सन् 1826 में निकलने वाले 'बंगदूत' समाचार-पत्र में अंग्रेजी के साथ-साथ हिंदी, बंगला और फारसी भी होती थी। सन् 1844 में तारामोहन मैत्रेय ने 'सुधारक' अखबार निकाला। कलकत्ता से प्रकाशित 'देवनागर' पत्रिका के संस्थापक न्यायमूर्ति शारदाचरण मित्र का नाम आज भी श्रद्धापूर्वक लिया जाता है।

गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर के मन में मातृभाषा के प्रति गहरे अनुराग का भाव था। यह अनुराग हमारे देश की सभी भाषाओं के प्रति था। उन्होंने स्वयं शांतिनिकेतन में हिंदी भवन

की स्थापना की। हिंदी भवन की स्थापना के समय गुरुदेव ने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से कहा था :

'(हिंदी की) परंपरा शक्तिशाली है। ... हिंदी के माध्यम से ऊंचे-से-उंचे विचारों को व्यक्त करने का प्रयत्न करना होगा।'

इस संबंध में मैं नेताजी सुभाषचंद्र बोस का विशेष उल्लेख करना चाहूंगा। स्वतंत्रता आंदोलन में इस वीर पुरुष ने 'आजाद हिंद फौज' की विभिन्न टुकड़ियों को हिंदी नाम दिए थे। इनके कमांड भी हिंदी में होते थे। 'दिल्ली चलो' का उत्तेजक नारा नेताजी ने देश को दिया था। देश के अधिकांश लोगों के हिंदी-ज्ञान को ध्यान में रखते हुए सुभाषचंद्र बोस ने सन् 1938 में हिंदी प्रशिक्षण संस्थान, वर्धा के दूसरे अधिवेशन में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था :

'हिंदी का प्रचार इसलिए किया जा रहा है क्योंकि यह बहुत ही व्यापक रूप में बोली और समझी जाती है।'

भारत के उत्तर-पूर्व में बसे असम में भी हिंदी की झलक मिलती है। असम के संत कवि शंकरदेव और माधवदेव के नाटकों और गीतों में 'बज्र-बुलि' भाषा का प्रयोग मिलता है। बाद में नाथ-पंथियों और वैष्णव संतों ने असमिया भाषा वे. साथ-साथ हिंदी को भी आगे बढ़ाया। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान 3 नवंबर, 1938 को लोकप्रिय गोपीनाथ बरदलै की अध्यक्षता में असम हिंदी प्रचार समिति स्थापित की गई। यह बात ध्यान देने की है कि आज से करीब डेढ़ सौ वर्ष पूर्व सन् 1842 में असम के तिनसुकिया से प्रथम हिंदी साप्ताहिक 'अकेला' प्रकाशित हुआ था, जो अब भी प्रकाशित हो रहा है।

असम के ही पड़ोसी राज्य मणिपुर में पुराने समय में 'शैल' नामक एक जातीय सिक्का चलता था। उसमें देवनागरी लिपि में हिंदी का उल्लेख मिलता है।

हिंदी साहित्य और भाषा में गुजरात के योगदान से सारा देश परिचित है। केशवराम, नरसी मेहता जैसे संत कवियों ने गुजराती के साथ-साथ हिंदी में भी रचनाएं कीं। गुजरात के सूफी संतों ने अमीर खुसरो की भाषाशैली का अनुसरण करते हुए खड़ी बोली में रचना की, जिनकी भाषा को 'हिंदवी' या 'गूजरी' कहा गया। इन सूफी संतों में शेख बहाउद्दीन बाथन, मदमूद दरियोपी, शाहअली, जी. नामधनी तथा हजरत खूब मोहम्मद चिश्ती आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कच्छ, सौराष्ट्र और राजकोट के शासकों ने हिंदी कवियों को आश्रय दिया तथा हिंदी सिखाने की सुविधा प्रदान की।

मध्य काल में भक्त कवियों के कारण ब्रज भाषा तथा उड़िया में आदान-प्रदान की भावना की शुरुआत हुई थी। कवि वंशी वल्लभ ने हिंदी गान और दोहों ही रचना की। आगे चलकर राजकवि प्रतापचंद्र देव, दामोदर चंपतीराय, कृष्णदास, अनंतदास तथा भीमदेव आदि प्रसिद्ध कवियों ने उड़िया और बंगला सहित ब्रज भाषा में भी भक्ति रस की रचनाएं

कीं। 18वीं शताब्दी में जगबंधु हरिचंदन, रामदास तथा प्रह्लादराय आदि उड़िया कवि हुए, जिन्होंने ब्रज भाषा में रचना की। आज़ादी के बाद उड़ीसा के प्रथम मुख्यमंत्री होकर महताब द्वारा हिंदी-प्रचार को प्रोत्साहन मिला। सन् 1948 में उन्होंने 'गांधी राष्ट्रभाषा भवन' उद्घाटन किया।

पंजाबी भाषा की लिपि गुरुमुखी ज़रूर है, लेकिन हिंदी और पंजाबी जानने वालों के लिए एक-दूसरे की भाषा को समझना काफी सरल है। इसी सरलता ने एक-दूसरे की भाषा को आदान-प्रदान के द्वारा समृद्ध किया है। हिंदी के महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' के रचयिता चंदबरदाई का जन्म वर्तमान लाहौर में हुआ था। गुरुनानक देव की वाणी से सारा देश परिचित है। उन्होंने पंजाबी भाषा के साथ-साथ हिंदी में भी काव्य-रचना की। इस दृष्टि से गुरु गोविंदसिंह जी का नाम स्मरणीय है। हालांकि सूफी प्रेम काव्य की परंपरा के कवि शेख फरीद, बुल्लेशाह और शाह हुसैन आदि की कविताओं में पंजाबी भाषा प्रधान थी, किंतु उनमें हिंदी की झलक मिलती है। पटियाला तथा फूलवंश आदि रियासतों में हिंदी कवियों का बड़ा सम्मान था। लाला लाजपतराज, स्वामी श्रद्धानंद, महात्मा हेमराज, पं. गुरुदत्त तथा भाई परमानंद आदि ने स्वयं हिंदी सीखी और लोगों को हिंदी सिखाई। यह प्रसन्नता की बात है कि आज भी अनेक पंजाबी भाषी हिंदी में मौलिक लेखन कर रहे हैं।

महान् विचारक, समाज-सुधारक तथा आर्यसमाज के संस्थापक दयानंद सरस्वती गुजरातीभाषी थे। लेकिन उन्होंने बाद में न केवल हिंदी में बोलना ही शुरू किया, बल्कि हिंदी में लिखा और अपने पहले के ग्रंथों का भी हिंदी में अनुवाद कराया। साथ ही उन्होंने दूसरों को भी हिंदी सीखने के लिए प्रेरित किया।

दयानंद सरस्वती जी ने हिंदी भाषा के पठन-पाठन को आर्यसमाज के मूल नियमों में शामिल किया, जिसकी हिंदी प्रचार और विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। ऐसा उल्लेख मिलता है कि दयानंद सरस्वती जी को हिंदी सीखने की बात कलकत्ता में ब्रह्मसमाज के नेता केशवचंद्र सेन ने कही थी। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उस समय हिंदी की आवश्यकता को एक बंगलाभाषी ने महसूस किया था और एक गुजरातीभाषी ने उसे स्वीकार किया।

हिंदी भाषा के विकास में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी, जिनकी मातृभाषा गुजराती थी, का अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्हें भारत की महान् भाषाओं पर गर्व था। उनकी आत्मकथा में उल्लेख मिलता है कि वे स्वयं तमिल सीखना चाहते थे। लेकिन उन्होंने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण, नवमानव के निर्माण, लोकचेतना जागृत करने तथा लोक-संपर्क एवं पारस्परिक सद्भाव के लिए हिंदी को चुना।

राष्ट्रपिता ने दक्षिण भारत में हिंदी के विकास के लिए 'दक्षिण भारत हिंदी-प्रचार सभा' की स्थापना की। वे सन् 1918 और 1935 में हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति रहे। सन् 1925 में गांधीजी के अनुरोध पर कांग्रेस के कानपुर अधिवेशन में हिंदी संबंधी

प्रस्ताव हुआ और पारित हुआ। बापू ने सन् 1918 में बंबई में हिंदी सम्मेलन की प्रारंभिक बैठक में हिंदी को सत्य और सत्याग्रह से जोड़ते हुए कहा था :

"सत्य की लड़ाई के लिए सत्याग्रह जरूरी है। यदि हममें सत्य के प्रति सम्मान है, तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि केवल हिंदी ही वह भाषा है, जिसका हम राष्ट्रभाषा के रूप में उपयोग कर सकते हैं।"

कश्मीर प्राचीन काल से ही हमारे देश का तीर्थस्थान रहा है। शंकराचार्य ने कश्मीर में शैव मत का प्रचार किया। इसके साथ ही साथ कश्मीर संस्कृत विद्या का केंद्र भी रहा।

मध्य काल में कश्मीर के कवि कश्मीरी के साथ-साथ हिंदी में कविता करने लगे थे। सन् 1572 में वल्लभदेव ने तुलसी के 'रामचरितमानस' का अनुवाद किया। 18वीं शताब्दी में महाकवि परमानंद के समय हिंदी का काफी प्रसार हुआ। 1823 में कविदत्त ने ब्रज भाषा में काव्य-रचना की। 19वीं शताब्दी के उत्तरकाल में महाराजा रणवीर सिंह ने डोगरी भाषा और देवनागरी लिपि में अपना राजकार्य चलाया।

मैंने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इन बातों का उल्लेख दो विशेष उद्देश्यों को ध्यान में रखकर किया है। पहला तो यह कि हिंदीतरभाषियों द्वारा हिंदी की सेवा के लिए किए गए कार्यों का पूर्ण और उचित सम्मान हो। दूसरा यह कि हिंदीभाषियों को इस तथ्य की जानकारी हो।

हिंदी को राजभाषा इसलिए बनाया गया, क्योंकि यह हमारे देश के सबसे बड़े हिस्से में समझी जाने वाली और सबसे अधिक लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा है। ऐसा नहीं है कि इस बात का अनुभव कुछ वर्ष पहले ही किया गया था, बल्कि शुरू से ही लोग इस बात का अनुभव कर रहे थे। और यही कारण था कि पूरा देश हिंदी भाषा के विकास में अपना कुछ-न-कुछ योगदान कर रहा था। मैं यहां श्रीमती ऐनी बेसेंट की पुस्तक 'नेशन बिल्डिंग' के शब्द उद्धृत कर रहा हूं:

"भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में जो अनेक देशी भाषाएं बोली जाती हैं, उनमें एक भाषा ऐसी है, ... (जो) व्यापक रूप में जानी जाती है। हिंदी जानने वाला आदमी पूरे भारत में घूम सकता है।"

मुझे लोगों से यह जानकर और देखकर बहुत सुख मिलता है कि हमारे देश की विभिन्न भाषाओं के बीच अंतर्प्रवाह शुरू हो गया है। इसके प्रमाण के रूप में आज के पुरस्कृत लेखक हैं। विभिन्न भाषाओं के आपस में अनुवाद होने लगे हैं। अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय बनाने की तैयारी चल रही है, जिससे विभिन्न भाषाओं के अंतर्संबंध और मज़बूत हो सकेंगे। हमारे देश की भाषाओं की अटूट एकता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि हमारी सभी भाषाओं की वर्णमाला एक है और उनके चिंतन का मूल एक है। मैं समझता हूं कि जिस देश की भाषाओं की नींव में इतनी एकरूपता हो, उस पर राजभाषा की एक मजबूत इमारत खड़ी करना अपेक्षाकृत आसान हो जाता है। मेरा विश्वास

है कि इस दिशा में सार्थक प्रयास होंगे।

मुझे लगता है कि हिंदी भाषा केवल हमारे देश की सीमाओं तक सीमित नहीं है, बल्कि अब यह विश्व के कई देशों में पहुंच चुकी है। उन देशों में यह भाषा न केवल बोली ही जा रही है, बल्कि वहां के महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में पढ़ाई भी जा रही है। मुझे लगता है कि ऐसी स्थिति में मंत्रालय यदि किसी विदेशी हिंदी विद्वान को भी सम्मानित करने का निर्णय ले, तो यह उपयुक्त होगा। मॉरिशस, गयाना, सूरीनाम जैसे देशों में हिंदी भाषा के प्रति विशेष प्रेम है। वहां के भी हिंदी विद्वानों का सम्मान किया जाना स्वागत योग्य होगा।

मैं यह मानता हूं कि हमारे देश की सभी महान् भाषाएं राष्ट्रीय भाषाएं हैं और सबके पास अपना-अपना समृद्ध साहित्य है। प्रत्येक भारतीय का यह कर्तव्य है कि वह देश में भावनात्मक एकता के लिए राष्ट्र की सभी भाषाओं में समन्वय करे। हिंदी भाषा को इन सबके बीच समन्वय स्थापित करने में महत्तवपूर्ण भूमिका निभानी है। □

देश को एकता के सूत्र में आबद्ध करने की शक्ति केवल हिंदी में है।

—इंदिरा गांधी

हिंदी के दरवाजे और खिड़कियां खुली रहें

इंदिरा गांधी

"किसी देश और जनता को गौरव मिलने से उसकी भाषा को भी सम्मान मिलता है। क्या भाषा के सौंदर्य से ही उसका आदर होगा? दुर्भाग्य से हमारे देश में कई लोग न तो जनता की सेवा कर रहे हैं और न अपनी भाषा का" प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन के अवसर पर भूतपूर्व प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की व्यक्त चिंता आज भी विद्यमान है।

प्रधानमंत्री सर शिवसागर रामगुलाम, विशिष्ट अतिथिगण, हिंदी विश्व की महान भाषाओं में एक है। यह करोड़ों की मातृभाषा है और करोड़ों लोग ऐसे हैं जो इसे दूसरी भाषा के रूप में बोलते हैं। गंगा-यमुना के निकटवर्ती प्रदेशों से विकसित होकर, इस भाषा का प्रयोग, भारत के सुदूर कोनों तक प्रचलित है। इसका स्वर उन देशों में भी सुना जा सकता है, जहां हमारे देश के लोग कई पीढ़ियों पहले गए और विदेश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में जहां विद्वान लोग हिंदी का अध्ययन करते हैं। हमारे प्रमुख अतिथि मॉरिशस के प्रधानमंत्री हिंदी की विश्व-व्यापकता के एक जीवंत उदाहरण हैं। पूर्वी और पश्चिमी यूरोप, अमरीका तथा अटलांटिक और प्रशांत प्रायद्वीपों से हिंदी-विद्वान यहां आए हैं। उन सभी कोविद और हिंदी-प्रेमियों का मैं स्वागत करती हूं।

इस सम्मेलन के आयोजन के लिए मैं राष्ट्रभाषा प्रचार समिति को बधाई देती हूं। विशेषकर महामंत्री को जिन्होंने लगन से इसे आगे बढ़ाया है। अन्य भाषाओं के लेखकों और साहित्यकारों को उन्होंने बुलाया है, इसकी मुझे प्रसन्नता है। हमारा सब भाषाओं में आपसी लेन-देन है और साथ ही प्रत्येक भाषा की अपनी एक महान् विरासत और अपना उज्ज्वल भविष्य है।

भारत जैसे संयुक्त परिवार का अच्छा उदाहरण मिलना कठिन है। हमारी प्रत्येक

मातृभाषा इस परिवार की पुत्री के समान है। ये सभी भाषाएं भारत की सांस्कृतिक संपत्ति की समान उत्तराधिकारी हैं; ये भाषाएं भारत की राष्ट्रभाषाएं हैं और इनमें से हिंदी भारत की राष्ट्रीय संपर्क की भाषा है, क्योंकि इस भाषा का परिवार सबसे बड़ा है।

संसार की सीमाएं सिमटती जा रही हैं। इस तकनीकी युग में लोगों का, देश-विदेश में आवागमन बहुत बढ़ गया है। कोई भी व्यक्ति केवल एक भाषा से काम नहीं चला सकता। कुछ देशों में अनिवार्य रूप से तीन भाषाएं सिखाई जाती हैं। हमारे विशाल देश में भी यह आवश्यक है, कठिन भी नहीं है।

महात्मा गांधी कहा करते थे कि प्रत्येक भारतीय स्वभावतः दुभाषी है। वे अंतर-प्रांतीय समझ-बूझ और संपर्क बढ़ाना चाहते थे। उन्होंने ठीक ही कहा था कि यह तभी संभव है जब ज्यादा लोग हिंदी अथवा हिन्दुस्तानी सीखें और बोलें, इसी कारण हमारे स्वतंत्रता-संग्राम में हिंदी का एक खास स्थान रहा है। बिना किसी विशेष सरकारी आश्रय के कई अहिंदी भाषी क्षेत्रों में हिंदी समझी जाती रही है। वाणिज्य-व्यापार की वृद्धि तथा सिनेमा के प्रचलन से भी इस भाषा के विस्तार को प्रोत्साहन मिला है।

हिंदी आज भारत की संपर्क भाषा है। लेकिन यह पद पाने पर, हिंदी के विरुद्ध, कुछ अनावश्यक प्रतिरोष हुआ। कुछ लोगों का भ्रम है कि हिंदी भाषा-भाषियों के लाभ से उनका अहित होगा। ऐसी भावना फैलने का कुछ दोष हिंदीभाषियों के अनुचित उत्साह और दृष्टिकोण पर है। हिंदी के सर्मथकों को चाहिए कि वे अहिंदी भाषियों के दिलों को जीतें, उनकी आशंकाओं को दूर करें और उनमें विश्वास जगायें। हिंदी का विकास अवश्यम्भावी है और अन्य भाषाओं की समृद्धि इसमें विशेष सहायक होगी। हिंदी संपर्क भाषा का माध्यम है जिसके द्वारा इस विशाल देश के लोग एक-दूसरे को समझ सकेंगे और मिलकर काम कर सकेंगे। इस भूमिका को निभाने के लिए हिंदी को सीमित दायरे से उठकर आधुनिक चुनौतियों का मुकाबला करना है। लोकतंत्र की सफलता के लिए जरूरी है कि देश के सब लोग समस्याओं को समझ सकें तथा उनका सामना करने में भाग ले सकें। हिंदी को न केवल सब क्षेत्रों के बीच बल्कि सब वर्गों के बीच एक जीवंत भाषा बनाना है। इसके लिए भाषा को सादा और लचीली होना है ताकि यह बदलती स्थितियां और नए ज्ञान को अपना सकें। जहां जरूरी हो, दूसरी भाषाओं से शब्द लेने में संकोच नहीं होना चाहिए।

हिंदी को चाहिए कि वह अपने दरवाजे और खिड़कियां खुली रखे। ऋग्वेद में कहा गया है कि अच्छे विचारों का सभी दिशाओं से हम आवाहन करें। इसी तरह हिंदी एक विश्वभाषा का रूप ले सकेगी। जिस हद तक हिंदी का भंडार बढ़ेगा और उसकी उपयोगिता बढ़ेगी, उस हद तक अधिक-से-अधिक लोग हिंदी सीखना चाहेंगे। हमें देखना है कि इस दिशा में और क्या सुविधाएं दे सकते हैं। आशा है, आप सब भी इस विषय पर ध्यान देंगे।

हम एक ऐसे भारत की कल्पना नहीं करते जहां केवल एक भाषा बोली जाती हो,

न ऐसे भारत की जहां एक ही धर्म का बोलबाला हो। हमारा देश बहुधर्मी देश है। हमारा देश बहुभाषी देश है। हमारे यहां अनेकता में एकता है। यह एक सर्वभाषा भारती है। लेकिन मुझे आशा है कि भारत के लोग अधिक-से-अधिक हिंदी सीखेंगे। मैंने अकसर कहा है कि भारत का प्रत्येक बच्चा अपनी मातृभाषा सीखे, राष्ट्रीय संपर्क भाषा के रूप में हिंदी सीखे और अंतर्राष्ट्रीय संपर्क भाषा के रूप में अंग्रेजी सीखे। हम चाहते हैं कि हमारे बच्चे अपनी प्रादेशिक संस्कृति, अपनी राष्ट्रीय विरासत और विश्व का ज्ञान अर्जित करें। यह तीन बातें हमें आत्मसात करनी हैं। आधुनिक युग में अच्छा भारतीय होने के लिए यह आवश्यक है कि हमारा अपने क्षेत्र के जन-जीवन का पूरा परिचय हो और साथ ही हम विश्व-नागरिक भी हों।

सरकार सतत प्रयत्नशील है कि हिंदी राजभाषा और अंतर-प्रांतीय संपर्क भाषा के में प्रभावकारी हो। पर हिंदी किसी पर लादी नहीं जाएगी। सरकार के आश्रय से ही किसी भाषा की उन्नति नहीं होती है, इससे तो एक दफ्तरी भाषा का विकास होगा, न कि एक जीवंत साहित्य का। यह सच है कि कई भाषाओं के साहित्य को दरबारों में प्रोत्साहन मिला, लेकिन हिंदी के विकास की कहानी भिन्न है। सूर, तुलसी, कबीर आदि को कौन-सा राजाश्रय मिला। इनका, इनकी भाषा और इनके साहित्य का विकास जन-समुदाय के बीच हुआ।

एक महान भाषा-शास्त्री ने लिखा है कि भाषा स्वर तथा वाक्य-विन्यास सिखाती है। कोई भी आधुनिक भाषा केवल कवि, नाटककार तथा आलोचक के प्रयासों से विकसित नहीं होती है। उसमें निखार और शक्ति तभी आएगी, जब व्यापारी अपने व्यापार के लिए, वैज्ञानिक अपनी खोजों को समझाने के लिए और सार्वजनिक जीवन के लोग आशापूर्ण दृष्टिकोण रखने के लिए इसका प्रयोग करें। गद्य के लिए यह विशेष रूप से सत्य है। सबसे अच्छा गद्य वह नहीं होता जो केवल अलंकृत है, बल्कि वह है जिसमें युक्ति देने, व्याख्या करने और भावों को ठीक प्रकार से प्रकट करने तथा दूसरे तक पहुंचाने की क्षमता होती है।

भाषा, देश में चरित्र का दर्पण होती है। हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में भक्ति तथा दार्शनिक साहित्य का भंडार है। लेकिन हमारी भाषाएं आधुनिक तभी हो सकती है, जबकि वे समकालीन और भविष्य के विचारों को समाविष्ट करने की क्षमता रखेंगी! आजकल के युग में कोई भी राष्ट्र विज्ञान से अलग नहीं रह सकता बल्कि उसके लिए अनिवार्य है कि वह ज्ञान की खोज में सक्रिय भाग लें। यह सच है कि प्रत्येक देश अपना कार्य अपनी भाषा में करे, पर उतना ही आवश्यक है कि विज्ञान और तकनीक की उन्नति में भाषा बाधा न बने। पिछले कुछ दशकों में संसार में कई नई दिशाओं में नए-नए विचारों का सृजन हो रहा है। इन विषयों में हिंदी में बहुत थोड़ा साहित्य है, और हम बहुत हद तक अनुवाद पर निर्भर हैं। अनुवाद का अपना स्थान है किंतु वह मूल पुस्तकों का स्थान नहीं ले सकता।

किसी विदेशी भाषा में रुचि इस पर निर्भर है कि विज्ञान, तकनीक, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्रों में उस भाषा के ज्ञान से व्यक्ति कितना लाभ उठा सकता है। विश्व में हिंदी के विकास के लिए इन सब बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, रूसी जैसी भाषाओं के विकास और विस्तार का यही रहस्य है।

किसी देश और जनता को गौरव मिलने से उनकी भाषा को भी सम्मान मिलता है। क्या भाषा के सौंदर्य से ही उसका आदर होगा? दुर्भाग्य से हमारे देश में कई लोग न तो जनता की सेवा कर रहे हैं और न अपनी भाषा की।

मैं फिर यह कहना चाहूंगी कि मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि सर शिवसागर रामगुलाम अपने सुंदर देश से इस महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम की अध्यक्षता करने आए हैं। उन्होंने कई जातीय तथा प्रादेशिक लड़ियों को एकसूत्र में बांधकर एक नए मॉरिशस का निर्माण किया है। हमारे देश की तरह मॉरिशस ने भी अनेकता में एकता के रहस्य को समझा है। सर शिवसागर रामगुलाम का उनके पूर्वजों के इस देश में हमेशा स्वागत है।

मुझे इस सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए प्रसन्नता है। मेरी आशा है कि हिंदी भाषा द्वारा भारत की अन्य देशों से मित्रता की कड़ियां और दृढ़ होंगी। सम्मेलन की सफलता के लिए मेरी शुभकामनाएं। □

हिंदी को भारत की एक भाषा स्वीकार कर लिया जाए तो सहज में ही एकता संपन्न हो सकती है।

—केशवचंद्र सेन

साहित्य के बिना भाषा नहीं चल सकती

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

दूसरे विश्व हिंदी सम्मेलन की अंतिम गोष्ठी में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी भाषा, हिंदी साहित्य, हिंदी की वर्तमान स्थिति आदि से जुड़े अनेक सवालों पर अपने महत्वपूर्ण विचार प्रकट किए थे जो हिंदी की वर्तमान स्थिति को देखते हुए आज भी उतने प्रासंगिक लगते हैं।

मेरे प्यारे भाई-बहनो, साहित्य रसिको, भाषा प्रेमियो, मैं आपका हार्दिक अभिनंदन करता हूं। अभी मैं सोच रहा था कि आप इतनी देर से इस धैर्य के साथ यह सब सुन रहे हैं। मुझे आश्चर्य हो रहा था और साथ-ही-साथ ईमानदारी की बात तो यह है कि मुझे आप पर दया भी आ रही थी। मैं समझता हूं कि आपको मेरे ऊपर दया थोड़ी-थोड़ी आती होगी। काफी देर से हम लोग बैठे सुन रहे हैं, बड़े गंभीर विचार हमने सुने हैं। हमारा तो यह सौभाग्य था कि बगल में दयानंद जी बैठे थे जो दया में आनंद लेते हैं। इसलिए मेरा जी तो बहुत हल्का हुआ लेकिन मैं जानता हूं कि आप काफी थक गए हैं। अब इस समय भाषा के सूक्ष्म विचार और साहित्य की गंभीर समस्याएं आपके सामने मैं नहीं रखना चाहता। पहली बात तो यह है कि प्रायः ऐसा कुछ छूटा नहीं है जो विद्वानों ने आपको बताया न हो। मुझे तो बड़ा आनंद मिला है। पठन-पाठन वस्तुतः अध्ययन-अध्यापन की जो समस्याएं हैं उनके अनेक पहलू हैं और हमारे विद्वानों ने उन पर प्रकाश डाला है। कोई पहलू कदाचित ही छूटा हो, हालांकि समय बहुत कम था, लोगों ने छू-छू कर छोड़ दिया है—सब विषयों को। लेकिन हर विषय उठाए गए हैं, हर समस्याओं पर बातें की गई हैं। मेरी हालत रामायण के लक्ष्मण की तरह है। आप जानते हैं तुलसीदास जी ने रामायण में यह लिखा है कि जब राम, सीता और लक्ष्मण वन जा रहे थे, तो रामचंद्र जी जिस रास्ते से जाते थे उनके चरण जहां-जहां पड़े उस पर सीता जी कैसे चरण रख सकती थीं। तो उन्होंने भरसक कोशिश की कि बीच-बीच में जहां उनके चरण का चिह्न नहीं था वहां पर पैर रखकर चलें—नहीं तो उनके चरण चिह्नों पर अपना चरण रख देने से बहुत अच्छा नहीं होता, मर्यादा की हानि

होती, सो सीताजी बचा-बचा के चलती रहीं। अब रास्ता तो भर गया एक रामजी चले, पीछे सीताजी बीच-बीच में जो जगह बची उस पर चलीं। बिचारे लक्ष्मण की आफत कि कहां चलें, वे एक बार दाहिना पैर रखते और एक बार बायां पैर रखते—शायद कूद-कूद कर चलते थे। उससे भी कठिन अवस्था हमारी है। इतने श्रद्धेय, पूज्य विद्वानों ने ऐसी-ऐसी सब बातें कहीं हैं उन सबको छोड़कर और उनसे अछूती कौन-सी बात कहूं, मुझे समझ में नहीं आ रहा है। मेरी समस्या लक्ष्मण से भी कठिन है।

अभी, कमला बहन ने बड़ी अच्छी एक बात कही—सूर्योदय हो रहा है। उन्होंने बड़ी आशा का संदेश दिया। मुझे दुगुना सूर्योदय दिखाई दे रहा है। यह जो विश्व हिंदी सम्मेलन है, इसका अभी दूसरा ही वर्ष है। बहुत बालक भी नहीं, शिशु है। अभी तो यह पैदा ही हुआ है, एक-दो साल का बच्चा है। लेकिन इसको देखकर लगता है कि एक महान भविष्य का द्वार उन्मुक्त हो रहा है। ऐसा लग रहा है कि वे देश जो अब तक सताए हुए हैं, दबाए गए हैं, उनकी अंतरात्मा का विकास हुआ है और हमारे ऊपर उन संस्कृतियों का प्रभाव इतना नहीं रहेगा जो इस बात में विश्वास करते हैं कि लोगों को दबाकर, लोगों का शोषण करके उससे अपना फायदा उठाया जाए, बल्कि उनका होगा जिन्होंने यह देखा है कि संसार में जो कुछ दिखाई दे रहा है भगवान का रूप है। इससे भी बड़ी चीज है छोटी-छोटी संपत्तियों से बड़ी चीज महान् भावना, बड़े मनुष्यत्व की कल्पना से मनुष्य बड़ा होता है। जब अदीति के दो बच्चे हुए थे, एक तो अरुण हुए, उनको जल्दी में उन्होंने छोड़ दिया था, लेकिन वरुण बहुत देर बाद पैदा हुए और काफी मजबूत पैदा हुए। पैदा होते ही उन्होंने कहा कि मां बहुत भूख लगी है। तो माता ने जाकर पिता कश्यप से कहा लगता है बड़ा कुलच्छनी बेटा पैदा हो गया। पैदा होते ही कहता है—बड़ी भूख लगी है। महाभारत में ऐसा प्रसंग आया है, कश्यप ने कहा कि अदीति चिंता न करो, बड़ा बेटा पैदा हुआ है क्योंकि इसकी भूख बड़ी है। जिसकी भूख बड़ी होती है वह बेटा बड़ा होता है। हमारा यह जो विश्व हिंदी साहित्य सम्मेलन विराट भूख लेकर निकला है, सारे संसार के किसी भी साहित्य से इसका विरोध नहीं है, सबको ग्रहण करना चाहता है और सबको ग्रहण करने के बाद एक नयी ज्योति से संसार को आलोकित करना चाहता है। यह विश्व हिंदी सम्मेलन अभी छोटा दिखाई दे रहा है लेकिन बहुत बड़े भविष्य की कल्पना हमारे सामने रखता है।

दूसरा, यह जो मॉरिशस देश है उसे क्या सुंदर देश विधाता ने बनाया है। विधाता ने तो शायद ऊबड़-खाबड़ ही बनाया होगा, लेकिन आपने अपने पसीने से, अपने खून से, अपने परिश्रम से, अपनी तपस्या से, इसको ऐसा सुंदर एक उद्यान बना दिया है कि जी नहीं करता कि यहां से जाया जाए। क्या करें, कामकाज के बंधन में हूं। बहुत ही सुंदर देश। कई दिनों से मैं सुनता आ रहा हूं, जो भी उठता है—इसके बारे में वह कहता है कि बड़ा छोटा देश है। आकार में छोटा जरूर है। आकार नहीं देखा जाता। रामचरितमानस आपका

प्रिय ग्रंथ है इसलिए मैं उसी में से एकाध और बात कहना चाहता हूं—जब रामचंद्र जी धनुष तोड़ने के लिए आगे बढ़ने लगे तो सीताजी की माता बहुत व्याकुल हुईं कि अरे कोई आदमी ऐसा नहीं कि—'कोउ न बुझाई कहइ गुर पाहीं, ए बालक असि हठ भल नाहीं।' ये छोटा-सा बच्चा, इसको कह रहे हैं कि धनुष तोड़े, शिव का धनुष, जिसको बड़े-बड़े लोग आकर उठा न सके, हजार-हजार लोगों ने कोशिश की, 'भूप सहस दस एकहि बारा' हजार राजाओं ने मिलकर उठाने की कोशिश की, नहीं उठा और इस बालक को कह रहे हैं कि धनुष उठाएगा, तो कोई राजा से समझाकर कहो, बाबा यह हठ ठीक नहीं है। तो उनकी सखी ने कहा कि नहीं बहन ऐसा मत कहो, 'तेजवंत लघु गनिअ न रानी' जो तेजवंत होता है उसको छोटा न समझना और उसी प्रसंग में उन्होंने कहा कि 'रविमंडल देखत लघु लागा, उदय तासु त्रिभुवन तम भागा।' सूर्य का मंडल कितना छोटा-सा एक थाली जैसा उगता है लेकिन जिस दिन सूर्य का मंडल उदय हो जाता है, उसी क्षण संसार का अंधकार दूर हो जाता है। तो ये दो सूर्य उदय हो रहे हैं। हमारे सामने मॉरिशस का देखने में छोटा लेकिन अपार तेजस्वी रूप है। यह देश हमारे सामने है जो संसार को निश्चित रूप से नया संदेश दे रहा है और यही नया संदेश आगे चलकर कदाचित विश्व संस्कृति का एक आदर्श रूप बनेगा।

यह हिंदी सम्मेलन जो देखने में छोटा लग रहा है अपार भविष्य का संदेश लेकर आया है। कोई नहीं जानता कि कितनी दूर तक यह बढ़ेगा। सारे संसार के मनीषी यहां एकत्र हुए हैं और हिंदी के प्रति अपने प्रेम की चर्चा कर रहे हैं। आपने तो सिर्फ एक सूर्य देखा था, मुझे दो सूर्य दिखाई दे रहे हैं। मॉरिशस देश का सूर्य और विश्व हिंदी सम्मेलन का सूर्य—दोनों ही छोटे दिखाई दे रहे हैं। मॉरिशस भी बहुत कम दिनों में स्वाधीन हुआ है, लेकिन दोनों की अपार संभावनाएं हैं। मनुष्य अपार संभावनाओं से बढ़ता है। आप जानते हैं हमारे देश में आत्मा की बड़ी महिमा है। कई बार सुनते-सुनते समझ में नहीं आता है कि आखिर यह आत्मा है क्या? बहुत बार तो ये भी बताते हैं कि 'अंगुष्ठ मात्रः पुरुषः।' यह तो कहने का ढंग है। असल में मनुष्य के भीतर जो अपार संभावनाएं छिपी पड़ी हैं, उनका द्वार है आत्मा। मनुष्य देखने में इतना छोटा लग रहा है, लेकिन इसके भीतर कितनी अपार शक्ति है वह हम आत्मा शब्द से प्रकट करना चाहते हैं। शब्द से, कहने से ही चीज जरा छोटी हो जाती है, सीमाओं में बंध जाती है क्योंकि उसका एक अर्थ होता है। तो यह जो एक आत्म-तत्त्व है, उसके भीतर का जो तत्त्व देखा जाता है कि वह कितना प्रभावशाली है, वह क्या दूसरों को दबाने के लिए है, क्या दूसरों के ऊपर आधिपत्य जमाने की लालसा से निकला है या शांति का संदेश देने के लिए निकला है। इस समय सारे संसार की यह आशा है कि हमारा देश और आपका देश इस क्षेत्र में नेतृत्व करे क्योंकि यहां से आत्मज्योति का संदेश उठा है। यह संसार के छोटे-छोटे पदार्थों पर जो आसक्ति है उसके विपरीत मनुष्य

की जो गहन और छिपी हुई अनंत संभावनाएं हैं, उसके ऊपर बल देता है और आज का विश्व हिंदी साहित्य सम्मेलन उसी बल का साधन बनने वाली भाषा को आगे बढ़ाना चाहता है। इसलिए मैं इससे बहुत ही आशान्वित हूं। आप लोगों को मैं प्रणाम करता हूं। मैं बहुत ज्यादा आपको नहीं कहूंगा, ऐसी बातें नहीं बताऊंगा जिससे कि आपको, आपके दिमाग को और अधिक परिश्रम करना पड़े लेकिन दो-तीन छोटी-मोटी बातें मैं अवश्य कहना चाहता हूं। एक तो यह कि अध्ययन और अध्यापन असल में पठन और पाठन से अच्छा शब्द होता—अध्ययन और अध्यापन, इसकी समस्या पर हमें विचार करना था। तो यह अध्ययन और अध्यापन साहित्य का भी होगा, और—और विषयों का भी। डॉ. राय ने बताया है, आयुर्वेद की और-और विषयों की भी चर्चा हुई। हर विषय की अलग-अलग समस्याएं हैं। प्रत्येक की शिक्षा की समस्याएं हैं, देश-विदेश के सामने भिन्न-भिन्न भाषाओं के बोलने वालों के सामने भाषा के सिखाने की भी अनेक समस्याएं हैं। व्यावहारिक क्षेत्र में आकर ही उसको समझा जा सकता है।

साहित्य के बिना भाषा भी नहीं चल सकती है। लेकिन बुहत अधिक इधर-उधर न जाकर मैं भाषा के संबंध में थोड़ा-सा आपको बताऊंगा और उसी की उंगली पकड़कर एकाध बात अगर साहित्य के बारे में भी आ गई तो उसे भी आपके सामने रखूंगा। बहुत ज्यादा समय नहीं लूंगा। पहली बात यह है कि मनुष्य जाति मात्र की भाषा दो प्रकार के अनुशासनों में बंधी दिखाई देती है। ऐसा साधारणतः समझा जाता है कि भाषा के दो प्रकार के अनुशासन, मर्यादा या डिसिप्लिन हैं—एक तो शब्द और अर्थ का जो व्याकरणसम्मत प्रयोग है, व्याकरण है उसको वाक्य-विन्यास की पद्धति है, उनके मुहावरे हैं, कहने का ढंग है, इन सब बातों में मुख्य रूप से आप कहें कि व्याकरण और वाक्य-विन्यास का अनुशासन। उनके बिना भाषा नहीं चलती। दूसरा एक अनुशासन उसको और लेना पड़ता है व्याकरण से शुद्ध होने पर भी भाषा गलत हो सकती है। वह ऐसा है कि जैसे अगर आप कहें कि वह 'आदमी आग से खेत सींच रहा है' तो व्याकरण की दृष्टि से कोई गलती इसमें नहीं है वाक्य-विन्यास की दृष्टि से भी कोई गलती नहीं है। कर्ता अपनी जगह पर ठीक है, क्रिया अपनी जगह पर ठीक है, कर्म, करण सब ठीक है आदमी आग से खेत सींच रहा है। लेकिन एक और दूसरा अनुशासन भाषा का होता है, वह अनुशासन है जो तर्क-सम्मत व्यवस्था है, बाह्‌य-जगत को उसके अनुकूल होना चाहिए। नहीं तो व्याकरण सम्मत भाषा तो पागल लोग भी बोलते हैं। लेकिन उनकी भाषा बाह्य-जगत् की तर्क-सम्मत व्यवस्था के अनुकूल नहीं होती। ये दो तो ऊपरी अनुशासन भाषा के लिए हैं। जो कुछ भी आप कहेंगे, भाषा के संबंध में आप सिखाएंगे, यह दूसरे देश के लोगों को सिखाएं, यह दूसरी बोली बोलने वालों को सिखाएं, आपको इन दो अनुशासनों को तो अवश्य माना पड़ेगा। तीसरा अनुशासन भी है, और वह अनुशासन भी बहुत महत्त्वपूर्ण है लेकिन हमने भाषा को पाकर

बहुत कुछ खो भी दिया है। वस्तुतः भाषा हमारे पास बड़ा कमजोर साधन है इस बात को न भूलें। बहुत-सी बात कहने में, भाषा के कहने में हम लोग हाथ, मुंह, नाक, कान के द्वारा अभिनय करके, तरह-तरह का स्वर बदलकर नाना प्रकार की भावभंगिमा के माध्यम से हम अपने भाव को आपके हृदय में प्रवेश करा पाते हैं। अगर इन चीजों को हटा दिया जाए तो भाषा थोड़ी और कठिन हो जाएगी। तो एक तीसरा अनुशासन भी होता है जो कि इस व्याकारण के नियम, अनुशासन और तर्क सम्मतता के अनुशासन—इन दोंनों से थोड़ा ऊपर जाता है।

तीसरा अनुशासन वस्तुतः अध्यापकों के लिए विशेष रूप से माननीय है। पहले तो व्याकरण सम्मत दो अनुशासन, जिनके बिना तो भाषा चल ही नहीं सकती और विशेष करके परिनिष्ठित भाषा, जिसको आप सबके लिए सर्वसामान्य भाषा बनाना चाहते हैं उसके लिए व्याकरण और वाक्य-विन्यास का अनुशासन होना ही चाहिए। तर्कसम्मत जगत की व्यवस्था भी होनी चाहिए। लेकिन एक तीसरा और अनुशासन है जो दिखाई नहीं देता। साहित्य में तो उसके बिना कोई कारोबार चल ही नहीं सकता। यह तीसरा अनुशासन तर्कसम्मत व्यवस्था के प्रतिकूल जाता है, लगता है कि प्रतिकूल जा रहा है। अभी जब मैंने आपसे कहा कि आग से खेत सींचना, यह बाह्य जगत की तर्कसम्मत व्यवस्था के अनुकूल नहीं पड़ती। लेकिन कवि को कैसे रोकेंगे आप। कवि कह सकता है कि वह आग से खेत सींच रहा है और आपको उसका अर्थ निकालना पड़ेगा क्योंकि अगर साधारण आदमी ऐसा कहता तो हम कहते कि पागल है।

'हमही बौरी बिरह बस, कै बौरो सब गांव, कहा जानिए कहत है शशी शीत कर नाम।' क्या मैं ही पागल हो गई हूं या सारा गांव पागल हो गया है, क्या जानकर यह लोग कहते हैं कि चंद्रमा ठंडा होता है। वस्तुतः चंद्रमा ठंडा होता ही है। यह कोई पागल नहीं कह रहा है। लेकिन उसको क्या कहेंगे, क्या उसको पागल कहेंगे! जो व्याकुलता उसके अंदर में है, भीतर की जो वेदना उसके मन में आ रही है इसी से वह कह रही है कि लोग क्या समझकर चंद्रमा को शीतल कहते हैं क्योंकि यह तो जला रहा है। तो वहां सोचना पड़ता है कि एक तीसरा अनुशासन भी है। वस्तुतः हमारे देश के सबसे बड़े महान कवि— इस देश में तो यह कहना मुश्किल है कि सबसे बड़ा कौन था—व्यास थे कि वाल्मीकि थे, कौन थे? लेकिन बहुत बड़े महान् कवि कालिदास थे। जिनकी चर्चा आप लोग सुन चुके होंगे, पढ़ चुके होंगे, बहुतों ने उनका ग्रंथ पढ़ा होगा और जिन लोगों ने न पढ़ा हो उनसे मेरा अनुरोध है कि अवश्य पढ़ें। कालिदास जैसा महान नाटककार, महान कवि ऐसी बात कह जाता है, जो बाह्य जगत की तर्कसम्मत व्यवस्था के प्रतिकूल है। जब दुष्यंत राजा शकुंतला को देखता है कि बहुत सुंदर, कोमल, कमनीय मूर्ति शकुंतला पेड़ों को पानी से सींच रही है। राजा का मन छटपटा उठता है, व्याकुल हो उठता है कि कौन ऐसा पागल

ऋषि है जिसने इस लड़की को, इतनी सुकुमार लड़की को इस काम में लगा दिया है।

'इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधाराया शमीलता छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति।'

इस कमनीय कांति, अव्याजमनोहरे वपु, अव्याज मनोहर यानी उसके सौंदर्य को कहने के लिए कोई बहाना, कोई उपमा, अलंकार वगैरह की जरूरत नहीं, अव्याजमनोहर वपु, स्वयं स्वाभाविक ये जो सौंदर्य है, इस सुकुमार बालिका को जो तपस्या कराने के योग्य बनाना चाहता है, वह ऋषि निश्चय ही कमल की पंखुडियों से शमी के पेड़ को काटना चाहता है। आप समझिए बबूल के पेड़ को काटना चाहता है। कोई भी कड़ा पेड़ और कमल की कोमल पंखुड़ियों से वह चाहता है कि उस पेड़ को काटें। वह वैसा ही प्रयोग है जैसे आग से खेत सींचना। लेकिन कहा है 'ध्रुव' यानी निश्चित रूप से वह ऐसा ही करना चाहता है। लेकिन आपको एक तीसरे अनुशासन की बात सोचनी होती है, वह है जो कि भाषा के इन सब बंधनों से परे है। जबकि कवि के शब्दों में जब छंद की भाषा आती है उसके पास तो सप्तस्वर के सप्त पंख लग जाते हैं और उसमें विशाल विपुल व्योम में उड़ने की शक्ति आ जाती है। वह नयी ताकत है जो कि पद्य की भाषा में नहीं आती, वह छंद की भाषा में, राग की भाषा में आती है, वह कवि का कार्य है, वहां पर उसको समझना पड़ता है, वहां प्रसंग समझना पड़ता है कि आखिर क्या बात है। दुष्यंत कोई ऐसा नासमझ आदमी तो था नहीं, ऐसी बात क्यों कहता है? तब वहां समझ में आता है कि एक और भी व्यवस्था है जो कि साहित्य जगत की व्यवस्था है और उसकी हम उपेक्षा नहीं करते।

सर्वप्रथम शिक्षण के लिए सबसे बड़ी बात यह है कि अध्यापक अच्छा हो। शिक्षक के हृदय में प्रेम हो। इस देश में भी आपने बहुत परिश्रम किया। अधिकांश ऐसे लोग नहीं थे जो किसी प्रकार से प्रशिक्षित शिक्षक कहे जा सकते हों, ट्रेंड टीचर नहीं थे। लेकिन अपार प्रेम और उत्साह था उनके भीतर। जिसके भीतर अपार प्रेम और अपार उत्साह न हो, बच्चों के साथ जिसका हृदय बच्चा न बन जाए, वह अध्यापक क्या सिखाएगा। अध्ययन-अध्यापन की सबसे पहली शर्त है कि हृदय में अपार प्रेम हो। तुलसीदास जी ने इस प्रसंग में बड़ी मजेदार बात कही है। तुलसीदास जी बालक थे और सौभाग्य से नरहरिदास उनके गुरु थे। ऐसा लोग कहते हैं कि नरहरि उनके गुरु का नाम था क्योंकि उन्होंने साफ तो नहीं कहा लेकिन इतना कहा है कि 'कंज, कृपासिंधु पर रूपहरि' नर रूप में हरि उनको कहा। इससे अनुमान किया जाता है कि नरहरिदास उनका नाम रहा होगा।

बड़े महान अध्यापक रहे होंगे तुलसीदास के। आप जानते हैं जिस तुलसीदास को लेकर हम इतना कहते हैं वे बड़े गरीब, बड़े ही दीन-हीन थे, 'बारें ते ललातबिललातद्वार-द्वार

फिरौ' बचपन से ही ललात बिललात द्वार-द्वार चक्कर लगाते थे और यदि कोई उठा के हाथ में चार चने के दाने रख देता था तो समझते थे कि चारों फल मिल गए, चारों पदार्थ मिल गए। ऐसा कि कूकर टूकर लागि, कुत्ते के लिए जो टुकड़ा फेंका जाता है उसके लिए भी ललक, इतनी भूख और दरिद्रता से मारा हुआ वह बालक, भगवान की कृपा थी अच्छे गुरु का उसको स्पर्श मिल गया। उन्होंने इस बात को स्वतः स्वीकार किया है कि बालकपन में समझ में नहीं आया, गुरु ने बहुत समझाने की कोशिश की, समझाया लेकिन लड़कपन था, बुद्धि इतनी नहीं थी, 'समझी नहि तस बालपन तब अति रह्यों अचेत' उस समय बड़ा ही अचेत था। लेकिन गुरु ने हार नहीं मानी। 'तदपि कही गुरु बारहिं बारा' बारंबार उसको कहते रहे 'समझ परि कुछ मति अनुहारा।'

आजकल हम देखते हैं कि विद्यार्थियों पर दया करने की एक पद्धति चली हुई है, कि इसको समझ में नहीं आएगा इसलिए इसको कम दो। कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर ने अपने जीवन पर अपने बाल्यकाल की एक कहानी लिखी है कि उनके पिता ने कोई नौकर उनके लिए रखा था। उनकी देखरेख के लिए तो वह आधा गिलास दूध ले आता था और उसको फेंटता रहता था। फेटते-फेटते फेन से जब पूरा गिलास भर जाता था तो उनके सामने रख देता था। आजकल शिक्षा में कुछ यही विधि अपनाई जा रही है। स्वयं गुरुदेव ने कहा है कि आजकल ये लोग फेट-फेटकर फेन से भर देना चाहते हैं गिलास को और बच्चे को कहते हैं—लो, पियो। क्योंकि तुम ज्यादा नहीं पी सकते। ज्यादा पीने से तुमको अपच हो जाएगा। ऐसी बात नहीं है। धैर्य होना चाहिए उसके भीतर 'तदपि कही गुरु बारहिं बारा, समझि परि कछु मति अनुहारा'—तो पहली शर्त तो यह है कि जो अध्यापक है उसके भीतर अगाध प्रेम होना चाहिए, स्नेह होना चाहिए। नहीं तो गुरुदेव की एक कविता है,

'तोरा पारबिनागो, पारबिना फोटा ते,
जतोई करिश जतोई मरिश, आघात
करिश, फोटा ते, तोरा पारबिनागो'

अरे, तू फूल नहीं खिला सकेगा। बड़ी कोशिश करेगा, बहुत वैज्ञानिक विश्लेषण करने के बाद तुमको पता लगेगा कि इतना ऑक्सीजन चाहिए, इतना हीट होना चाहिए, इतना हाइड्रोजन होना चाहिए। और एक पात्र लगाकर उसके नीचे, एक लैंप जलाकर और अनेक प्रकार के यंत्रों का प्रयोग कर नीचे आक्सीजन दोगे लेकिन कली फूल नहीं बनेगी। कली को फूल बनाने वाला कोई और होता है। 'जे पारे शे आपनी पारे पारे शे फूर्ल फोटाते।' जो खिला सकता है वो खिला सकता है।

हम कोशिश में रहते हैं कि हथौड़ा लेकर कली को चीर-चीर करके उसको विकसित

पुष्प बना दें, लेकिन नहीं होगा। फूल बन भी जाएगा किसी प्रकार आपके हाथों के अत्याचार को सहकर, कली फूल के रूप में अपने को छितरा भी दे, रंग नहीं आएगा, गंध नहीं आएगी। मेरे मित्रो, बड़े धैर्य की आवश्यकता है। अध्ययन और अध्यापन का प्रथम मूलमंत्र है अगाध प्रेम और बच्चे पर अगाध निष्ठा।

इसके बाद देश-विदेश में हमने देखा है अपने देश में और बाहर भी। बाहर देखा है थोड़ा ही देखने का मौका मिला है, कुछ जगह तो है, कुछ स्थानों पर तो है, लेकिन अधिकांश स्थानों पर जो चीज नहीं है वह है शिक्षण के लिए, अध्ययन-अध्यापन के लिए उपयुक्त वातावरण। अपने देश में विश्वविद्यालयों में और विद्यालयों में हम बड़ा परिश्रम करते हैं। यहां आप भी ऐसा ही करते होंगे। पाठ्यक्रम बनाने में कोई गलती नहीं करते। भरसक बाहर के विद्वानों को बुलाकर सलाह लेकर हम पाठ्यग्रंथ बनाते हैं। कोई त्रुटि भरसक नहीं होने देते। पढ़ानेवालों की नियुक्ति करने में भी यथासंभव हम कोई त्रुटि नहीं करते। अच्छे विज्ञापन देकर दुनिया भर के अध्यापकों को बुलाते हैं, केंडिडेट्स आते हैं। उनमें से हम अच्छा पढ़ाने वाला चुनते हैं। हम पढ़ने वालों के चुनने में भी गलती नहीं करते। भरसक हम फर्स्ट क्लास वालों को लेते हैं, उसके बाद फिर द्वितीय श्रेणी या अधम श्रेणी के लोगों को भी लेने की कोशिश करते हैं। लेकिन भरसक हम अच्छे-से-अच्छे विद्यार्थियों को लेते हैं। तो गलती कहां हो रही है। न हम अध्यापक चुनने में गलती करते हैं, बड़ी सावधानी बरतते हैं, न हम अध्याप्य यानी विद्यार्थी चुनने में गलती करते हैं। उसमें भी बड़ी सावधानी बरत रहे हैं, और न हम अध्येतव्य, पाठ्य-ग्रंथ चुनने में गलती करते हैं, बड़ी मेहनत करते हैं। फिर भी शिक्षा का स्तर बढ़ नहीं रहा है।

हमारे देश में विश्वविद्यालयों में प्रथा है कि कोई बड़ा आदमी आता है, कनवोकेशन ऐड्रेस देता है। उपाधि वितरण के समय बड़े-से-बड़े विचारक देश के आते हैं, महान् विद्वान और ज्ञाता। और एक भाषण देते हैं। मैंने देखा है कि सन् 1899 से लेकर 1914 तक के दीक्षांत समारोहों के भाषणों में हर साल एक बात जरूर कही जाती है शिक्षा का स्तर गिर रहा है। गिर रहा है, गिर रहा है, गिरते-गिरते न जाने किस पाताल में पहुंचा है और कोशिश हम कम नहीं कर रहे हैं, हर जगह गलती, किस प्रकार हो रही है। पाठ्यक्रम चुनने में सावधानी बरतते हैं और ऐसे बड़े-बड़े सम्मेलनों में हम यह भी चर्चा करते हैं कि अगर कोई त्रुटि रह गई हो तो उसका परिमार्जन किया जाए। सब कहते हैं लेकिन कहीं कुछ गड़बड़ हो जाती है। ऐसी ही घटना एक बार और घटी थी।

मैं फिर आपका ध्यान कालिदास के शकुंतला नाटक की ओर ले जाना चाहता हूं। दुष्यंत अच्छा प्रेमी था, यह तो आप जानते ही हैं, गलती हो गई थी, उससे अंगूठी खो गई और उसने गलती कर दी, शकुंतला का त्याग कर दिया। लेकिन वह कम्बख्त अंगूठी फिर मिल गई और ऐसे अवसरों पर जैसा होता है प्रेमी का हृदय व्याकुल हो उठा और अंगूठी

को लेकर विलाप करने लगा। पुराने जमाने में भले आदमियों का एक अच्छा काम था, एक तो वे राजकाज सब छोड़ देते थे। प्रेम का ज्वर चढ़ा नहीं कि राजकाज छूटा। दुष्यंत ने भी ऐसा ही किया होगा लेकिन एक काम उनका अच्छा होता था कि ऐसे अवसरों पर वे चित्रकर्म द्वारा मनोविनोद किया करते थे। सब भले आदमियों के घर में चित्रकर्म की सामग्री रहती थी। अच्छी-अच्छी तूलिका, बछड़े के काम के रोएं से बनी हुई तूलिकाएं, और बढ़िया रंगदानी, अनेक रंगों का बना हुआ और बढ़िया कागज वगैरह होता होगा। कागज न भी हो तो कोई और वस्तु तो होती ही होगी जिस पर वे चित्रकर्म करते थे। तो दुष्यंत ने भी सोचा कि अब इस समय तो एकमात्र साधन यह है कि शकुंतला का चित्र बनाया जाए और बनाया। अच्छा चित्रकार था, बढ़िया चित्र उसने बनाया। शकुंतला की सखिया अप्सराएं थीं। वे छिपकर देख रही थीं। उनको दुष्यंत नहीं देख रहे थे लेकिन वे देख रही थीं। वे आपस में बात करके कहती हैं कि वाह क्या सुंदर चित्र बनाया है। ऐसा लगता है, सखी मेरे आगे ही बोल रही है। उनका एक साथी था विदूषक—वही एकांत का साथी था उनका। विदूषक ने कहा मित्र इसे देखकर तो ऐसा लगता है कि अब बोली, अब बोली। इस तरह का चित्र बना दिया तुमने, बहुत सुंदर चित्र बनाया। लेकिन दुष्यंत परेशान था कि नहीं दोस्त, बनी नहीं ठीक। कुछ गड़बड़ लग रहा है, कहीं जैसे हमारी शिक्षा व्यवस्था में हम लोग कहते हैं वैसे ही कहीं कुछ गड़बड़ है। कुछ ठीक नहीं हो रहा है उन्होंने. कहा कि बहुत बढ़िया चित्र बना है, इससे बढ़िया क्या हो सकता है। कहने लगे—नहीं, कुछ गड़बड़ है। फिर थोड़ी देर में उसको याद आया और बोले—नहीं मित्र, ये तो शकुंतला बहुत ही अधूरी रह गई।

कृतं नं कर्णार्पितबन्धन सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्र रचितं स्तनान्तरे।।

वो झुमका तो बनाया ही नहीं, शिरीष के फूल का झुमका जो वह पहने हुए थी, जो गंडस्थल तक लटक रहे थे। कपोलप्रांत तक लटके हुए झुमके तो बनाना ही भूल गया। फिर 'न वा शरच्चंद्रमरीचिकोमलं' शरद काल के चंद्रमा की किरणों के समान कोमल अब आप लोग सोच लीजिए कैसा कोमल होता होगा। लेकिन सुनने में अच्छा लगता है। 'शरच्चंद्रमरीचि' इस कविता का अर्थ समझने में चाहे थोड़ा-बहुत भटकें आज, लेकिन सौंदर्य शब्द ही बता देगा आपको। शरच्चंद्रमरीचिकोमलं, मृणालसूत्र, जो मृणाल की माला को उसने धारण किया था वह तो बना ही नहीं। नहीं-नहीं, मित्र इसमें शकुंतला ठीक नहीं बनी और उसने तूलिका ली, अच्छी तूलिका थी, उसने बढ़िया से शिरीष पुष्पों का झुमका भी बना दिया और मृणालसूत्रों की माला भी बना दी। कहने लगा—अब ठीक हुआ। विदूषक

ने कहा—दोस्त, अब मत छूना। अब बिलकुल ठीक हो गया, अब इससे बढ़कर कुछ नहीं होगा। लेकिन राजा कहता है नहीं दोस्त, फिर कुछ गड़बड़ लग रहा है, नहीं बना। उसने कहा कि अब क्यों नहीं बना? कहा, नहीं नहीं, फिर कहीं गड़बड़ हो गया है। तो बहुत सिर-विर खुजला के उसने कहा—मित्र ये तो आधी शकुंतला भी नहीं है। गड़बड़ यह हो गया है कि शकुंतला आधी भी नहीं बन पाई है। जो शकुंतला अपने वातावरण से विच्छिन्न है वह शकुंतला पूरी शकुंतला कैसे होगी?

'कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी'
'पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावना'

वह हिमालय की जो भूमि है, नीचे वाली तलहटी की भूमि जिसमें विश्रब्ध भाव से हरिण बिना डर बैठे-बैठे जुगाली किया करते थे, उन हरिणों का चित्र तो बना ही नहीं, और वे जो बड़े-बड़े पेड़ थे वहां पर—

'शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः'

उस बड़े पेड़ के नीचे, मैं उस हरिण को बनाना चाहता हूं। आप देखिए अभी तक वह विद्ध चित्र था, जिसको पोरट्रेट पेंटिंग कहते हैं, जिसका आजकल दुनिया में बड़ा मान है। हमारे देश में उसको महत्त्व नहीं देते, विद्ध चित्र या पोरट्रेट पेंट को, यथावत् चित्रण को महत्त्व नहीं देते। उसमें रस होना चाहिए। तो अभी तक शकुंतला का चित्र तो विद्ध चित्र था। ज्यों-का-त्यों था। आर्टिस्ट उसमें नहीं आता है। उसने अपना हृदय गार के उसमें नहीं डाल दिया था। तो कहता है मित्र, मैं पेड़ भी बनाना चाहता हूं और उस पेड़ के नीचे जो वह बारहसिंगा बैठा हुआ था उसे भी बनाना चाहता हूं। आपने देखा होगा, हरिण को आज मारीशस के भाइयों ने सुना है कि हरिण नहीं होता यहां, हमारे देश में यानी आपके देश में भी बहुत बड़ा सींग वाला एक हरिण होता है गायसिंगा (बारहसिंगा) और उनके सिर पर सींग की एक जहाज, जहाज ही समझिए इत्ता बड़ा-बड़ा वह नुकीली निकली हुए बड़े सींग, बड़े-बड़े होती है, तो वैसा ही मैं हरिण बनाना चाहता हूं और उसके सींग पर अपनी बाईं आंख खुजलाती हुई मृगी को बनाना चाहता हूं। मृगी की आंख, संसार में दुर्लभ है। संसार में अगर सबसे सुंदर वस्तु है तो मृगी की आंख है और मृगी अब इतने विश्वास के साथ उसके सींग के कोने पर अपने आंख का कोना खुजला रही है; कितना विश्वास है और वे अपनी समाधिस्थ अवस्था में जरूर बैठे रहे होंगे और उस प्रेम का आस्वादन कर रहे होंगे। राजा के मन में यही तो डर है, यही तो वेदना है, यही व्याकुलता है कि उस मृगी की तरह शकुंतला भी तो मेरे पास विश्वास के साथ आई थी। ये मृग जितना उस आश्रम को समझते

हैं उतना भी तो मैं नहीं समझ सकता। *'तो मित्र मैं शृंगे कृष्णामृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्'* बनाना चाहता हूं। वातावरण जब नहीं होगा जिस हद तक तब तक तो शकुंतला आधी है। उसमें शकुंतला फूल की तरह खिलेगी, जो विशिष्ट वातावरण उसके भीतर है वह खिलेगा।

मित्रो, मैं और ज्यादा कुछ भी नहीं कहना चाहता। शिक्षारूपी शकुंतला अभी अधूरी पड़ी हुई है, उसे भी वातावरण चाहिए। उसे पढ़ाई-लिखाई का वातावरण चाहिए जो पुस्तकालयों से बनता है, जो प्रयोगशालाओं से बनता है, लेकिन जो सबसे अधिक आदमियों से बनता है, सच्चे गुरुओं से बनता है, महान् विद्वानों से बनता है—जिन्होंने समर्पित जीवन जिया है। वे जब आते हैं तो वातावरण बनता है और उसके भीतर शिक्षारूपी शकुंतला खिलती है, फूल की तरह खिलती है। तो मित्रो, ये मूल बातें हैं और तो व्यावहारिक बातें हैं। सूरीनाम में आप कैसे हिंदी सिखलाएंगे, यह आप यहां मंच पर व्याख्यान देकर नहीं, सूरीनाम के लोगों की भाषा जानकर, उनकी प्रकृति जानकर, उनकी अवस्थाएं जानकर, आप उस विषय को तय कर सकते हैं। व्याकरण की हमें बहुत ही जरूरत है। अभी तो मैंने कहा न कि हमारी भूख बहुत है। हमने तो अभी प्रारंभिक काम भी नहीं किया। हम लोग तो इतना भी नहीं जानते। बड़े-बड़े लोग अभी यह अंतर नहीं समझते कि स्नेह किसको कहते हैं? बहुत से छोटे-छोटे लड़के भी सस्नेह लिख देते हैं। स्नेह और प्रेम में अंतर है। बहुत छोटी-छोटी बातों का भी विभेद करने वाले जो समानार्थक शब्द श्वसार है मैं इनकी थेसार को कहता हूं श्वारस, जो शब्द की बहनें हैं इसको थेसारस अंग्रेजी में कहते हैं लेकिन मैं समझता हूं सुंदर शब्द है श्वसारः। तो ऐसी चीजें हमने अभी बनाई कहां? अच्छा व्याकरण हमने नहीं बनाया। हमारे व्याकरण में अनेक प्रकार की त्रुटियां रह गईं। किन कारणों से कौन-सा प्रयोग होता है जो कि हमें अच्छा लगता है। व्याकरण को शुद्ध होना चाहिए और तर्कसम्मत भी होना चाहिए। मेरी एक छात्रा थी। वह मुझसे मिलने आई एम.ए. की परीक्षा देने के बाद। संयोग से मैं नहीं था। तो मेरी पत्नी से मिल-मिलाकर वह चली गई। लौटकर उसने बहुत बढ़िया पत्र लिखा। उसमें उसने एक वाक्य लिखा था कि आपसे तो मुलाकात नहीं हो सकी लेकिन आपकी सुपत्नी से मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। अब हम लोग रोज ही सुपुत्र कहते हैं, सुपुत्री कहते हैं, अब सुपत्नी कहने में क्या दोष है। लेकिन मैंने देखा कि घर-भर के बच्चे सुपत्नी शब्द पर हंस रहे थे। तो कुछ कारण है कोई एक हमारी मान्येता है, सांस्कृतिक मान्यता है, जिसके कारण हम सुपति या सुपत्नी नहीं कहते। कुपुत्र और सुपुत्र तो कहते हैं लेकिन कुपति और सुपति नहीं बोलते। ये शब्द भाषा में हैं ही नहीं। पति, पति है। कुपति का क्या अर्थ है। लेकिन नालायक पति-पत्नी है, उसमें कुपत्नी या सुपत्नी होने का सवाल ही कहां उठता है। लेकिन अगर तर्कसम्मत दृष्टि से देखें तो बिलकुल ठीक था। अगर सुपुत्र और सुपुत्री कहा जा सकता है तो सुपत्नी कहने में या सुपति कहने में

क्या नुकसान है? लेकिन देख रहे हैं सब लोग हंस रहे हैं। हंसने की क्या बात है भाई। भाषा तर्कसम्मत केवल नहीं होती व्यवहार की अपेक्षा रखती है। लोग कहां, क्यों बोलते हैं, विशेष प्रकार की भाषा बोलनेवालों का विशेष प्रकार का संस्कार होता है। वह उस भाषा पर चढ़ा रहता है। बहुत-सी बातें हैं, जो वैसे तो तर्कसम्मत नहीं हैं लेकिन हमारे प्रयोग में चली आ रही हैं। उनको हम पढ़ते हैं, पढ़ाते हैं और भाषा में वे आ ही जाते हैं। तो हमें एक परिनिष्ठित नयी भाषा सीखनी ही होगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि भिन्न-भिन्न रूप होंगे। सब जगह का स्तर भी एक नहीं होगा।

एक परिनिष्ठित भाषा हमारे सामने अवश्य होनी चाहिए, जिसको पाने का हम प्रयास करें, जैसे अंग्रेजी में जिसको किंग्ज इंग्लिश या क्वींस इंग्लिश कहते हैं। एक शुद्ध, परिनिष्ठित भाषा का एक आदर्श हमारे सामने रहना चाहिए। प्रयत्न करना अपना काम है हर प्रदेश के लोगों को, हर देश के लोगों को, उस शुद्ध भाषा को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। बाकी जो थोड़ा-बहुत कमियां रहेंगी, हिंदी भाषा बहुत उदार है, बहुत कमियां, बहुत गलतियां बर्दाश्त करने की शक्ति उसमें है। हम उसकी परवाह नहीं करते। गलतियां भी होंगी। लिंग की गलतियां होती हैं, विभक्तियों की गड़बड़ियां होंगी, हो सकती हैं। उसकी हम परवाह नहीं करते। लेकिन हर विद्यार्थी का प्रयत्न यह अवश्य होना चाहिए कि एक परिनिष्ठित शुद्ध भाषा है, जो हमारा ध्रुव-तारा है, उसके निकट हमें जाना चाहिए। भिन्न-भिन्न देशों, भिन्न-भिन्न प्रांतों, भिन्न-भिन्न भाषा बोलनेवालों को हिंदी सिखाते समय शिक्षक इनका ध्यान रखें और तदनुसार व्यावहारिक निर्णय करें। भाषा-ज्ञान के लिए द्विभाषी कोश बहुत आवश्यक है। शब्द-भंडार बहुत आवश्यक है। इसी तरह से भाषा संबंधी मुहावरों का कोश बहुत आवश्यक है। इन सब चीजों की रचना होती रहनी चाहिए। अच्छी-से-अच्छी रचना होनी चाहिए। भिन्न-भिन्न प्रकार के कोशों का हमें निर्माण करना पड़ेगा। मुझे कोई संदेह नहीं है कि विश्व हिंदी सम्मेलन आगे चलकर इन महान कार्यों को भी अपने हाथ में लेगा और हिंदी निरंतर शुद्ध रूप में परिष्कृत रूप और परिनिष्ठित रूप में सारे संसार में प्रतिष्ठित होगी। □

"हमारा विश्वास है कि भारतीय भाषाओं की रक्षा से हमारे देश की संस्कृति की रक्षा होती है और इन संस्कृतियों के मेल से हम मॉरिशस में नई संस्कृति का निर्माण करेंगे, जिसमें सबका योगदान होगा। मेरा विश्वास है कि हिंदी प्यार और एकता की भाषा है। यह हमेशा से जनता की भाषा रही है। भारत और मॉरिशस दोनों को स्वतंत्र करने में हिंदी का हक रहा है।"

डॉ. शिवसागर रामगुलाम

द्वितीय विश्व हिंदी सम्मेलन के उद्‌घाटन भाषण से

दोऊ आंखिन की पुतरी भई हिंदी

सतीश आर्य

मैथिली में; ब्रज में बिहंसी, कबौं,
अवधीबनी अधरानि पे आई।
नीकी बुंदेली में लागी कबौं,
बनि भोजपुरी रसना सरसाई।
'मोको लिख्यो कहा' कहिकै,
रतनाकर की कविता बनि धाई।
घूंघुरू बांधि कै नाचि कबौं,
कबौं नीर भरी बदरी बनि छाई।

□

मतिराम के नेह में लीन रही,
उन्हें प्रानन ते अतिप्यारी भई।
पदमाकर की कविता बनिकै,
कबौं नारी भई कबौं सारी भई।
कवि ईसुरी की मधुबैन बनी,
तुलसी के हिय की दुलारी भई।
रसलीन की आंखि में चढ़िकै,
सित, स्याम भई, रतनारी भई।

□

देव, बिहारी, घनानंद की,
दोऊ आंखिन की पुतरी भई हिंदी।

सूर की सांसन में पिहंकी,
तड़पी, जल की मछरी भई हिंदी।
आलम के अनुराग में बूढ़िकै,
यों चमकी बिजुरी भई हिंदी।
गद्य में खंजन नैन बनी,
कबौं होठन पे मिसरी भई हिंदी।

□

छंदन-दोहन में बंधिकै,
रसखान-रहीम की न्यारी भई।
भूपति, वृंद, नेवाज के नेह में,
ऐसी पगी मतवारी भई।
और प्रसाद के आंसू में बूड़िकै,
भारत की महतारी भई।
गांव के गीतन में रमिकै,
कबौं लोरी भई, कबौं गारी भई।

□

मंझन, शेखनवी, उसमान के,
नैन की लाड़ी ह्वै गई हिंदी।
नूरमुहम्मद, कासिमशाह के,
अंतर-छोर को छ्वै गई हिंदी।
जायसी और कुतूबन के कर,
आखर-आखर धै गई हिंदी।
खान सुजान की जान भई,
खुसरो की जुबान ते च्वै गई हिंदी।

□

रेणुका की छवि में छिटकी,
रसवंती में मानो भिगोई हुई है।
अज्ञेय की नूतन व्यंजना में,
मधु शब्द की शैया पे सोई हुई है।
नागा, गजानन, नागर के,
मृदु प्राणों में जैसे पिराई हुई है।
धूमिल के हर आखर में,
लगती मनो दूध की धोई हुई है।

□

भारतीय साहित्य चिंता और आधुनिक बोध

प्रो. विजयेंद्र स्नातक

हिंदी के साहित्यकारों ने आधुनिक युग में जो कुछ लिखा, उसके मूल में वही प्रतिमान सुरक्षित है जो कालजयी कवियों की रचनाओं में प्रमुख रूप से जीवित है। कुछ आधुनिक साहित्यकार अपने चिंतन को वैचारिक धरातल पर मौलिक सिद्ध करने के लिए आधुनिकता पर ज़ोर देकर मानवीय संवेदनाओं की वैज्ञानिक परख करने का आग्रह करते हैं किंतु वे भूल जाते हैं कि प्रगतिशीलता का अर्थ साहित्य के मूल में सन्निविष्ट मानव को भूल जाना नहीं है। साहित्य सृजन के मूल में एक विशिष्ट दायित्व होता है। उसे केंद्र में रखकर ही रचना की नींव रखी जाती है। भारतीय चिंतन में यह मानव और मानवीय संवेदन ही हैं। प्रसिद्ध आलोचक तथा चिंतक डॉ. विजयेंद्र स्नातक का प्रस्तुत आलेख इसी चिंतन को प्रस्तुत करता है।

स्वतंत्र विचार और सृजनशक्ति संपन्न कोई भी कलाकार यह स्वीकार नहीं करता कि साहित्य सृजन निरुद्देश्य या निरर्थक सृष्टि है। स्वतंत्रचेता कलाकार के लिए सृजन एक खिलवाड़ न होकर गंभीर दायित्व-समन्वित प्रक्रिया है। गंभीर दायित्व को स्वीकार कर, रचना में प्रवृत्त होने पर उसे एक सुस्थिर प्रतिमान का निर्वाह करना आवश्यक है। एक विशिष्ट मर्यादा ही उसे सृष्टि पथ पर आरूढ़ रखती है। यह मर्यादा किसी बाह्य प्रभाव से निर्धारित नहीं होती—उसका नियंता स्वयं कलाकार होता है। स्वयं मानव होने तथा सभी स्तरों पर मानव से संपृक्त होने के कारण मानवीय मूल्यों अथवा सामाजिक दायित्वों का संप्रेषण ही साहित्य का दायित्व है। साहित्य में सामाजिक दायित्वों की अनिवार्यता आज स्वीकार नहीं की जाती, किंतु मानव के प्रति मूल आस्था-भावना भी आज के साहित्य में नहीं है, ऐसा

सर्वतोभावेन मैं नहीं मानता। जो साहित्यकार अपनी मानववादी आस्था में अडिग है वह अपने साहित्य में मानव की प्रतिष्ठा और मर्यादा को अनाहत और अक्षुण्ण रखकर ही संतुष्ट हो सकता है।

साहित्य के प्रतिमान मूल भारतीय प्रतिमानों से भिन्न या उनके विरोधी नहीं हो सकते। जिन विषयों का वर्णन साहित्यकार अपनी रचनाओं में करता है उनकी व्यापकता और विविधता का एक सिरा अवश्य कहीं-न-कहीं मानव के साथ बंधा हुआ होता है। भाव और मनोविकार, जिसके अंतर्गत नवरस आदि का व्यापक प्रपंच समाया हुआ है, मानव से इतर कुछ भी नहीं है। प्रकृति के भव्य और आकर्षक दृश्य, स्वतंत्र होते हुए भी मानव-मन में परितोष के लिए ही साहित्य में गृहीत होते हैं। प्रकृति चाहे आलंबन हो या उद्दीपन, दोनों रूपों में वह मानव के निमित्त ही है। राजनीति, अर्थनीति और समाजनीति के विविध विषय प्रत्यक्ष रूप से मानव की जीवन यात्रा के सोपान-मात्र हैं जिनमें होकर वह अपनी गति को अनवरत जारी रखता है। मानव-जीवन और मानव के कार्यों की इयत्ता नहीं है। मानव के विकास की संभावनाएं असीम हैं। एक काल और एक देश में मानव अपनी पूर्णता की चरम सीमा पर नहीं पहुंच जाता। सतत प्रयत्न करते रहने पर वह विकास की संभावाओं को चरितार्थ कर पाता है, यही उसके विकास की कथा है। आज का साहित्यकार अपनी रचना में जिन मान्यताओं या नूतन मूल्यों को प्रतिमान के रूप में स्वीकार कर रहा है, वह मानव की विकासोन्मुखी संभावनाओं की झांकी मात्र है। हम उसे साहित्यकार की व्यक्तिगत विचारधारा मात्र नहीं मान सकते। साहित्यकार का मौलिक विवेक निरंतर नए प्रतिमानों को विकसित करता हुआ इतिहास को मनोवांछित दिशा में मोड़ता आया है। आज भी वह अपने सृजन द्वारा उसे एक नवीन दिशा की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दे रहा है।

किसी परंपरानुमोदित मार्ग का अंधानुकरण साहित्यकार को नहीं करना चाहिए। भाव और विचार के क्षेत्र में ही नहीं, शैली-शिल्प के लिए भी उसे रूढ़ परंपरा का अंध-समर्थक नहीं होना है। नवीन मूल्यों के ग्रहण करने पर यह लग सकता है कि वह वैयक्तिक दृष्टि में सिमटकर रह गया है, किंतु तथ्य इसके ठीक विपरीत है—आधुनिक युग के साहित्यकार की दृष्टि में इतना व्यापक प्रसार है कि वह मानव की असीम संभावनाओं में विश्वास करने के कारण उसके अपरोक्ष रूप से ही तुष्ट नहीं रह गया है। वह चाहता है कि जो कुछ मानव का परोक्ष है वह भी उद्घाटित हो और साहित्य का विषय बने। आधुनिक युग में वैज्ञानिक आविष्कारों की प्रगति ने इतनी क्षिप्रता से कदम बढ़ाए हैं कि आंतरिक आत्मिक उन्मेष और सामाजिक विकास अपेक्षया पिछड़ गया है, फलतः साहित्यकार को अपनी रचना में संपूर्ण मानव-प्रगति को चित्रित करना कठिन प्रतीत होने लगा है।

आज के साहित्यकार को जिन मानव-समाज में रहना पड़ रहा है वह पुरातन काल या मध्ययुगीन समाज से नितांत भिन्न है। सूर और तुलसी के साहित्यिक प्रतिमान ईश्वरीय

रूप में मानव के प्रतिष्ठापक कहे जा सकते हैं। कबीर और नानक की वाणी में मानवात्मा के उन्नयन की ही पुकार है किंतु जिस सामाजिक परिवेश में उन्होंने मानव को चेतावनी देने का उपक्रम किया था वैसा परवर्ती अन्य कवियों—सूर, तुलसी, मीरा, रसखान आदि ने नहीं किया।

मानसिक विकास और ज्ञानवृद्धि के साथ मानव परिस्थितियों के साथ नए और अधिक संगत-संबंध स्थापित करता आया है। सृष्टि के आदिकाल से आज तक उसकी चैतन्य विकास की परंपरा अक्षुण्ण रही है। जो विश्वास पुरातन काल में निष्ठा से उद्भूत होकर समाज में गहरे समाए हुए थे वही आधुनिक युग में उन्मीलित होकर अंधविश्वास कहे जाने लगे हैं। सजग साहित्यकार इस परिवर्तित स्थिति से अवगत है और त्यक्त विश्वासों का आश्रय लेकर रचना नहीं करना चाहता।

मानव की सबसे बड़ी विशेषता उसकी स्वातंत्र्य-भावना है। स्वतंत्रता की ओर उन्मुख रहना उसके लिए सहज और स्वाभाविक जीवन-प्रक्रिया का अंग बन गया है। जिजीविषा के बाद, मैं स्वतंत्रता को ही मानव की प्रियतम स्पृहा समझता हूं। आज का साहित्यकार स्वातंत्र्य-भावना को अपनी कृति में अनेक रूपों में अंकित करता है। वह न तो किसी राजसभा का समर्थक है और न किसी धर्मसत्ता का। उन्मुक्त चिंतन-सरणि के कारण यह भ्रांति उसके विषय में हो सकती है कि कहीं वह मानव को विस्मृत ही तो नहीं कर बैठा है, किंतु यह भ्रांति ही है, सत्य नहीं। जब साहित्यकार स्वाधीन चिंतन और स्वाधीन लेखन पर निर्भर करेगा तब लक्ष्य भ्रष्ट नहीं होगा। किसी संस्था, संप्रदाय, सत्ता या व्यक्ति के आश्रित होकर लिखने वाले लेखक या कवि की सीमाएं होती हैं। उसके चिंतन पर सत्ता या स्वामी का अंकुश रहता है। जैसा कि किसी अंश में राजदरबार के कवियों पर हम देख सकते हैं। आज का साहित्यकार और किसी रूप में आश्रित भले ही हो किंतु दरबार का आश्रित वह हर्गिज नहीं है। जो सरकारी संस्थाओं में रहकर साहित्य-सृजन कर रहे हैं, वे भी दरबारी भावना से अछूते हैं और स्वतंत्र चिंतन का क्षरण नहीं होने देते।

मेरी अपनी सम्मति में सच्चा साहित्यकार वह है जो अपनी अभिव्यक्ति और अपनी गरज़ को समाज की, श्रोता या पाठक की गरज़ बनाने में सफल होता है। यह ठीक है कि लोकरुचि की दासता करना या उसका अंधानुकरण करना साहित्यकार को शोभा नहीं देता, किंतु अपनी समर्थ वाणी से वह लोक को अपनी ओर आकृष्ट करता है, लोक का समर्थन प्राप्त करता है। *लोकरुचि का समर्थन करना या पाना ही समाज निर्माण के दायित्व का निर्वाह करना है।* इस कसौटी पर आप वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, सूर, तुलसी, प्रसाद, प्रेमचंद, भारतेंदु और मैथिलीशरण गुप्त को पूर्ण रूप से खरा पाएंगे। इनकी रचनाओं में लोक-संग्रह का पूरी तरह निर्वाह हुआ है। ये कवि और लेखक अप्रतिबद्ध विशुद्ध आनंदोद्गार के चक्कर में नहीं पड़े। इन्होंने समाज-निर्माण का दायित्व सामने रखकर सृजन

किया था, तभी इनकी कृतियां कालजयी हो सकी हैं।

जो कवि या लेखक व्यक्तिगत सीमाओं में रहकर साहित्य-सृजन करते हैं, उनकी उपलब्धि पर नुक्ताचीनी करने का अधिकार प्रत्येक सजग पाठक को प्राप्त है। तुलसीदास रामचरितमानस लिखते समय अपनी वैयक्तिक सीमाओं और आवेष्टनों में फंसे हुए नहीं थे, वरन् उनके भीतर-बाहर एक विराट जीवन हिलोरें ले रहा था। उसे हम समाज के निर्माण की प्रेरक भावना मानते हैं। तुलसीदास के समक्ष विविध सामाजिक मूल्यों और नैतिक मानों के संगठन का प्रश्न था, उनकी दृष्टि समन्वय के उस बिंदु पर केंद्रित थी जो विघटित और विशृंखलित को समन्वित करने के लिए व्यग्र था। फलतः उन्होंने साहित्य के माध्यम से जो कुछ व्यक्त किया वह समाज द्वारा स्वीकृत हुआ और लोक कल्याण की दृष्टि से वह देश काल की सीमा का अतिक्रमण कर शाश्वत रूप से ग्रहण किया गया।

कलाकार को सप्रयास सामाजिक दायित्व निर्वाह करने को विवश होना पड़े, यह भी सुख स्थिति नहीं है, किंतु सप्रयास यदि वह अहंवादी या व्यक्तिवादी बने तो निश्चित ही यह साहित्य-क्षेत्र की दुःखद घटना मानी जाएगी। मैं इस प्रकार की आरोपित व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के पक्ष में नहीं हूं और मैं उन सब युक्तियों को इसलिए ज्यों की त्यों स्वीकार नहीं करता जो अहंवाद या व्यक्तिवाद के समर्थन में प्रस्तुत की जाती हैं। मैं साहित्य के सामाजिक दायित्व और मानव के प्रति मूल आस्था भाव में आज भी पूर्ण विश्वास रखता हूं। अतः व्यक्तित्व की गहरी छाप और विशिष्ट संवेदना को स्वीकार करते हुए भी एकान्तिक आरोपित व्यक्तिवाद की पुष्टि करने को तत्पर नहीं हूं।

क्या साहित्य का प्रयोजन सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं का समाधान मात्र है? क्या साहित्य किसी मतवाद का प्रचारक होता है? क्या विशुद्ध साहित्य को समाज और राजनीति से सर्वथा असंपृक्त रखना चाहिए? इन प्रश्नों के संदर्भ में ही हम साहित्य का विचार कर सकते हैं। साहित्यकार एक सामाजिक प्राणी है, विशिष्ट प्रतिभा और संवेदनशीलता से युक्त होने पर भी वह सामाजिक चेतना को सर्वथा विस्मृत कर जीवित नहीं रहता। सामाजिक चेतना से संपृक्त रहते हुए जब वह साहित्य सृजन में लीन होगा तब केवल कल्पनालोक में ही विचरण नहीं करेगा, उस लोक की बात भी वह करता है और करेगा जिसमें वह सांस ले रहा है। किंतु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि साहित्यकार को राजनीतिक नेता अथवा अर्थशास्त्रियों की भांति समस्याओं को स्थूल रूप से उद्घाटित करने में अपनी शक्ति लगानी चाहिए। इन समस्याओं पर प्रकाश डालने या इनका समाधान खोजने की उसकी शैली राजनीतिक नेता से सर्वथा भिन्न है। रोटी, कपड़ा और मकान का अभाव आर्थिक समस्या का पहलू है। इस अभाव को दूर करने का प्रयत्न नारों और भाषणों से राजनीतिक नेता करते हैं। कवि या लेखक इन अभावों को अपनी प्रतिभा से पात्र सृष्टि में समेटकर चित्रित मात्र कर देते हैं। उस चित्रण का प्रभाव पाठक या श्रोता पर नेता के

नारों से अधिक गहरा, व्यापक और स्थायी होता है। अतः राजनीति की उपेक्षा न कर प्रकारांतर से साहित्यकार उसे स्वीकार तो करता है, किंतु माध्यम की भिन्नता, शैली की भिन्नता और उद्देश्य की भिन्नता से दोनों में पार्थक्य बना रहता है।

संसार के किसी देश के साहित्यकार ने सम-सामयिक समस्याओं और घटनाओं की सर्वथा अवहेलना नहीं की। संसार के प्रसिद्ध महाकाव्यों या नाटकों की कथावस्तु पर यदि विचार करें तो देखेंगे कि जिन मुख्य घटनाओं से उनका संबंध है वे घटनाएं तत्कालीन राजनीति और समाजनीति से परिपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ रामायण और महाभारत को ही लीजिए। रामायण की कथा एक निर्वासित राजकुमार की कथा है, जिसमें अयोध्या, किष्किंधा, लंका आदि में घटित बातें अनुस्यूत हैं। राम और रावण का युद्ध एक महान राजनीतिक घटना है। इस राजनैतिक घटना के परिप्रेक्ष्य में यदि रामायण की कथा का अनुशीलन किया जाए, तो रामायण को हम राजनीति से रचित असामाजिक काव्य नहीं मानेंगे। इसी प्रकार महाभारत की समस्त प्रधान कथावस्तु में कौरव-पांडवों की राजनीति आद्यन्त फैली हुई है। उस राजनीति को पृथक कर देने के बाद महाभारत का मेरुदण्ड ही टूट जाता है। फलतः हम देखते हैं कि वाल्मीकि और व्यास ने अपने महाकाव्यों में राजनीति और समाजनीति की तनिक भी उपेक्षा नहीं की है। कालिदास और शेक्सपीयर जैसे विशुद्ध रसवादी साहित्यकारों पर भी अपने युग के सामाजिक जीवन की छाप पूरी तरह लक्षित होती है। इसी प्रकार ग्रीक और लैटिन के साहित्य में भी राजनीति का प्रभाव देखा जा सकता है। यूनान के श्रेष्ठ नाटककार यूरीपिडिस और आरिस्टाफैंस भी अपनी रचनाओं में राजनीति को सर्वथा दूर नहीं रख सके हैं। मिल्टन ने स्वाधीनता का जयगान करते समय तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों को अत्यधिक प्रभावित किया था। बर्क और बायरन की प्रसिद्धि का कारण तो उनकी राजनीति-प्रधान कविताएं ही हैं। आधुनिक लेखकों में एच.जी. वेल्स तथा बनार्ड शा ने सोद्देश्य साहित्य रचना का प्रतिपादन किया और राजनीति को लक्ष्य बनाकर उपन्यास और नाटकों की रचना की।

हिंदी के साहित्कारों में मुंशी प्रेमचंद को हम उच्च कोटि का समर्थ कलाकार मानते हैं। उनकी रचनाओं में भी प्रायः सर्वत्र तत्कालीन भारतीय समाज तथा राजनीति का वर्णन ही मुख्य रूप से पाया जाता है। जिन समस्याओं को प्रेमचंद ने चित्रित किया, उनका सीधा संबंध सामाजिक वैषम्य तथा भारत की पराधीनता से है। किसी भी उपन्यास को पढ़ो तो आप देखेंगे कि प्रेमचंद के सामने सम-सामयिक भारतीय समाज की विविध समस्याएं हैं। मैथिलीशरण गुप्त, माखन लाल चतुर्वेदी, दिनकर आदि राष्ट्रीय कवियों के सामने भी राजनीति और अर्थनीति के प्रश्न रहे हैं। दिनकर ने 'परशुराम की प्रतीक्षा' में चीनी आक्रमण की पृष्ठभूमि में जिस विचारधारा को प्रस्तुत किया है, वह राजनीति पर ही आधृत है। 'कुरुक्षेत्र' में भी जिस मूल समस्या को उठाया गया है उसका प्रत्यक्ष संबंध हिंसा-अहिंसा की मीमांसा से तथा परोक्ष संबंध गांधीवादी अहिंसा से है। ये सभी प्रश्न राजनीति के ही अंग हैं। हम

इन्हें दर्शन क्षेत्र में रखकर राजनीति से दूर नहीं कर सकते।

साहित्य और प्रचार

अंग्रेजी में एक उक्ति है कि 'संसार का महान साहित्य और श्रेष्ठ कला एक प्रचार (प्रोपैगंडा) है।' इस उक्ति का अभिधेयार्थ मैं ग्रहण नहीं करना चाहता, क्योंकि मैं समस्त श्रेष्ठ कलाकृतियों को मात्र प्रोपैगेंडा सिद्ध करने के पक्ष में नहीं हूं। किंतु इससे जो व्यंग्यार्थ निकलता है वह यह है कि श्रेष्ठ कलाकृति में किसी एक विचारधारा का समर्थन रहता है। इस सर्मथन को प्रोपैगंडा द्वारा अभिहित करते हुए इस उक्ति का प्रयोग हुआ है। कलाकार का काम अपनी कृति के माध्यम से किसी एक भाव-विचार, सिद्धांत या मत को व्यक्त करना होता है, अतः जिस विचार या मत को पुष्ट करने में वह शक्ति लगाता है, वह प्रोपैगंडा के समान ही होती है। सामाजिक वैषम्य, असामंजस्य, उच्छृंखलता, अनुशासनहीनता, अनीति और अन्याय के प्रति विद्रोह करना भी सामाजिक समस्या पर प्रकाश डालना है। वस्तुतः साहित्य इन ज्वलंत प्रश्नों को स्वीकार करने के कारण ही हमारे जीवन का अंश बनता है और तभी जीवन की यथार्थ एवं मनोरम झांकी हमें देखने को मिलती है।

स्मरण रखना चाहिए कि राजनीति और समाजनीति भी हमारे जीवन के बड़े उपयोगी पहलू हैं। राजनीति के साथ समाज के प्रत्येक सुसंस्कृत व्यक्ति का व्यावहारिक संबंध है। राजनीति से बिल्कुल असंपृक्त रहने की कल्पना शायद कोई साधु-सन्यासी या विरक्त ही कर सकता है। जो समाज में जीता है उसका समाज के साथ पारस्पर्य और प्रभावित होना स्वाभाविक एवं अनिवार्य है। हमारे सामने जर्मनी का उदाहरण है, जहां फासिस्ट शासनकाल में बुद्धिजीवियों की मान्यता थी कि कला, साहित्य, संगीत, दर्शन, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र आदि अच्छी चीजें सांस्कृतिक अभ्युत्थान में सहायक हैं, इनका राजनीति से कोई संबंध नहीं होना चाहिए। अतः जो विशुद्ध रूप से सांस्कृतिक धरातल पर जीवन-यापन करना चाहता है, उसे राजनीति से बचकर चलना चाहिए। इस प्रकार की विचारधारा का परिणाम यह हुआ कि उनके द्वारा जो साहित्य रचा गया वह एकांतिक होने के साथ सामान्य जन से पृथक जा पड़ा। इस बिलगाव ने जर्मनी में दो प्रकार की विचारधाराओं को जन्म दिया और नात्सी जर्मनी में इस प्रकार के सांस्कृतिक साहित्यकारों के लिए कोई स्थान नहीं रहा। देश से निर्वासित होकर उन्हें यह अनुभूति हुई कि हमारी विचारधारा एकांगी और अपूर्ण थी। यदि उस समय जर्मनी के लेखक राजनीति को स्वीकार कर जनमानस को क्रांति के लिए तैयार कर पाते तो आज जर्मन जाति का रूप कुछ और ही होता। वस्तुतः बुद्धिजीवी साहित्यकार को समसामयिक राजनीति से इतनी बड़ी दूरी नहीं रखनी चाहिए कि वह युग को ही भूल जाए। यदि राजनीतिक स्वतंत्रता का ही अपहरण कर लिया जाए, तो बुद्धिजीवी कलाकार

अपनी चेतना से न तो आत्मोद्धार कर सकता है और न उसके साहित्य से समाज का ही अभ्युत्थान संभव है।

किंतु उपर्युक्त कथन से यह मंतव्य ग्रहण न किया जाए कि साहित्य राजनीति को चरितार्थ करने में ही सफल होता है। कुछ राजनीतिक नेता ऐसा स्वीकार करते हैं कि 'आर्ट शुड सर्व द पोलिटिक्स' (कला को राजनीति का अनुगमन करना ही चाहिए)। इसे स्वीकार करने पर साहित्य अपनी विशिष्ट मर्यादा खो देता है। वस्तुतः तब साहित्य साहित्य न रहकर प्रचारोद्दिष्ट सामायिक रचना मात्र हो जाता है। मैं इस प्रकार के साहित्य का समर्थक नहीं हूं। सार्वजनिक निर्वाचन के दिनों में जो कागज रंगा जाता है, पुस्तक और पैम्फलेट के नाम से छपता है वह र.हित्य नहीं होता। किंतु देश पर आक्रमण के समय जो साहित्य प्रकाशित होता है, वह सर्वथा साहित्येतर सृजन नहीं है। उसमें बलिदान, शौर्य और उत्सर्ग की भावना होती है।

साहित्य अपनी मर्यादा के भीतर रहकर ही किसी विशिष्ट उद्देश्य का प्रचारात्मक साधन बनता है। जो श्रेष्ठ साहित्य की मर्यादा से परिचित हैं वे सामाजिक एवं राजनीतिक तत्वों का समावेश साहित्य में करते हैं, उनसे अपनी रचना को व्यापक धरातल देते हैं। विविध समस्याओं के उद्घाटन से साहित्य की लोकप्रियता बढ़ती है, अतः हम यह आवश्यक समझते हैं कि श्रेष्ठ साहित्यकार अपनी रचनाओं में समसामयिक समस्याओं पर प्रकाश डाले बिना नहीं रह सकते। पुरानी उक्ति है कि साहित्य समाज का दर्पण है। यदि साहित्य रूपी दर्पण में समाज को प्रतिबिंबित होना है, तो उसका चित्रण अनिवार्य होगा। छायावादी कवियों ने प्रारंभिक रचनाओं में प्रकृति और प्रेम को अपनाकर जीवन की व्यावहारिक समस्याओं से दूर रहने की चेष्टा की थी। किंतु कुछ काल में ही उन्हें लगा कि यह पलायन जीवन की व्यावहारिकता और सार्थकता में सहायक नहीं हो सकता, फलतः पंत और निराला ने प्रगतिवादी शैली में जीवन की ज्वलंत समस्याओं के साथ स्थूल दैनन्दिन कष्ट कथाओं को भी काव्य में स्थान देना आवश्यक समझा, उन्हें लगा कि साहित्य का बीच ऊसर में—जगत और जीवन से तटस्थ होकर पनपता नहीं। उसके अंकुरित और पल्लवित होने के लिए समाज की उर्वर भूमि ही अपेक्षित है। अतः मैं साहित्य को समाज निरपेक्ष मानने के पक्ष में नहीं हूं। साहित्य में राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति आदि सभी आवश्यक तत्वों का सम्मिश्रण रहता है और रहना चाहिए।

साहित्य और परंपरा

मानव-जीवन जटिल और दुर्बोध है। एक ही युग में उसको संपूर्ण रूप से कोई कलाकार आत्मसात नहीं कर पाता। फलतः वाल्मीकि और व्यास, होमर और वर्जिल,

कालिदास और भवभूति, मिल्टन और शेक्सपीयर के क्लासिक्स आज के लेखक को मानव-जीवन की व्यापक चेतना से जोड़ने में सहायक होते हैं। सूर सौर तुलसी ने अपनी काव्य-रचना से पूर्व उस धरोहर को समग्र रूप में आत्मसात कर लिया था जो व्यास और वाल्मीकि के महाग्रंथों के माध्यम से उन्हें सुलभ हुई थी। क्लासिक्स किसी एक युगविशेष की चेतना तक ही सीमित नहीं होते और न उनका अर्थ किसी एक देश-विशेष में समाया होता है। यदि वे श्रेष्ठ कला के निदर्शन हैं तो उनमें अर्थवत्ता के अनेक धरातल उपस्थित होंगे और वे देश, काल तथा जाति की सीमा का अतिक्रमण कर अपना व्यापक संदेश देने में समर्थ होंगे।

जिस श्रेष्ठ ग्रंथ को क्लासिक बनने का गौरव मिलता है वह सामान्य से भिन्न तथा बौद्धिक तत्व से पूर्ण कृति होती है। उसमें व्यष्टि-मानस का उद्गार नहीं गूंजता, वरन् समष्टि-मानस का उद्गार आद्योपान्त व्याप्त रहता है। संसार के विश्रुत महाकाव्यों और उपन्यासों में हम उन विराट जीवन-भूमियों के दर्शन करते हैं जो सामान्यतः हमें सर्वत्र लक्षित नहीं होतीं। रामायण और महाभारत के द्वारा हम इस तथ्य को भलीभांति समझ सकते हैं। किसी भारतीय को यदि नए और पुराने संदर्भ में सुसंस्कृत बनना है तो इन महाकाव्यों की व्यापक जीवन दृष्टि से परिचय प्राप्त करना अपरिहार्य होगा। किसी पौराणिक आख्यान या काल्पनिक कथा से महाकाव्य के संदेश पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि कवि की अनुभूति में जो समाया हुआ है, वही काव्य के माध्यम से व्यक्त होता है। जातीय जीवन काव्यात्मक बोध कराने के कारण सुसंस्कृत व्यक्ति इन महाग्रंथों से बचकर आत्म-निर्माण की पूर्णता नहीं समझ सकता। मेरे इस कथन का यह तात्पर्य न समझा जाए कि जिन जातियों में महाकाव्य नहीं लिखे गए, वे जातियां असंस्कृत हैं, किंतु यदि इतना स्वीकार कर लें कि बिना महान ग्रंथों के जातियां अपने चरम उत्कर्ष पर नहीं पहुंच सकतीं तो मैं समझता हूं कि महाग्रंथों के साथ हम न्याय कर सकेंगे। जातीय जीवन के पूर्ण और व्यापक परिचय के लिए—जातीय चैतन्य के पूर्ण प्रसार के लिए *महाग्रन्थों की धरोहर अनिवार्य है।* अतः मान और मूल्यों के विघटन की इस बेला में भी मैं कलाकार के लिए, स्वस्थ मनोदशा वाले सुसंसकृत सामाजिक के लिए, अपने राष्ट्रीय गौरव ग्रंथों का अनुशीलन आवश्यक समझता हूं।

आधुनिक युग में महाग्रंथों के अनुशीलन की बात को रूढ़ परंपरा के प्रति अनुराग की प्रच्छन्न भावना कहा जा सकता है। रूढ़ परंपरा से तात्पर्य कदाचित् उन मान्यताओं से है जो आधुनिक युग में त्याज्य समझी जाने लगी हैं अथवा नवीन जीवन-दृष्टि ने जिन परंपराओं को हेय समझकर अस्वीकार कर दिया है। मैं समझता हूं कि परंपरा का बोध-मात्र उसके अनुराग का कारण नहीं होता। हम अनेकानेक पुरातन रूढ़ियों और विश्वासों से परिचित हैं, किंतु परिचय मात्र से उनमें लिप्त नहीं होते, उन्हें ग्राह्य नहीं मानते, उनके लिए श्रद्धा धारण नहीं करते। अतः महाकाव्यों के अनुशीलन से जर्जर और ध्वस्त के प्रति अनुराग पैदा

होगा, ऐसी शंका सर्वथा निर्मूल है। प्रत्युत इसके ठीक विपरीत दूसरी ही प्रतिक्रिया हमारे भीतर होगी कि हम रूढ़िवादिता से बचेंगे और उन परंपराओं से अपना पिंड छुड़ा लेंगे जो परिहार्य और भाराक्रांत बन गई हैं। कौन विवेकी व्यक्ति होगा जो त्याज्य और हेय के प्रति अनुरागी बनेगा? काल के सतत प्रवाह में जो सिद्धांत और मंतव्य जीवित बने रहे हैं वे ही ग्राह्य होते हैं, उन्हीं के प्रति आग्रही बनने का अनुराग महाकाव्य हमारे भीतर जगाते हैं। हां, यह कहा जा सकता है कि जो आज उपादेय नहीं रहा, उसके लिए हम समय और शक्ति का अपव्यय क्यों करें, मेरा उत्तर है कि जिसे समय और शक्ति का अपव्यय समझा जाता है मैं उसे रत्न की खान का अवगाहन मानता हूं। रत्न की खान में हीरे की प्राप्ति के लिए किया गया कोयलों का स्पर्श-ग्रहण किसी के हाथ को अपावन नहीं बनाता। अतः महाग्रंथों को रत्नराशि मानकर ही ग्रहण करना चाहिए। तभी हम किसी अनावश्यक या त्याज्य के प्रति अनुराग प्रदर्शित करने वाले नहीं बनेंगे। मैं किसी ऐसे महान लेखक, कवि या कलाकार को नहीं जानता, जो महाग्रंथों में सर्वथा दूर रहकर अपनी नैसिर्गक प्रतिभा के द्वारा ही महान बनने में समर्थ हुआ हो। हां, इतना अवश्य हुआ है कि नवीन प्रतिभाओं ने पुरातन की पीठिका पर नये भवनों की स्थापना की है और नवीन मान्यताओं द्वारा अभिनव शिल्प कहलाने का गौरव प्राप्त किया है। भारतीय साहित्य के मेरुदंड रामायण और महाभारत ने महाकाव्यों की विपुल सामग्री प्रस्तुत कर अश्वघोष, कालिदास, भवभूति, श्रीहर्ष, स्वम्भू, तुलसी, सूर, केशव, मैथिलीशरण, माइकेल, रवींद्रनाथ, भारती, दिनकर आदि अनेक कवियों को काव्य-रचना की प्रेरणा दी। इस देश के इतिहास में वाल्मीकि और व्यास की वाणी का जयघोष जितने व्यापक स्तर पर हुआ, कदाचित संसार के किसी अन्य देश में ऐसे किसी महाकाव्य-प्रणेता का नहीं हुआ। महाकाव्य लिखकर इन दोनों आदि कवियों ने मानव-मन की उन भूमियों में प्रवेश किया था जो देश, काल और जाति की क्षुद्र परिधि से बाहर मानवना से निरंतर मूल्यों पर अवस्थित हैं। यही महाकाव्यों की जीवन शक्ति है। यही उनकी उदात्त गरिमा है। इन गौरव-ग्रंथों में केवल रूढ़-परंपराओं का संधान करना इन ग्रंथों के कथ्य और पद-पदार्थ के साथ अन्याय करना है। साहित्य से उसके उद्देश्य को जोड़ने में हमें मानव और उसकी मूल संवेदनाओं को समझने में इन ग्रंथों से जो सहायता मिलती है, उसका निषेध कौन करेगा?

आधुनिक हिंदी साहित्य की परिभाषा किसी एक संकीर्ण मर्यादा में नहीं की जा सकती। भारतीय साहित्य का सर्वश्रेष्ठ अंश संस्कृत साहित्य में समाविष्ट है। उसी उत्तमांश से हिंदी का प्राचीन और आधुनिक साहित्य ऊर्जा ग्रहण करता रहा है। मानव को केंद्र में स्थापित कर भारतीय साहित्य कालजयी साहित्य बना और भविष्य में भी मानव की प्रतिष्ठा से ही यह समृद्ध रहेगा। □

हिंदी हमारी राष्ट्रीयता और अस्मिता की पहचान

शंकरदयाल सिंह

कर्मठ हिंदी सेवी तथा हिंदी के अनन्य भक्त शंकरदयाल सिंह के अकस्मात निधन ने हिंदी प्रेमियों को स्तब्ध कर दिया। हिंदी की प्रतिष्ठा के लिए निरंतर संघर्षशील रहने वाला यह व्यक्ति आज हमारे बीच नहीं है परंतु उसके प्रेरक शब्द हमारे साथ हैं। विश्व हिंदी सम्मेलन के अवसर पर प्रस्तुत लेख हिंदी के लिए उनकी चिंता को बताता है।

हिन्दी एक सामर्थ्यशाली भाषा है जिसमें जहां एक ओर लाखों शब्दों का भंडार है वहीं दूसरी ओर इसमें विश्वबंधुत्व की भी सारी अपेक्षाएं हैं। इसके बोलने वालों की संख्या 70 करोड़ से अधिक है और हिंदी आज विश्व के 50 देशों में फैली हुई है। दुनिया के 136 विश्वविद्यालयों में हिंदी की पढ़ाई हो रही है। प्रतिदिन एक करोड़ के लगभग हिंदी पत्र-पत्रिकाओं की बिक्री होती है और प्रतिदिन 25 नई पुस्तकें हिंदी में प्रकाशित होती हैं।

इन सबसे अलग हिंदी का सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि उसे संस्कृत की विरासत मिली है तथा ब्रज, अवधी, मैथली, राजस्थानी, बुंदेलखंडी, भोजपुरी, मगही और ऐसी ही अनेक भाषाओं, उप-भाषाओं और बोलियों का सामर्थ्य-सहयोग इसे प्राप्त हुआ है। 8वीं सदी में सिद्धों ने इसे साहित्यिक स्वरूप देने की कोशिश की और 10वीं सदी में अमीर खुसरो ने इसको जन-व्यवहार की चेतना प्रदान की। उसके बाद कबीर, नानक, गोस्वामी तुलसीवाद, सूर, मीरा, रहीम, रसखान, देव, पद्माकर, घनानंद, बिहारी से लेकर भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र तक अजस्त्र धारा के रूप में हिंदी गंगा के समान प्रवाहमान रही है।

प्रायः यह माना जाता है कि वर्तमान हिंदी जिसे हम खड़ी बोली कहते हैं, उसकी

शुरुआत भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के जमाने से हुई जिसे प्रसाद, प्रेमचंद, महादेवी, निराला, पंत, दिनकर, बच्चन से लेकर सैकड़ों साहित्यकारों ने गरिमा प्रदान की। किंतु मैं इससे बड़ी बात यह मानता हूं कि हिंदी केवल साक्षरों की ही नहीं बल्कि निरक्षरों की भी भाषा है। बोलचाल और जन-सम्पर्क के लिए कन्याकुमारी से लेकर कश्मीर तक हिंदी का व्यवहार किया जाता है।

राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी को प्रतिष्ठित करने का श्रेय पूर्णतया महात्मा गांधी को है जिन्होंने आज़ादी अथवा राष्ट्रीय संघर्ष के साथ जोड़ा। यों उनके पहले स्वामी दयानंद सरस्वती से लेकर राजा राममोहन राय, केशवचंद्र सेन और महामना मदन मोहन मालवीय जी ने इसे सर्वव्यापक बनाने की दिशा में काफी प्रयास किया था।

आज़ादी के बाद हिंदी को राजभाषा की प्रतिष्ठा मिली, यह इसलिए कि हिंदी राष्ट्रभाषा के साथ-साथ जन-भाषा भी है। मेरा मानना है कि आजादी से कम महत्त्वपूर्ण फैसला यह नहीं है कि एक जनभाषा को जिसे बोलने और समझने वाले साक्षर से अधिक निरक्षर हैं, वह भाषा राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो। इसके पहले भारत के इतिहास में कोई भी जनभाषा राजभाषा नहीं हुई थी।

मैंने बात की शुरुआत हिंदी के सामर्थ्य और विश्वबंधुत्व से की थी। इसका कारण यह है कि विगत 2-3 वर्षों में मैं 16-17 ऐसे देशों में गया जहां हिंदी के प्रति लोगों में स्वाभाविक आकर्षण है। कई देश हिंदी के माध्यम से भारत से जुड़े हुए हैं—जैसे मॉरिशस, फिजी, ट्रिनीडाड, गयाना, सूरीनाम, नेपाल आदि और बुहत ऐसे देश हैं जो हिंदी के माध्यम से भारत से जुड़ना चाहते हैं, जिनमें एशिया, यूरोप और अफ्रीका के अनेक देश हैं।

1993-94 में मुझे राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा जी के साथ दुनिया के 10 देशों में जाने का मौका मिला। उनमें युक्रेन, हंगरी, टर्की, बुलगारिया और रूमानिया जैसे देशों में संस्कृत तथा हिंदी के प्रति स्वाभाविक रुचि और जिज्ञासा देखकर हम सबों को रोमांच तथा गर्व हुआ। हर जगह यह मांग आई कि हम भारतीय साहित्य और संस्कृति से परिचित होना तथा हिंदी के प्राध्यापक चाहते हैं। कई देशों में लोगों ने अपनी मांग दोहराई कि भारत अपना सांस्कृतिक केंद्र खोले।

एक ओर जहां विदेशों में हिंदी के प्रति तथा भारत के प्रति इतनी जिज्ञासा है, वहीं दूसरी ओर अपने देश में उदासीनता देखकर दुख होता है। निश्चय ही इन काली रेखाओं को हमें समाप्त करना है। हिंदी को राष्ट्रीयता के साथ जोड़ने की जरूरत है क्योंकि वह आजादी के पहले राष्ट्रभाषा थी, आज राजभाषा है तथा इससे भी आगे एक जनभाषा है। संविधान के अनुसार हम अपने राष्ट्र-ध्वज और राष्ट्रगान को जो सम्मान देते हैं, उसी सम्मान की अधिकारिणी हिंदी भी है। वह जननी के समान है। निश्चिय ही एक दिन हमारा राष्ट्रीय स्वाभिमान जागेगा और हम कुछ ऊपर उठकर इस बात का अनुभव करेंगे। जब तक हम

अपनी भाषा को उचित सम्मान नहीं देंगे, तब तक हम विकसित देशों की पंक्ति में खड़े नहीं हो सकते। दुनिया का कोई भी देश आज तक बैसाखी लेकर ऊंचा नहीं उठा। जो लोग हिंदी की उपेक्षा कर एक विदेशी भाषा के वर्चस्व के नीचे दबे हुए हैं, वे विदेशों में जाकर देखें तो उन्हें भान हो कि उनकी स्थिति कितनी हास्यापद है। हमारे अनेक प्रतिनिधियों को विदेशों में अंग्रेजी बोलते सुनकर इस प्रश्न का शिकार होना पड़ा है, "क्या आपके देश की अपनी कोई भाषा नहीं है?"

हिंदी में पूर्ण सामर्थ्य है और उसके पास विश्वबंधुत्व की शक्ति है। हालांकि भारत जैसे विशाल देश में जहां 179 भाषाएं, 545 बोलियां या मातृभाषाएं हैं, लेकिन हिंदी समुद्र के समान विशाल हृदय लिए सबों को अपने अंदर स्थान देती है।

अब आता हूं हिंदी के उस पहलू पर जिसका द्वन्द्व रह-रहकर दंश बन रहा है।

संविधान के अनुच्छेद 343 (1) के अनुसार भारत संघ की राजभाषा देवनागरी लिपि में हिंदी है। यह संविधान का वाक्य है लेकिन मैं यह जानना चाहता हूं कि क्या सच में हिंदी आज भारत संघ की राजभाषा है?

यह प्रश्न इसलिए कि उसी अनुच्छेद में आगे लिखा हुआ है कि सन् 1965 के बाद भी अंग्रेजी के उपयोग को चालू रखने के लिए संसद कानून बना सकती है।

अब आइए, वस्तुस्थिति पर। 14 सितंबर 1949 को संविधान सभा ने हिंदी को भारत को राजभाषा बनाने का निर्णय लिया। 26 जनवरी 1950 से संविधान के तहत इसे लागू भी कर दिया गया। इसके पहले का भी हवाला मैं देना चाहता हूं। जब 19 अप्रैल, 1947 को बाबा साहब अम्बेडकर ने यहां कहा था कि हिंदुस्तानी को न केवल संघ की वरन् सभी इकाइयों की भाषा बना दिया जाना चाहिए। उनका कहना था—

"यथास्थिति धारा 9 हिंदुस्तानी को संघ की राजभाषा घोषित करती है। समिति द्वारा गृहीत शब्दावली के विचार से यह स्पष्ट है कि हिंदुस्तानी राज्य की, अर्थात् संघ की भाषा होगी और साथ ही इकाइयों की भी। यदि प्रत्येक इकाई को स्वतंत्रता दी जाती है, जैसी कि अन्य धारा में दी गई है, कि वह किसी भी भाषा को राजभाषा बनाए तो इससे न केवल भारत के लिए एक राष्ट्रभाषा का उद्देश्य पराभूत हो जाएगा वरन् भाषाई विभेदता के कारण भारत का प्रशासन भी असंभव हो जाएगा। अतः मेरा अभिमत है कि 'संघ' के स्थान पर 'राज्य' शब्द रख दिया जाये। हो सकता है कि इकाइयां हिंदुस्तानी को अपनी राजभाषा बनाने के लिए समय मांगे। इसके लिए उन्हें समय देने में कोई हानि नहीं है। किंतु इस विषय पर कोई संदेह नहीं हो सकता कि प्रारंभ से ही इकाइयों पर हिंदुस्तानी को ग्रहण करने की वैधानिक अनिवार्यता या बाध्यता होगी।"

1931 की जनगणना के अनुसार देश की आबादी का 69 प्रतिशत हिंदी को बोलता या समझता था। इसीलिए गांधीजी का जोर था कि हिंदी और उर्दू के मेल से पनपी हिंदुस्तानी

ही भारत की राष्ट्रभाषा हो तथा आजाद भारत की राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी या हिंदी ही होगी। 1918 में जब गांधीजी ने हिंदी साहित्य सम्मेलन, इंदौर अधिवेशन की अध्यक्षता की थी, वहीं से इस बात की शुरुआत हो गई थी।

1936 में कांग्रेस ने गांधीजी की प्रेरणा से यह प्रस्ताव पारित किया था कि कांग्रेस के अधिवेशन की कार्यवाही हिंदुस्तानी अथवा हिंदी में ही संपन्न हो। निश्चय ही आजादी के पूर्व राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी का प्रचार-प्रसार राष्ट्रीयता का द्योतक था। उस समय कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि आजादी के बाद अंग्रेज चले जाएंगे और अंग्रेजी रह जाएगी।

इन बातों को यही छोड़ता हूं। अब सीधे आता हूं 1963 के राजभाषा के अधिनियम पर। इस अधिनियम के पारित होते ही तमिलनाडु में तूफान उठ खड़ा हुआ और तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने संसद में यह आश्वासन दे दिया कि जब तक देश के सभी राज्य स्वीकार नहीं कर लेते तब तक हिंदी और अंग्रेजी में साथ-साथ काम होता रहेगा। 1965 और 1967 में, 1963 के राजभाषा अधिनियम में संशोधन किया गया। मेरा मानना है कि यहीं व्यावहारिक रूप से हिंदी रुक गई।

आज़ादी मिलने के बाद यह नहीं कहा गया कि अभी राष्ट्रध्वज तैयार नहीं है इसलिए 'यूनियन जैक' कुछ दिन तक फहराता रहे या अपने राष्ट्र-गान का स्वर अभी परिचित नहीं है इसलिए 'लांग लिव द किंग' ही कुछ दिनों तक चलना चाहिए। जब ऐसी बातें राष्ट्रीय ध्वज और राष्ट्र-गान के संबंध में न हुईं तो फिर राष्ट्रभाषा के संबंध में ही यह टकराऊ नीति क्यों लागू की गई? इसका साफ़ मतलब यह निकलता है कि अपने संविधान निर्माताओं और उसे लागू करने वालों की नीयत हिंदी के संबंध में साफ नहीं थी।

देश के एक हिस्से में थोड़ा-सा उपद्रव हो जाने से ही हिंदी को रोक देना कहां तक उचित कहा जाएगा। आसाम, पंजाब और कश्मीर के अनेक मुद्दों को लेकर भयंकर स्थितियां उत्पन्न हुईं और विघटनकारी तत्त्वों ने अपना सिर उठाया, लेकिन सरकार ने राष्ट्र की एकता और अविछिन्नता के नाम पर उनसे कहां समझौता किया? फिर हिंदी के संबंध में इस आश्वासन और समझौते का औचित्य क्या है?

कोई भी प्रधानमंत्री संविधान से बड़ा नहीं होता है, उसके तहत ही होता है। जब संविधान में हिंदी को राजभाषा का दर्जा दे दिया गया तब फिर इस आश्वासन की जरूरत क्या हुई कि जब तक देश के सभी राज्य हिंदी को न मानें तब तक वह राजभाषा नहीं होगी। क्या हमने इस आश्वासन के द्वारा अपने संविधान की खिल्ली नहीं उडाई?

अब इस बात को हम लें कि 15 वर्षों तक हिंदी और अंग्रेजी में साथ-साथ काम होते रहेंगे। एक बार जब कोई किसी के घर में किरायेदार के रूप में प्रवेश कर जाता है तो उसे निकालना मुश्किल होता है। फिर यहां तो अंग्रेजी को 15 वर्षों तक हमने स्वयं ही

बैठा दिया तो उसको हटाना क्या इतना आसान है?

1963 में राजभाषा अधिनियम पारित हुआ लेकिन 13 वर्षों तक नियम नहीं बने यह हास्यास्पद से अधिक दुखद और दुखद से बढ़कर शर्मनाक बात है कि राजभाषा हिंदी के प्रति हमने कभी न तो मुस्तैदी बरती और न ईमानदारी। 1976 में राजभाषा नियम बने। इस भांति राज सिंहासन पर बैठने का जिस भाषा को 1949-50 में संवैधानिक अधिकार मिला वह लगभग 26 वर्षों तक फुटपाथ पर खड़ी रही।

अब हम इस बात पर आएं जहां इसका उल्लेख है कि सरकारी कर्मचारी अपना सरकारी काम हिंदी में करने को स्वतंत्र हैं तथा उन्हें स्वयं अपना नोट आदि का अंग्रेजी में अनुवाद आदि नहीं देना पड़ेगा? राजभाषा के रूप में हिंदी की स्थिति या तो अनुवाद की है या रस्मअदायगी की। 10 प्रतिशत भी केंद्र सरकार के कार्य मूल रूप से हिंदी में नहीं होते और जो 90 प्रतिशत कार्य अंग्रेजी में होते हैं उनका जो हिंदी अनुवाद उपलब्ध कराया जाता है वह कृत्रिम और शुष्क रहता है। आंखें उन्हें ठीक से न तो पढ़ पाती हैं और न दिल उन्हें ग्रहण कर पाता है। इन प्रश्नों के टकराते हुए कुछ अन्य मौलिक प्रश्न हमारे सामने हैं जिन पर शायद उचित ढंग से कभी विचार नहीं हुआ। केंद्र सरकार में अथवा राज्य सरकारों में शायद ही कोई ऐसा पद हो जिसमें बिना अंग्रेजी जाने किसी को सेवा का अवसर मिले, वहीं हज़ारों ऐसे वरिष्ठ पदाधिकारी हमें मिलेंगे जो हिंदी नहीं जानते अथवा उसकी उपेक्षा करते हैं फिर भी ऊंची कुर्सियों पर बैठे हुए हैं। यह एक ओर जहां राजभाषा अधिनियम 1963 का खुलम-खुला उल्लंघन है वहीं दूसरी ओर धारा 3-3 जिसके अंतर्गत हिंदी और अंग्रेजी दोनों का ज्ञान आवश्यक है उसकी भी ऐसी-तैसी हो रही है। निश्चित रूप से भारत सरकार को संविधान के उन मूल संकल्पों का आदर और पालन करना चाहिए जिसके अनुसार हिंदी और अंग्रेजी दोनों का ज्ञान सरकार के हर अधिकारी, पदाधिकारी और कर्मचारी के लिए आवश्यक है। एक ओर जहां यह संवैधानिक आवश्यकता है वहीं दूसरी ओर कानूनी अनिवार्यता भी। इसका सख्ती से पालन होना चाहिए। यहीं मैं इस बात की आवश्यकता महसूस करता हूं कि इन नियमों का पालन कराने के लिए आज हिंदी को किसी टी.एन. शेषन की जरूरत है?

संसदीय राजभाषा समिति का गठन 1976 में किया गया जिसके जिम्मे हिंदी के प्रगामी प्रयोग हेतु निरीक्षण और पुनर्परीक्षण का कार्यभार सौंपा गया। उसमें 20 लोकसभा के और 10 राज्यसभा के कुल मिलाकर 30 सदस्य हैं। केंद्रीय गृह मंत्री इसके अध्यक्ष होते हैं। इस समिति ने विगत 15-16 वर्षों की अवधि में पूरे देश का दौरा करने और 5 हजार से अधिक निरीक्षण, साक्ष्य और विचार-विमर्श करने के बाद राष्ट्रपति जी को 5 प्रतिवेदन पेश किए। इनमें से 4 पर राष्ट्रपति जी के स्पष्ट आदेश जारी किए जा चुके हैं जिसमें पत्राचार, टंकण यंत्र, प्रशिक्षण तथा मूल टिप्पणी के संबंध में राष्ट्रपति के स्पष्ट आदेश हैं।

मेरा संबंध इस समिति से 1976 अथवा इसके स्थापना काल से ही रहा है और विगत 3 महीनों से मुझे इसका उपाध्यक्ष मनोनीत किया गया है। मैं स्वयं अपने अनुभवों और निरीक्षणों से अच्छी तरह जानता हूं कि भारत सरकार के अधिकतर कार्यालयों में हिंदी की स्थिति हास्यास्पद है जहां खानापूर्ति और रस्मअदायगी ही मुख्य रूप से होती है, व्यावहारिक रूप से 25 प्रतिशत कार्य भी नहीं हो पाता। जबकि राष्ट्रपति का आदेश है कि हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्रों में जिन्हें 'क' क्षेत्र कहते हैं वहां 90 प्रतिशत हिंदी में कार्य होने चाहिए।

ऐसा क्यों हो रहा है? इसलिए हो रहा है क्योंकि यहां किसी प्रकार के दंड की व्यवस्था नहीं है। यदि संविधान के अनुच्छेदों, राजभाषा अधिनियम, राजभाषा नियम और राष्ट्रपति के आदेश के उल्लंघन करने वालों को दंडित करने का प्रावधान हो जाय तो हिंदी की गाड़ी कल से द्रुतगति से चलने लगे।

प्रायः एक बात सुनने को मिलती है कि हिंदी किसी पर लादी न जाए अथवा हिंदी के लिए यदि जोर जबर्दस्ती की गई तो इसका दुष्परिणाम होगा या देश टूट जाएगा। यह और भी हास्यास्पद दलील है, कारण हिंदी किसी पर लादी नहीं जा रही है वरन लोग स्वेच्छा से इसे अपनाते हैं, क्योंकि हिंदी के माध्यम से हज़ारों लोगों को रोजी-रोटी मिलती है। जिस भांति किसी जमाने में उर्दू, फारसी अथवा अंग्रेजी जानने वालों को नौकरियों में प्राथमिकता मिलती थी आज यदि उत्तर भारत के लोगों को तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम पढ़ने से नौकरी मिलने लगे तो हिंदी क्षेत्र में इसके पढ़नेवालों की भरमार हो जाए।

मेरा स्वयं का मानना है कि हिंदी कभी लादी नहीं जानी चाहिए इसे स्वेच्छा से जो पढ़ना चाहे, पढ़े। इस भांति हिंदी के प्रचार-प्रसार और शिक्षण में जो करोड़ों रुपए खर्च किए जा रहे हैं वे भी बचाए जा सकते हैं तथा अहिंदी भाषी लोगों में जिनमें मुख्य रूप से तमिलनाडु का नाम सामने आता है उनके मन से यह भावना हटा देनी चाहिए कि हिंदी जबर्दस्ती लादी जा रही है। आजादी के पहले हिंदी स्वतंत्रता संग्राम की आह्वान थी तथा उसके बहुत पहले जिसमें संतों की वाणियां गूंजती थी उसने पिछले दिनों बहुत गालियां सुनीं और सहीं। इसकी भी एक हद है। मेरा विनम्र निवेदन है कि हिंदी कोई अपनाए या न अपनाए, उसे गाली न दे।

अगर सच्चाई उजागर हो तो जो लोग अंग्रेजी की वकालत करते हैं, एक ओर जहां वे गुलाम मानसिकता के शिकार हैं, वहीं दूसरी ओर राष्ट्रीयता को पनपने से रोक रहे हैं। जब तक अंग्रेजी का वर्चस्व रहेगा तब तक भारतीय भाषाएं दबी और कुचली रहेंगी। कोई भी देश विदेशी भाषा के बल पर कभी ऊंचा नहीं उठा। हमारे सामने अनेक उदाहरण हैं—जापान, जर्मनी, दक्षिण कोरिया, चीन जैसे अनेक देश हैं जो अपनी भाषा के सहारे दुनिया भर में छाए हुए हैं। गुलामी की बेड़ियां में जकड़े हुए जिन देशों ने आज़ादी के बाद भी वर्चस्व को स्वीकार किया, वे अविकसित या विकासशील ही बने हुए हैं विकसित कोई

नहीं हुआ। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री गुन्नार मिर्डल ने एशियाई ड्रामा में लिखा है कि जब तक भारतीय संसद में अंग्रेजी का व्यवहार होता रहेगा तब तक वह अपने देश को आजाद नहीं कह सकता। इसके बाद भी कुछ कहने की जरूरत है? यदि हां, तो एक बार फिर आपको गांधी के पास ले चलता हूं।

1915 में गांधी जी दक्षिण अफ्रीका से भारत आए। 15,16,17 तीन वर्षों तक उन्होंने देश के एक कोने से दूसरे कोने रात-दिन भ्रमण किया। सत्य का प्रयोग दक्षिण अफ्रीका किया था और उसका आग्रह यानी सत्याग्रह की शुरुआत उन्होंने 1917 में चंपारन में की। 18 जुलाई 1917 को उन्होंने चंपारन की एक सभा में कहा था—"जो स्थान इस समय अनुचित ढंग से अंग्रेजी भोग रही है वह स्थान हिंदी को मिलना चाहिए। ... शिक्षित वर्ग की एक भाषा अवश्य होनी चाहिए, वह हो सकती है हिंदी। हिंदी के द्वारा करोड़ों व्यक्तियों में आसानी से काम किया जा सकता है। इसलिए उसे उचित स्थान मिलने में जितनी देर हो रही है उतना ही देश का नुकसान हो रहा है।"

उसके भी पहले 1909 में उन्होंने 'हिन्द स्वराज्य' में लिखा था "हर पढ़े-लिखे हिंदुस्तानी को अपनी भाषा का, हिंदू को संस्कृत का, मुसलमान को अरबी का, पारसी को फ़ारसी का और सब को हिंदी का ज्ञान होना चाहिए। कुछ हिंदुओं को अरबी और कुछ मुसलमानों और पारसियों को संस्कृत सीखनी चाहिए। सारे हिंदुस्तान के लिए तो हिंदी ही होनी चाहिए। ...हिन्दू-मुसलमान के विचारों को ठीक रखने के लिए बहुतेरे हिंदुस्तानियों को दोनों लिपियों उर्दू और नागरीलिपि जानना ज़रूरी है। ऐसा होने पर हम आपस के व्यवहार से अंग्रेजी को बाहर कर सकेंगे।

और आजादी के बाद 21 सितंबर 1947 के दिन प्रार्थना सभा में व्यक्त किया गया उनका विचार हमें झकझोर देता है, "जिस तरह हमारी आज़ादी को ज़बर्दस्ती छीनने वाले अंग्रेजों की सियासी हुकूमत को हमने सफलतापूर्वक इस देश से निकाल दिया, उसी प्रकार हमारी संस्कृति को दबाने वाली अंग्रेजी जबान को हमें यहां से निकाल बाहर करना चाहिए। हां, व्यापार और राजनीति में अंतर्राष्ट्रीय भाषा के नाते अंग्रेजी का अपना स्वाभाविक स्थान हमेशा कायम रहेगा।"

इस संदर्भ में विचार करते-करते धीरज धरते-धरते तथा औपचारिकताओं का निर्वाह करते-करते हमने 48 वर्ष बिता दिए। हिंदी जहां 1847-48, 1950-51 में थी उस से आज बहुत दूर चली गई है, लगता है मानो ऐसी स्थिति आ गई है कि जैसे विदेशी कर्जों के बिना हमारा काम नहीं चलता वैसे ही विदेशी भाषा के बिना हमारा सम्मान नहीं रहेगा। इस संबंध में मैं याद दिलाना चाहता हूं कि सन् 1918 में भारतीय स्वाभिमान की प्रतिमूर्ति महात्मा गांधी इसी शर्त पर वाइसराय से मिलने के लिए राजी हुए थे कि वे उनसे हिंदी में बातचीत करेंगे। भारत की भावी राजभाषा के विषय में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि यदि स्वराज्य

भारत के जन-साधारण के लिए होगा तो हिंदी ही संपर्क भाषा हो सकेगी। उन्होंने यह भी लिखा है कि देश में जो एकता अंग्रेजी भाषा द्वारा दिखाई देती है वह उस वक्त तक चल सकती है, जब तक थोड़े लोग ही शिक्षा पाते हैं। जब देश स्वतंत्र होगा और हर बच्चा शिक्षा पाएगा तो वह पढ़ाई विदेशी भाषा में नहीं, बल्कि देश की विभिन्न भाषाओं में होगी। इन अलग-अलग भाषाओं को बोलने वालों को मिलाने के लिए उन्होंने हिंदी को चुना।

यदि अपनी इन बातों तथा उपर्युक्त उद्धरणों के द्वारा मैंने आपके अंदर कोई झंझावत पैदा न किया तो मुझे यही लगेगा कि देश की चेतना लुप्त हो गई है। शिक्षा, संस्कृति और संस्कार तीनों को हमने कहीं गिरवी रख दिया है तथा अंग्रेजी के व्यामोह में हमने इस देश की अस्मिता का सौदा कर दिया है।

हिंदी को जब तक हम राष्ट्रीयता के साथ नहीं जोड़ते हैं तब तक राष्ट्र के स्वाभिमान की रक्षा नहीं हो सकती है। □

हिंदी एक संगठित करने वाली शक्ति है। हिंदी का प्रचार-कार्य एक वाग्यज्ञ है।

—काका साहिब गागडिल

हिंदी किसी एक जाति-संप्रदाय की भाषा नहीं

पं. सुधाकर पांडेय

नागर प्रचारिणी सभा ने डॉ. सुधाकर पांडेय के निर्देशन में हिंदी के लिए जो महत्वपूर्ण कार्य किए हैं, उससे हिंदी की शक्ति अप्रतिम रूप से बढ़ी है। डॉ. सुधाकर पांडेय हिंदी को किसी एक संप्रदाय की भाषा मानने के पक्षधर नहीं है, अपितु उसके व्यापक रूप के पक्षधर हैं।

भारत की संविधान सभा ने 14 सितंबर, 1949 को यह घोषणा की कि हिंदी भारत की राजभाषा है। भारत का संविधान राष्ट्र की संप्रभुता की स्थापना का ऐसा दस्तावेज है जिसकी छाया में देश की संरचना का संकल्प है। संविधान सभा ने यह निर्णय सर्वसम्मति से किया था। संविधान सभा ने राष्ट्र की एकता को और अखंडता को एक सूत्र में बांधने के लिए भारत की राजभाषा के रूप में हिंदी को मान्यता दी। यह इस बात का प्रमाण है कि आज की मनीषा सर्वतोभवेन यह स्वीकार करती है कि हिंदी देश को जोड़ सकती है।

राष्ट्रीय एकता के रूप में हिंदी का प्रयोग शताब्दियों पुराना है और यह कहा जा सकता है कि हिंदी का उद्‌भव ही भारत की एकता के लिए हुआ था।

भाषा केवल संप्रेषण का साधन मात्र ही नहीं, उसके पीछे जीवन और धरती के स्पंदन का सांस्कृतिक तत्व भी है। संस्कृत ने एक समय जो कार्य किया था वह हिंदी का दायित्व प्रारंभ से ही रहा है। इस प्रसंग में सूफी संतों, महात्माओं की सेवा असाधारण महत्व की रही है। कट्टर परंपरावादी सुन्नी शासनकाल में इन महापुरुषों ने भारत की आत्मा की आवाज को जिस भाषा में अभिव्यक्ति दी और मनुष्यमात्र की एकता का संदेश जिस रूप में दिया वह असाधारण महत्व का है। इस्लाम और निराकार भारतीय तत्व को एकाकार कर एक नई

भावना एवं भाषा देश में प्रवाहित की और इसके लिए उन्होंने आहुति दी। यह प्रेम की भाषा थी जो जोड़ती है तोड़ती नहीं। मलिक मुहम्मद जायसी ने लिखा—

"मैं यहि करत पंडितनह बूझा",

महान पंडित अमीर खुसरो ने यह कहा—ब्रजभाषा मिठास में फारसी से कम नहीं है। 18वीं शताब्दी में ईरान से आए सन्त अली ने यही विचार रखा। सन्त निजामुद्दीन की मौत के समय उनके दरगाह पर खुसरो ने कहा—

गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारे केस
चल खुसरु घर आपने, रैन भई चहूं देश।।

सूफी कवि नूर मुहम्मद ने बहुत साफ किया कि वे मुसलमान तो हैं और हिंदू मग पर भी नहीं रखने वाले हैं चाहे कितना हूं हिंदी बोलूं।

हिंदू मग पर पांव न राखैं।
काजौ बहुतै हिंदी माखै।
छाड़ फारसी कन्द नवातैं।
अखहाना हिंदी रस बातै।।

कुतुबशाह के बाद आलमगीर के शासन काल में महमूद बहरी ने लिखा—

हिंदी तो जबान है हमारी।
कहते न बने हमन को मारी।

ये सूफी संगीत के प्रेमी थे और अपनी बात जो एकता और प्रेम की थी, पहुँचाने के निमित हिंदी का प्रयोग निरंतर करते रहे।

संगीत के माध्यम से मुसलमानों के समय हर राजदरबार में हिंदी विराज रही थी। ध्रुपद और विष्णुपद अकबर से लेकर औरंगजेब तक दरबार में गाए जाते थे और हिंदी में रचित पद ही प्रायः वे होते थे।

वाहिद बिलग्रामी द्वारा रचित सन् 1566 ई. का ग्रंथ इकायके हिंदी इसका प्रमाण है। एक तरफ तो सूफियों ने प्रेम का डंका हिंदी के माध्यम से बजाया तो दूसरी तरफ मधुरा भक्ति सारे देश में संगीत के माध्यम से हिंदी भाषा द्वारा एकता का संदेश राष्ट्र के लिए बनी।

उस समय हिंदी का अर्थ था ब्रज भाषा। मीरा कबीर रैदास, रामानंद आदि कवियों

की रचनाएं प्रारंभ से ही देश के प्रत्येक भू-भाग में गायी जाती हैं और लोग उन्हें समझते हैं। आज भी यह क्रम चल रहा है। और तो और आज सिनेमा के हिंदी गीत भी भारत के प्रत्येक भू-भाग में प्रचलित हैं और उनका आनंद सभी एक रस होकर लेते हैं। मेरे कहने का यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि और भाषाएं समृद्ध और गौरवशाली नहीं हैं। मेरा आशय यह है कि हिंदी से सभी भाषा-भाषियों को प्रगाढ़ स्नेह है और वह स्नेह इसलिए है कि वह राष्ट्र को जोड़ती है।

हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्र गरीबों का क्षेत्र रहा है और आधुनिक औद्योगिक क्रांति के साथ ही मजदूर जीविका की खोज में सारे भारत में फैले और वह मेल स्थानीय लोगों के तालमेल से हिंदी की लोकप्रियता और परस्पर सद्‌भाव के लिए संदेशवाहक बना। इतना ही नहीं, मॉरिशस, ट्रिनिडाड, फिजी तक हिंदी का प्रेम संदेश वे मजदूर ले गए जो स्थायी स्नेह का कारण है। हिंदी के कारण हमारा स्नेह संस्कार इन राष्ट्रों से बना हुआ है।

व्यापारियों की भाषा सामान्यतः जनभाषा होती है। मध्ययुग में व्यापार का कार्य अत्यंत कठिन था। इस काम के लिए हिंदी का प्रयोग व्यापक पैमाने पर हुआ। इतना ही नहीं बैंकिंग आदि का कार्य हिंदी के माध्यम से ही मद्रास, कलकत्ता व बंबई आदि में होता रहा है।

एक समय सभ्यता की निशानी यह थी कि व्यक्ति हिंदी में रचना करे। इसलिए बादशाह अकबर एवं उनके रत्न टोडर, बीरबल तो हिंदी के रचनाकार थे ही औरंगजेब ने भी हिंदी में रचना की। जिन-जिन शासकों को जनसंपर्क और जनता की सेवा या अपनी सत्ता को स्थायित्व देना था, सबने हिंदी को अपनाया भले ही सरकारी काम-काज में अन्य भाषा का उपयोग होता रहा हो।

प्राचीन समय में राष्ट्र की अवधारणा भारत में नहीं थी अपितु मनुष्य मात्र में स्नेह संपादन की थी। उस युग में प्रेम का सूत्र सबसे महत्वपूर्ण था और यह संदेश हिंदी ने राष्ट्र को दिया। राष्ट्र के भावबोध का उदय होते ही राष्ट्र की मनीषा ने हिंदी के इस गुण की मान्यता को शिरोधार्य किया। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद, केशवचंद्र सेन, सर आशुतोष मुखर्जी, रविंद्रनाथ ठाकुर, बंकिमचंद्र ओर शरतचंद्र एक और जहां हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में ग्रहण करने के पक्षपाती थे वहीं इन लोगों के हिंदी को स्नेह प्रदान कर उसकी राष्ट्रीयता को संबलित किया।

भारतेंदु ने तो यहां तक कह दिया—सारी उन्नति की जड़ अपनी भाषा की उन्नति है। अंग्रेजों ने यह अनुभव कर लिया था कि बिना हिंदी जाने भारत पर वर्चस्व स्थापित नहीं रह सकता। इसलिए फोर्ट विलियम के माध्यम से हिंदी काम का कार्यारंभ किया। किंतु सच्चे अर्थों में इस कार्य को लोक मान्य बालगंगाधर तिलक ने राष्ट्रीय धरातल दिया और स्पष्ट घोषणा की कि एक लिपि और एक भाषा के बिना राष्ट्र की एकता संभव नहीं है। सन् 1894 में एक लेख राष्ट्रभाषा के संबंध में प्रकाशित हुआ था। यह लेख-विचारक और

विद्वान दकन सोसाइटी के पं. दामन जी पेठे ने मराठी भाषा में लिखा था। यह लेख 34 पृष्ठों का था। जिसका शीर्षक 'राष्ट्रभाषा' था। इस लेख की समीक्षा विविध विस्तार, केरल कोकिल शालापत्रक, श्री वेंकटेश्वर समाचार, केसरी, सुधाकर, इंदुप्रकाश, मुंबई वैभव, प्रभाकर, नेटिव ओपिनियन, ज्ञानप्रकाश, विक्षिप्त जगत, हितेच्छु जैसे पत्रों में हुई जो भारतवर्ष के सभी भाषाओं के थे। पं. बालगंगाधर तिलक, बी.ए., एल.एल. बी और प्रोफेसर राजाराम रामकृष्ण जैसे विद्वानों ने उसका समर्थन किया।

लगभग इसी समय नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना सन् 1893 में काशी में हुई। इस संस्था ने कचहरियों में हिंदी के प्रवेश को लेकर आंदोलन एवं संघर्ष भी किया और अंग्रेजों को जनता की यह मांग सन् 1900 में माननी पड़ी। उस समय सन् 1900 में एक वैचारिक क्रांति राजभाषा के संबंध में हुई। 31 दिसंबर, सन् 1905 में कांग्रेस अधिवेशन के समय एक विशाल सभा नागरी प्रचारिणी सभा काशी के प्रांगण में हुई जिसकी अध्यक्षता भारत विश्रुत इतिहासकार कांग्रेस अध्यक्ष सर रमेशचंद्र दत्त ने की। उस अवसर पर दीवान बहादुर अंबा लाल शंकरलाल नागर और लोकमान्य तिलक ने हिंदी को राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने से राष्ट्र की एकता को संबल मिलेगा, यह विचार स्पष्ट किए। इस सम्मेलन से एक अभिनव अनन्य बल हिंदी को मिला और कांग्रेस अधिवेशन के साथ ही राष्ट्रभाषा सम्मेलन भी होने लगे।

इतना ही नहीं कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में 30 सितंबर, 1918 को राष्ट्रभाषा सम्मेलन हुआ जिसमें तिलक महाराज ने स्पष्ट घोषणा की कि 'हम तो एक राष्ट्रभाषा चाहते हैं जिसे सारे प्रांतवासी समझ सकें और इसी की चेष्टा भी होनी चाहिए। यह भाषा कोई हो सकती है तो हिंदी ही हो सकती है। पंजाब से बंगाल तक तो यह कार्य सहज ही हो जाएगा पर मद्रास प्रांत में भी यह कार्य उतना कठिन नहीं है।' यह प्रस्ताव सर्वसम्मत से स्वीकार किया गया। गांधीजी ने इस अवसर पर कहा कि हमारे सभापति जी (लोकमान्य) और मालवीय जी महाराज सहायता करेंगे तो आगामी कांग्रेस में हमें अंग्रेजी शब्द सुनने को नहीं आएंगे। उसी अवसर पर हिंदू पत्रिका के संपादक राय बहादुर मजूमदार ने कहा कि हम दूसरी भाषाओं को दूर करना नहीं चाहते पर हिंदी सबके लिए हो जाय ऐसा चाहते हैं। हिंदी एक ऐसी भाषा है जिसे सब लोग समझ सकते हैं। भले ही हमारी भाषा टूटी-फूटी है। सरोजनी नायडू ने इस अवसर पर कहा कि—अपनी-अपनी जबान रखिए। आपको उसे छोड़ने के लिए कोई नहीं कहता किंतु कौमी खिदमत के लिए हिंदी जरूर पढ़ो। सब लोग अपनी अलग-अलग जुबान रखते हुए भी एक जुबान कायम रखके उसी जुबान से भारत माता की पूजा करें। इसी अवसर पर सुप्रसिद्ध तमिल विद्वान स्वामी कृष्णमूर्ति आचार्य ने कहा कि स्पष्ट है कि सब लोग हिंदी अवश्य समझते हैं। हम अन्य प्रांतीय भाषाओं की अपेक्षा हिंदी अधिक ही समझते हैं और इसे फैलाने की चेष्टा भी अपने प्रांत नें करते हैं।

इस प्रस्ताव का सबने समर्थन किया और अंत में पं. माधव शुक्ल ने हिंदी की महिमा की गरिमा काव्य में बताई।

इस प्रकार आधुनिक भारत में तमिल, बंगला, गुजराती, मराठी सभी विद्वानों ने एक स्वर से हिंदी को राष्ट्र भाषा इसलिए स्थापित किया क्योंकि हिंदी देश को जोड़ सकती है। उसमें एकता का प्रसार कर सकती है।

अंग्रेज इस बात को जान गए थे और वे समझते थे कि हिंदी राष्ट्रीय एकता की वाणी यदि बन गई तो निश्चित रूप से स्वतंत्रता का आंदोलन शीघ्र ही सफल होगा। 19वीं शताब्दी के अंत में ही कार्डवेल ने द्रविड भाषा का व्याकरण बनाया और कहा कि मैं ऐसा सोचता हूं जो भी हो अंग्रेजी कहीं भी हिंदू की भाषा नहीं हो सकती और न तो एक सीमा को छोड़कर देश की राजभाषा हो सकती है और वह सीमा है सरकारी कर्मचारियों के व्यवहार व विश्वविद्यालयों की पढ़ाई तक ही। 19वीं शताब्दी के अंत में कही गयी यह बात आज भी देश पर लागू है। सरकारी काम-काज में और पठन-पाठन में अंग्रेजी वर्तमान है।

यह हमारी संस्कृति के विलोम में उस संस्कृति की प्रतिष्ठापिका है जो भारतीय जीवन मूल्यों का उद्धार करने की क्षमता नहीं रखती। इसलिए एकाध क्षेत्रीय दलों को छोड़कर आज के जनतंत्र में सभी हिंदी को अपनाने के पक्ष में हैं और जो अंग्रेजी के समर्थक हैं वे भी अपने बच्चों को हिंदी पढ़ा रहे हैं। हिंदी भारत की ऐसी भाषा है जो संसार के 100 से अधिक विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जा रही है। सारे औद्योगिक देश यह मान बैठे हैं कि भारत प्रबल आर्थिक शक्ति भी है और वहां जनसंपर्क हिंदी के माध्यम से ही हो सकता है। इसीलिए बड़ी-बड़ी अरब-खरबपति कंपनियां अपने माल का प्रचार ही केवल हिंदी में नहीं कर रही हैं अपितु अपने सामानों के लेबल आदि भी हिंदी में देने लगी हैं। वे भविष्य की परख कर रहे हैं इसलिए ऐसा कर रहे हैं।

यह बात भूलने की नहीं है कि किसी देश की संपर्क भाषा या राजभाषा वही हो सकती है जिसका भौगोलिक संबंध मध्य का हो और हिंदी की यह भौगोलिक स्थिति उसके लिए लाभप्रद है। हिंदी भाषा-भाषी राज्य पंजाबी, गुजराती, मराठी, आंध्र, उड़ीसा और कर्नाटक से सटे हैं, इसलिए इसे जानने में सुविधा है। इसके साथ ही करोड़ों विद्यार्थियों ने अहिंदी प्रदेशों में हिंदी की शिक्षा प्राप्त की है, वे हिंदी के साधक हैं। आज की अराजक छुद्रवादी, विभाजक, जातिग्रस्त, संप्रदायग्रस्त वातावरण में राष्ट्र की एकता का महत्व इतना अधिक है, जिसकी कल्पना चिंतक कर रहे हैं। इसकी महत्ता केवल भारत के लिए ही नहीं विश्व के लिए भी है, क्योंकि जहां इसके माध्यम से दलितों की पुकार मुखर होती है वहीं प्रगति के लिए पाथेय का संकल्प भी। हिंदी किसी एक जाति, संप्रदाय की भाषा नहीं है, रैदास से तुलसीदास और कबीर से अबदुर्रहीम खानखाना तक की कृति से मंडित हैं।

आज के युग में बिना विज्ञान के हमारी प्रगति नहीं हो सकती और जिस गति से

विज्ञान बढ़ रहा है उसे कम से कम भारत की एक भाषा को तो ग्रहण करना ही होगा ताकि अन्य भारतीय भाषाओं में वह संदेश जा सके। हिंदी में भारतीय भाषाओं का मानक साहित्य जितना है और जिस गति से अनुवाद हुआ है वह हिंदी की ज्ञान-आस्था का प्रतीक है।

हिंदी हमारे राष्ट्रीय आंदोलन की, हमारी मुक्ति की, हमारे ज्ञान-विज्ञान की, हमारे संकल्प और स्वप्न की धात्री है और राष्ट्रीय एकता की ऐसी संवाहिका है जिसे संपूर्ण राष्ट्र का स्नेह प्राप्त है। गांधी ने एक बार कहा था कि दुनियां से कह दो कि हमें अंग्रेजी नहीं आती। वह दिन राष्ट्र के उत्थान का और उसकी सामासिक संस्कृति का समर्थन करेगा जिस दिन संपूर्ण भारत की राष्ट्र भाषा सच्चे अर्थों में हिंदी हो जाएगी। आइए, हम एक-एक बूंद कर हिंदी को अपनी सेवा अर्पित करें जिससे क्षीरसागर बनेगा और उसका पान कर हम अमृतपुत्र की पुरानी परंपरा स्थापित कर सकेंगे हमारी राष्ट्रीय एकता के लिए हिंदी अनिवार्य एवं आवश्यक है। □

राष्ट्रभाषा की जगह एक हिंदी ही ले सकती है, कोई दूसरी भाषा नहीं।

—महात्मा गांधी

तुलनात्मक भारतीय साहित्य एवं पद्धति विज्ञान का प्रश्न

डॉ. इंद्रनाथ चौधुरी

डॉ. इंद्रनाथ चौधुरी साहित्य अकादमी के सचिव हैं तथा विद्वान साहित्यकार हैं। उन्होंने भाषा और साहित्य से जुड़े अनेक सवालों पर अपने स्पष्ट विचार व्यक्त किए हैं। प्रस्तुत लेख में उन्होंने तुलनात्मक आलोचनात्मक पद्धति का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र ने तुलनात्मक भारतीय साहित्य के उद्भव या विकास में जहां कोई योगदान नहीं दिया वहां दूसरी ओर हमारे पारंपरिक संस्कृत साहित्य की कतिपय अद्भुत विशेषताओं के कारण भी संस्कृत साहित्य के इतिहास में इस ओर कोई सचेष्टता नहीं दिखाई पड़ी। संस्कृत के सृजनशील कृतिकारों ने देशी भाषा में लिखित साहित्य के प्रति कोई रुचि नहीं दिखलाई और इसलिए इस साहित्य की संस्कृत पटभूमिका को लेकर कोई रचना उपलब्ध नहीं है। हमारे आधुनिक भाषाओं के उद्भव के साथ-साथ इस दिशा में तुलनात्मक अध्ययन की संभावनाएं दिखाई पड़ीं, मगर फिर भी ब्राह्मणवाद के जुड़े हुए हमारे संस्कृत पांडित्य ने इस ओर कोई कदम नहीं बढ़ाया। सन् 1753 में अपने आक्सफोर्ड लेक्चर्स ऑफ पोयट्री में जब राबर्ड लाउथ ने हिब्रू कविता के साथ यूनानी कविता की तुलना की तब भारतवर्ष में देवभाषा संस्कृत की कविताओं के साथ देशी या विदेशी भाषाओं में रचित कविता की तुलना एक अमानवीय व्यापार थी। इसीलिए भारतवर्ष में भारतीय, फारसी तथा अरबी

कविताओं की तुलनात्मक अध्ययन का अवकाश नहीं था यद्यपि अठारहवीं शती में संस्कृत, देशी भाषा अथवा अरबी, फारसी जानने वाले विद्वान इस देश में मौजूद थे। इसलिए उन्नीसवीं शती के अंत में जब इस देश में आधुनिक साहित्यिक पांडित्य का प्रसार हुआ, तब हमारे यहां तुलनात्मक साहित्यिक अध्ययन की कोई परंपरा ही नहीं थी। अन्यान्य कार्यों के लिए अरबी, फारसी के ज्ञान की जरूरत तो थी मगर दूसरी एशियाई भाषाओं में रचित साहित्य के ज्ञान की हमने कोई आवश्यकता ही महसूस नहीं की। दूसरे एशियाई साहित्य पर भारतीय साहित्य, दर्शन एवं धर्म के प्रभाव का तुलनात्मक विवेचन भारतीय विद्वानों के स्थान पर यूरोपीय विद्वानों ने शुरू किया। अंग्रेजी साहित्य के संपर्क में आने पर ही भारत में साहित्य के प्रति तुलनात्मक दृष्टि का वास्तविक प्रसार हो सका और इस कार्य में अंग्रेजी के माध्यम से दूसरे यूरोपीय साहित्य से भी हम परिचित हो सके। मगर बीसवीं शती के प्रारंभ में जब विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाओं में रचित साहित्य की ओर हमारा रुझान बढ़ा तब आलोचना-कार्य में तुलनात्मक दृष्टि को स्वीकार करने पर भी तुलना के लिए दूसरी भारतीय भाषाओं में रचित साहित्य के स्थान पर अंग्रेजी साहित्य की ओर ही हमारा ध्यान गया। कदाचित् इसका एक कारण, जैसा कि आर. के. दास गुप्त कहते हैं हमारी वह औपनिवेशिक मनोवृत्ति थी जिसके फलस्वरूप दूसरी भाषाओं के स्थान पर अंग्रेजी साहित्य के प्रति ही हमारा पूरा ध्यान केंद्रित रहा। (बिगनिंग्स ऑफ कंपैरेटिव लिटरेचर, शोध लेख, 1977)। साधारण पाठक यह समझते थे कि विभिन्न भारतीय भाषाओं में रचित मध्ययुगीन साहित्य की एक जैसी विषय-वस्तु और अभिप्रायों का साम्यमूलक तुलनात्मक अध्ययन काफी महत्वपूर्ण हो सकता है मगर विद्वानों ने इस ओर ध्यान न देकर अंग्रेजी साहित्य की तुलना में भारतीय भाषाओं में रचित किसी एक साहित्य के अध्ययन को अधिक महत्व दिया क्योंकि उनके अनुसार बौद्धिक दृष्टि से यह ज्यादा लाभदायक था। यह निश्चित है कि अंग्रेजी साहित्य के प्रति हमारे आग्रह के फलस्वरूप हमारी साहित्यिक दृष्टि का विकास हुआ और हमने एक बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में साहित्य को ग्रहण करने की कोशिश की। हमारे आधुनिक साहित्यकारों ने पाश्चात्य साहित्य के संदर्भ में आधुनिक भारतीय साहित्य के विकास की बात की और इस तरह तुलनात्मक दृष्टिकोण का प्रसार किया।

भारतीय संदर्भ में भारतीय साहित्य की अवधारणा ही अपने आप में तुलनात्मक साहित्य है क्योंकि यहां एक से अधिक साहित्यों की ओर संकेत हैं। मगर विभिन्न भारतीय साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन की एक स्वतंत्र स्थिति है। यह फ्रांसीसी-जर्मन संप्रदाय की तरह कृतियों के तथ्यपरक संपर्कों (रपोर्टस डी फेट) की छानबीन नहीं हो सकती क्योंकि विभिन्न भारतीय भाषाओं में रचित साहित्यों का पारस्परिक संपर्क उस रूप में बाह्य (एक्सटर्नल) नहीं है जैसे कि पाश्चात्य तुलनात्मक साहित्य में जर्मन, फ्रांसीसी या रूसी साहित्य के संबंधों को बाह्य कहा जाता है। वहां इनमें संपर्क चेतना के स्तर पर नहीं होता

वरन् संपर्क स्थापित करना पड़ता है और एक सुनिश्चित स्थिति बन जाने पर तथ्यों के रूप में उनका विश्लेषण हो पाता है। बहुभाषिक देश होने के नाते हम एक जटिल चेतना में जीते हैं भले ही हम एक ही भाषा (जैसे हिंदी) बोलते हों। बहुभाषिक स्थिति (मल्टीलिंग्वल सिचुएशन) बहुभाषीय अवस्थिति (पौलिग्लॉट ओरिएनटेशन) से भिन्न एक विशिष्ट चेतना है, और इस स्थिति में पनपने वाले साहित्यों (जैसे हिंदी, बंगला, मराठी आदि) के अध्ययन के लिए उन मूल ऐतिहासिक तथा साहित्यिक स्रोतों से परिचित होना पड़ता है जिनकी प्रेरणा से इन साहित्यों में लगभग एक ही प्रकार की आवेशात्मक तथा बौद्धिक अनुभूतियों का प्रसार हुआ है। भारतीय तुलनात्मक साहित्य की यह पहली विशेषता है जिसके फलस्वरूप पाश्चात्य तुलनात्मक साहित्य से इसकी स्वतंत्र स्थिति स्पष्ट हो जाती है। भारतीय तुलनात्मक साहित्य एक बहुभाषिक स्थिति में प्रसारित स्वाभाविक रूप से तुलनात्मक है और इसके विपरीत पाश्चात्य तुलनात्मक साहित्य नाना भाषाओं की एक असदृश दुनिया है जहां तुलना को रूप देना पड़ता है।

एक ही प्रकार के ऐतिहासिक तथा साहित्यिक स्रोतों से प्रभावित होने के कारण यहां सादृश्यमूलक अध्ययन के लिए अधिक अवसर हैं। इसका तात्पर्य कोई सार्विक अनुभूति का सादृश्यमूलक अध्ययन नहीं, वरन् एक निश्चित ऐतिहासिक स्थिति मे उभरने वाली घटनाओं से प्रभावित साहित्यों का अध्ययन है जिनमें आपस में और कोई दूसरा प्रतीयमान संबंध नहीं है जैसे कि देश-विभाजन की ऐतिहासिक स्थिति के आश्रय से शरणार्थियों की अनुभूतियों को लेकर हिंदी के यशपाल और बंगला के प्रबोधकुमार सन्याल के उपन्यासों का अध्ययन।

मगर तुलनात्मक भारतीय साहित्य के अध्ययन के लिए हमारे भारतीय साहित्य की कोई एक अवधारणा नहीं है। अलग-अलग भाषाओं में रचित साहित्यों के आश्रय से अनुलंबीय ढंग से भारतीय साहित्येतिहास का अध्ययन भारत तुलनात्मक साहित्य का एक बहुत ही प्रमुख क्षेत्र है। एकक व्यवस्था स्तर पर एकक साहित्य के रूप में भारतीय साहित्य के इतिहास की अवधारणा का निर्माण बहुत ही जरूरी है। भारतीय साहित्य की बात करते हुए हम सांप्रतिक काल में भी इसे विभिन्न भाषाओं में अभिव्यक्त नाना साहित्यों का मात्र संग्रह ही मानते हैं। हमारी साहित्यिक परंपरा के ऐतिहासिक पुनर्निर्माण को हम अभी तक पूरा नहीं कर पाए हैं। एकक साहित्य के रूप में भारतीय साहित्य की अवधारणा का निर्माण तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन के आश्रय से ही पूरा किया जा सकता है।

किसी एक भारतीय भाषा में रचित एकक साहित्याध्ययन में कृतियों का अध्ययन, लेखक के व्यक्तित्व का अध्ययन और साथ ही काल, परिवेश और जातिगत् संदर्भों में अध्ययन में कारण-कार्य संबंधों का ध्यान रखना जरूरी होता है मगर तुलनात्मक साहित्याध्ययन में कारण-कार्य संबंधों के दूसरे गहरे रूपों में परिचित होना बहुत ही आवश्यक है। इसलिए

साहित्य के इतिहास से अलग तुलनात्मक साहित्यिक इतिहास की रचना तुलनात्मक साहित्य की प्रविधि से ही संभव हो पाती है। उदाहरण के रूप में बंगला के कवि मधुसूदन ने पहले-पहल अंग्रेजी में लिखना शुरू किया। साहित्य का इतिहास मात्र इसकी सूचना देगा मगर तुलनात्मक साहित्यिक इतिहास इसका कारण बताएगा और यह भी कहेगा कि उस समय भारतीय विद्वान अंग्रेजी में लिखना पसंद क्यों करते थे। साहित्य का इतिहास यह भी सूचना देगा कि मधुसूदन ने कब बंगला में लिखना शुरु किया और साहित्यिक इतिहास उसका कारण ढूंढ कर लाएगा। साहित्य का इतिहास उनकी अंग्रेजी कविता में 'मैं आलबियां के सुदूर तट के लिए आहें भरता हूं' में अभिव्यक्त दृष्टि का बंगला कविता 'मां, इस दास को रखना' में परिवर्तित होने की सूचना देगा मगर साहित्यिक इतिहास इसका विश्लेषण करेगा और यह भी बताएगा कि बंगला रचना में 'आलबिया' को कवि किस प्रकार आत्मसात करता है (देखिए, अमिय देव का शोध लेख कंपैरेटिव इंडियन लिटरेचर 1981)। वस्तुतः तुलनात्मक साहित्य के पद्धति विज्ञान के आश्रय से भारतीय साहित्य के इतिहास की साहित्यिक इतिहास का एकक अवधारणा बन सकती है। कालक्रम के स्थान पर समस्वार्थता के तत्वों (एलीमेंट्स ऑफ सौलिडेरिटी) के आधार पर विवेचन करने पर ही यह संभव हो सकता है मगर समस्वार्थता के तत्वों को चुनने के लिए भारतीय साहित्य के संदर्भ में उन कारण-कार्य संबंधों का ध्यान रखना होगा जिनके पीछे पाश्चात्य साहित्य का एक खास हाथ रहा है। दरअसल भारतीय साहित्य के साहित्यिक इतिहास की रचना में पाश्चात्य साहित्य के साथ भारतीय साहित्य के संबंधों तथा विभिन्न भारतीय भाषाओं में रचित साहित्यों के पारस्परिक संबंधों में पहला संबंध बिल्कुल ऐतिहासिक है और दूसरा अंशतः ऐतिहासिक एवं अंशतः काव्यशास्त्रीय सौंदर्यपरक रहा है। स्वाधीनता के बाद तीसरी दुनिया की स्थिति बन जाने से पाश्चात्य साहित्य के साथ हमारे इस ऐतिहासिक संबंध में कोई खास अंतर नहीं आया है। मध्ययुगीन भारतीय साहित्य के साथ अरबी तथा फारसी साहित्य के ऐतिहासिक एवं काव्यशास्त्रीय सौंदर्यपरक संबंधों का अध्ययन भी इसमें जुड़ा हुआ है।

अब तक के विवेचन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि पाश्चात्य तुलनात्मक साहित्य से अलग भारतीय तुलनात्मक साहित्य के लिए भारतीय साहित्यिक इतिहास की संकल्पना की रचना अपने आप में एक महत्वपूर्ण विषय है। भारत के बहुभाषीय स्वरूप के कारण इस संकल्पना की रचना तुलनात्मक साहित्य के स्तर पर ही संभव है। तुलनात्मक साहित्य की प्रविधि के आश्रय के एकक व्यवस्था स्तर पर एकल साहित्य के रूप में भारतीय साहित्यिक इतिहास की अवधारणा का निर्माण हो सकता है। भारतीय विद्वानों में सर्वप्रथम श्री अरविंद ने अपनी पुस्तक 'इंडियन लिटेरेचर' में समस्वार्थता के तत्वों के निर्देश आधार पर भारतीय साहित्य की अवधारणा के निर्माण का सफल प्रयत्न किया था। उनके वैदिक काल से लेकर भक्तिकाल तक के भारतीय साहित्य के केंद्रीय स्वर, रूप तथा सौंदर्यात्मक मूल्य का पता

लगाया और भारतीयों के सांस्कृतिक मन की अभिव्यक्ति के रूप में उसे स्वीकृति दी। श्री अरविंद के अनुसार भारतीय मन का मूल स्वर आध्यात्मिक, अंर्तदृष्टि तथा मनोगत है (द इंडियन फाउंडेशन ऑफ इंडियन कल्चर भाग XIV)। बाद में सुनीतिकुमार चटर्जी, नगेंद्र कृष्ण कृपलानी आदि ने इसी मूल स्वर को स्वीकारते हुए भारतीय साहित्य के दूसरे समस्वार्थता के तत्वों का उल्लेख किया, जिसके द्वारा भारतीय साहित्य की एकता का पता लग सके। कृष्ण कृपलानी का कहना है कि विभिन्न भारतीय साहित्य के बदलते हुए प्रारूप के बावजूद कुछ तत्व दूसरों की अपेक्षा अधिक विशिष्ट प्रमाणित हुए हैं, और जिन्हें काल नष्ट नहीं कर सका है। इनमें से एक है, एक असीम सत्ता की प्रखर अनुभूति (मार्डन इंडियन लिटरेचर 1980, पृ. 120)। एकता के इन तत्वों की सहायता से ही भारतीय साहित्य के एकक रूप का ढांचा तैयार हो जाता है। इस ढांचे में बाद में अरबी-फारसी परंपरा तथा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के प्रभावस्वरूप चिंतन और अभिव्यक्ति के नए स्वर उभरते हैं। उदाहरण के लिए, सूफी विचारधारा अथवा स्वच्छंतावादी यूरोपीय दृष्टि आदि। मगर इससे भारतीय साहित्य के मूल स्वर की प्रामाणिकता और अधिक सिद्ध हुई है और अनिवार्य अपवर्तन, उत्क्रमण तथा रूपांतरण से भारतीय साहित्य का परिप्रेक्ष्य और अधिक विस्तृत हो सका है। आज नाना प्रकार के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक कारणों से भारतीय साहित्य की प्राणशक्ति या उसके मूल स्वर पर दबाव पड़ा है परंतु फिर भी यह मूल स्वर अपने जटिल विन्यास में अब भी विद्यमान है। यहां केवल एकता के तत्व नहीं वैविध्य के तत्वों को भी ध्यान में रखना पड़ेगा क्योंकि समस्वार्थता के तत्वों से निर्मित अन-टूटी भारतीय परंपरा को स्वीकार करते हुए विभिन्न भाषाओं में लिखने वाले हमारे लेखकों की स्वाधीनता भी महत्वपूर्ण है। उदाहरण के रूप में, महाकाव्य की परंपरा ने हमारे लेखकों को बहुत ही प्रभावित किया जिसके परिणामस्वरूप तुलसीदास, कंबन, कृत्तिवास, माधव कंडाली, मुक्तेश्वर, अभिनव पंपा आदि की रचनाओं में एकरूपता दिखाई पड़ती है। मगर साथ ही इनका वैविध्य भी आकर्षक है। ये सारे लेखक एक ही परंपरा से जुड़े होने पर भी निराले ढंग से एक दूसरे से भिन्न भी हैं। भारतीय साहित्य की एकता उसके इस वैविध्य के कारण और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। (शिवकुमार दास, द आइडिया ऑफ एन इंडियन लिटरेचर, वगर्थे। 19 : 3)। इस प्रकार भारतीय साहित्य के इतिहास की रचना में इस निर्देश-आधार की सहायता से यानि एकता और वैविध्य के तत्वों के आश्रय से विभिन्न भाषाओं की रचनाओं के सर्वभारतीय संबंधों को आकंना सहज हो जाता है।

भारतीय साहित्य के इतिहास की रचना में दूसरा निर्देश-आधार हमारी राष्ट्रीय अनुभूति के परिवर्ती आयाम हैं जिनको विभिन्न कथ्यों के द्वारा साहित्य में पुनः सृजित किया गया है। इससे साहित्य के काल-विभाजन की समस्या का बहुत ही अच्छा समाधान हो सकता है। राष्ट्रीय अनुभूति के परिवर्ती आयामों के आश्रय से ऐतिहासिक दृष्टि से विश्वासोत्पादक

अविच्छिन्न साहित्यिक अभिव्यक्ति का आलेख प्रस्तुत किया जा सकता है। उदाहरण के रूप में, वीर काव्यों की युद्धानुभूति और उथल-पुथल, भक्ति, रीति तथा वैष्णव काव्यों की आध्यात्मिक तथा रोमानी प्रेमानुभूति, नव-जागरण की अनुभूति, स्वच्छंदतावादी लोकोत्तर अनुभूति, राष्ट्रवाद की अनुभूति, प्रकृतवादी तथा यथार्थनुभूति, सामाजिक यथार्थ या परिवर्तनवादी अनुभूति तथा सांप्रतिक काल में लेखकों की विघटित तथा मोहभंग की स्थिति। इस अध्ययन में प्रांतीय भाषाओं में रचित साहित्य के विशिष्ट लक्षणों का तुलनात्मक प्रस्तुतीकरण भी अपेक्षित है। यहां भी एकता और विविधता के आश्रय से भारतीय साहित्य के इतिहास की रचना करनी है।

तुलनात्मक भारतीय साहित्य के अध्ययन के लिए तुलनात्मक पद्धति की सहायता लेनी पड़ेगी। तुलनात्मकतावादी आलोचक के लिए तुलना एक सचेतन एवं मूलभूत पद्धति है। साहित्यिक उदाहरणों की अव्यवस्थित विस्तृत सूची को समेटने के लिए जब तुलनात्मक पद्धति के अंतर्गत तुलना का प्रयोग किया जाता है तब अध्ययन से निकलने वाले निष्कर्षों का इस हद तक तनुकृत होने की संभावना रहती है, जहां यह अवधारणा अपनी शक्ति काफी खो देती है। अवधारणा को तनुकृत (डाइल्यूट) कहने की यह प्रवृत्ति अगर एक निश्चित सीमा को पार कर जाए जहां प्रत्येक संभाव्य तुलनाएं 'तुलनात्मक शोध' का अंग मान ली जाती हैं तब इस पद्धति की अपनी विवेचक शक्ति भी खत्म हो जाती है। उदाहरण के लिए आधुनिकबोध को प्रकट करने वाले प्रत्येक हिंदी, बंगला या मराठी नाटक में विसंगतिबोध को ढूंढ निकालना मानो, आधुनिकताबोध तथा विसंगतिबोध को एक दूसरे का प्रर्याय मान लेना है अथवा प्रगतिशील प्रत्येक कविता को प्रगतिवाद का पर्याय मान लेना अथवा हर नई कविता को अस्तित्ववादी विचारधारा के साथ जोड़ना तुलनात्मक पद्धति के साथ अन्याय करना है। आधुनिक साहित्य के प्रत्येक पक्ष, विधा, कथ्य या प्रवृत्ति में कुछ तुलनीय अंश अवश्य विद्यमान रहता है मगर तुलनात्मक पद्धति के लिए यह आवश्यक है कि तुलनात्मक विश्लेषण एवं तुलनात्मक विवरण के अंतर को प्रकट करते हुए अध्ययन का प्रसार करे। प्रत्येक विवरण कहीं-न-कहीं अप्रत्यक्ष रूप से तुलनात्मक होता है मगर किसी एक पद्धति, ढांचा या प्रतिमान के आश्रय से किया गया प्रत्येक विश्लेषण ऐसा नहीं होता। इसीलिए तुलनात्मक साहित्य की समस्याओं को समझते हुए पद्धति के रूप में तुलना के प्रयोग में बहुत ही सावधानी बरतनी पड़ती है। तुलनात्मक साहित्याध्ययन सादृश्य संबंधात्मक, परंपरा अध्ययन अथवा प्रभाव सूत्रों का अध्ययन होता है। यह साम्य या वैषम्यमूलक हो सकता है मगर दोनों ही स्थितियों में अध्ययन का गहन या सुव्यवस्थित होना आवश्यक है। सादृश्य संबंधात्मक अध्ययन में तुलनात्मकतावादी आलोचक 'पालीजेनेटिक' पद्धति का सहारा लेता है जहां उसकी सांश्लेषिक दृष्टि के पीछे कोई ठोस औचित्य विधान नहीं होता। यहां तुलनात्मकतावादी आलोचक का विश्रांति का मूड होता है एवं उससे

ही चिंतन का प्रसार संभव होता है एवं अध्ययन की सारी दृष्टि सृजनात्मक विधिगत् (डियोटरो क्रिएटिव) बन जाती है। परंपरा अध्ययन में साहित्यों में प्रतिफलित राष्ट्रीय 'चेतना' (स्पिरिट) का समांतरीय अध्ययन किया जाता है। तुलनात्मक साहित्याध्ययन में 'प्रभावसूत्रों' का अध्ययन किया जाता है। तुलनात्मक साहित्याध्ययन में 'प्रभावसूत्रों' का अध्ययन उसकी केंद्र पद्धति है। प्रभावसूत्रों के अध्ययन में तुलनात्मक पद्धति मात्र स्रोतों या माडलों की खोज नहीं करती है। इसका मुख्य कार्य यह विश्लेषित करना है कि प्रापक लेखक ने अपने मॉडल को नया रूप दिया है तथा कौन-सी नई काव्यात्मक क्रिया को उसमें जोड़ा है। आखिरकार साहित्यिक पांडित्य को व्यवस्थित ढंग से प्रसारित होना तभी संभव होता है जब साहित्यिक कृति की 'साहित्यिकता' की खोज को आलोचना का मुख्य केंद्र बिंदु स्वीकार कर लिया जाता है।

तुलनात्मक आलोचनात्मक तुलनात्मक पद्धति का आधार नियम है। तुलनात्मक भारतीय साहित्य के सुव्यवस्थित काव्यशास्त्रीय सौंदर्यपरक तथा आलोचनात्मक विश्लेषण के लिए भारतीय तुलनात्मकतावादी आलोचक इस कोशिश में है कि वे अपनी ही तुलनात्मक आलोचना का प्रसार तथा 'अधिभाषा' का निर्माण करें। संस्कृत तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र के तुलनात्मक पर्यवेक्षण के द्वारा ही एक लाभदायक सर्वभारतीय आलोचनात्मक सिद्धांत भाषा का निर्माण किया जा सकता है जिससे ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय तथा काव्यशास्त्रीय सौंदर्यपरक दृष्टि की सहायता से तुलनात्मक भारतीय साहित्य के नाना आयामों का मूल्यांकन संभव है। मगर मूल्यांकन के लिए तुलनात्मक पद्धति को अंतर्विधावर्ती होना जरूरी है। इस पद्धति-विज्ञान का यह विश्वास है कि औचित्य ही सर्वमान्य सिद्धांत है। संस्कृत काव्यशास्त्र के साथ पाश्चात्य काव्यशास्त्र को जोड़कर निर्मित 'अधिभाषा' की अंतर्विधावर्ती दृष्टि की सहायता से मूल्यांकन की तुलनात्मक भारतीय साहित्य के अध्ययन का वास्तविक प्रसार कर सकता है। इस प्रकार के अध्ययन से ही विभिन्न साहित्यों में एक कॉमन आइडिंटिटी को ढूंढ निकालना तथा अंततः एकता और विविधता के 'धरातल पर भारतीय साहित्य के एकक साहित्य रूप की अवधारणा का निर्माण संभव हो पाता है। □

हिंदी : सामासिक संस्कृति की संवाहिका

शिवसागर मिश्र

हिंदी मात्र एक भाषा नहीं है, अपितु उसके पास विशाल साहित्य एवं संस्कृति की अमूल्य निधि है। शिवसागर मिश्र ने हिंदी के विकास के लिए जो अथक श्रम किए वे अतीत की बात नहीं है, अपितु आज भी उनका महत्व दिखाई देता है।

भारत एक अद्‌भुत और अपूर्व देश है। वैसे तो आदिकाल में प्रत्येक देश और प्रदेश की जाति या समाज का गठन विभिन्न जन (ट्राइब, कबीला) के संयोजन से हुआ होगा, किंतु जितनी विभिन्नता, विविधता और अनेकता भारत के सामाजिक, प्रादेशिक और राष्ट्रीय गठन में मिलती है, उतनी शायद अन्यत्र नहीं मिलती और इसके बावजूद यह देश चौथी सदी ईसवी पूर्व से एकता के सूत्र में आबद्ध है। महाकवि रवींद्रनाथ ठाकुर ने भारत के इसी स्वरूप को देखकर लिखा :

हेथाय आर्य हेथाय अनार्य
हेथाय द्रविड़ चीन,
शक हूण दल पठान मुगल
एक देहे होलो लीन।

बाहर से आने वाली विभिन्न जातियां पूर्व जाति को कायम न रख सकीं और इस देश की मुख्य धारा में मिलती चली गईं। विभिन्न धर्मावलंबियों, मत-मतांतरों, आचार-विचार वालों और विभिन्न जातियों को इस देश ने शरण दी। यहां के निवासी तो यहां की भावधारा के साथ प्रवाहित होते ही रहे, बाहर से आने वाले भी इस देश की मुख्य सांस्कृतिक धारा

से अपने को अलग नहीं रख सके। इस प्रकार इस देश में बाहर से आने वाले धर्मों या यहां की धरती से उद्भूत धर्मों, पंथों आदि में सांस्कृतिक विरोध की जगह सद्भावपूर्ण एकता की अंतःसलिला सरस्वती की तरह प्रवाहित होती रही।

जिस प्रकार राष्ट्र किसी धर्म, संप्रदाय, जाति अथवा भाषा की विभिन्नता से ऊपर रहता है, उसी प्रकार राष्ट्रभाषा और संपर्क भाषा भी विभिन्न जातियों, उपजातियों, धर्मों, संप्रदायों से ऊपर रहती है। इतिहास साक्षी है कि किसी देश की जातीय भाषा को न तो दबाया जा सकता है, न उसे बलपूर्वक समाप्त किया जा सकता है। यदि जोर-जबर्दस्ती ऐसा करने का प्रयत्न किया जाता है तो शासन के ही बदलने का खतरा उत्पन्न हो जाता है। पूर्वी पाकिस्तान का बंगला देश में परिवर्तन इस कथन की सत्यता को सिद्ध करता है। यह भी जरूरी नहीं है कि धर्म एक होने से उनकी भाषा भी एक हो, अन्यथा अफगानिस्तान, अरब, ईरान, तुर्की, पाकिस्तान और बंगला देश की भाषा एक ही होती।

भाषा को संस्कृति की संवाहिका कहा गया है। यह सही भी है। भाषा संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है, लेकिन संस्कृति नहीं है। मनुष्य ने आदिम काल से अब तक प्रकृति से और परिवेश से संघर्ष किया है और वह निरंतर संघर्ष करता आ रहा है। जीवित रहने के लिए और जीवनयापन के लिए उसे प्रकृति को अपने अनुकूल बनाना पड़ता है। इस क्रिया को सिद्ध करने के लिए उसे अनेकानेक भौतिक उपकरण जुटाने पड़ते हैं। आदि काल में तो उसे आयुधों और अस्त्रों का आविष्कार करना पड़ा होगा। आस-पास की परिस्थिति और परिवेश पर नियंत्रण रखने के लिए कई उद्यम करने पड़े होंगे। इस क्रम में उसे अपने क्रिया-कलापों, आचार-विचार, भाव-अनुभाव की बाह्य और आंतरिक सम-विषम स्थितियों से गुजरना पड़ा होगा। इस अनवरत प्रक्रिया में उसका अपना और सामाजिक विकास भी हुआ होगा। जाहिर है, इस दौर में अनिवार्य उपलब्धि के रूप में भाषा के साथ-साथ उसकी संस्कृति भी उपजी होगी।

संस्कृति और प्रकृति में बहुधा विरोधाभास देखा जा सकता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि प्राकृतिक वृत्तियां हैं, किंतु इनका नियमन संस्कृति द्वारा ही किया जा सकता है। विख्यात विचारक रूसो ने कहा है : 'जैसे-जैसे समाज में शिक्षित लोगों की संख्या बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे सत्यवादियों की संख्या घटती जाती है।' कहने का अर्थ यह कि शिक्षा से या विज्ञान की उपलब्धियों से मनुष्य सभ्य तो होता है, लेकिन वह उसी अनुपात में प्रायः मनुष्यता से और मानवोचित गुणों से दूर होने लगता है। बुद्ध, महावीर, शंकर, रामानंद, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, स्वामी दयानंद, महर्षि रमण, निजामुद्दीन औलिया, कबीर आदि को यदि आज के अत्याधुनिक समाज के समक्ष ला खड़ा किया जाए, तो वे अर्द्ध-नग्न, असभ्य आदि की विशेषता से ही विभूषित होंगे, किंतु उन्हें यदि हम अपने सांस्कृतिक, सामाजिक या जातीय इतिहास से भी निकाल दें तो हमारी संस्कृति अनाथ हो जाएगी। संस्कृति

का जो उत्स उनके पास था, उसी की सुशीतल धारा में भारत का उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम आप्लावित हुआ।

डॉ. रामविलास शर्मा ने सभ्यता की देन को भौतिक संस्कृति की संज्ञा दी है और मनुष्य की भाव-धारा, संवेदना आदि को संस्कृति में शामिल किया है। जहां तक मूल संस्कृति का प्रश्न है, भारत की संस्कृति उदात्त भावनाओं, मानवीय मूल्यों यथा सह-अस्तित्व, अहिंसा, प्रेम, सद्भाव, दया, सत्य, परिग्रह आदि की सूक्ष्म अभिव्यक्ति है। यह सांस्कृतिक देन एक दो वर्षों की देन नहीं, बल्कि हजारों वर्षों से यहां प्रवाहित भाव-धारा और संवेदनाओं से उद्भूत है। सर्वविदित है कि यहां हिंदू (यह शब्द मुसलमानों की देन है), बौद्ध, पारसी, मुसलमान, सिख, ईसाई अनेक होते हुए भी एक ही भाव-धारा से जीवनी-शक्ति प्राप्त करते रहे हैं। आचार की दृष्टि से, विभिन्न धर्मावलंबियों और विभिन्न संप्रदायों में निस्संदेह भिन्नता रही है, किंतु सबकी अनुभूति रही है कि विचार के धरातल पर वे कहीं-न-कहीं एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। यही कारण है कि भारत की संस्कृति को सामासिक संस्कृति कहा गया है। सामासिकता का यह अर्थ नहीं कि यहां की विभिन्न संस्कृतियां एक दूसरे में विलीन हो गई हैं, बल्कि उनका आपस में सह-अस्तित्व रहा है। यह सद्भाव और सौहार्द्र की अनुभूति ही यहां की मूलधारा रही है, जिसकी पृष्ठभूमि में यहां के संतों, सूफियों और गुरुओं ने शाश्वत रचनाएं की हैं। सामासिक संस्कृति सर्वदा यहां के सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश पर विजय पाने का एक साधन बनी रही है। इस संस्कृति में यहां के निवासियों के भाव, विचार, संस्कार, संवेदनाएं आदि शामिल हैं। इस दृष्टि से भाषा भी संस्कृति का अर्थ देने लगती है। डॉ. रामविलास शर्मा के विचारों के अनुसार देखा जाए तो यदि लकड़ी, पत्थर या धातुओं के बने आयुध स्थूल संस्कृति के प्रतीक हैं तो भाषा सूक्ष्म संस्कृति का प्रतीक है।

यह कथन भ्रामक है कि मेल-जोल की भाषा के रूप में उर्दू का उदय हुआ। मीर अम्मन (19वीं सदी के आरंभ में) ने इसका जन्म अकबर के समय माना था। उन्नीसवीं सदी के मध्य में सर सैयद अहमद खां के अनुसार अकबर के कुछ समय के बाद शाहजहां के समय उर्दू का जन्मकाल माना जाना चाहिए। श्री सैयद एहतिशाम हुसैन ने उर्दू साहित्य का इतिहास में लिखा है: 'जब लड़ाइयों, चढ़ाइयों, आक्रमणों और संग्रामों से उत्पन्न होने वाली घृणा की लहर उठी, तो हिंदुओं और मुसलमानों के हृदय में मेल-मुहब्बत के स्रोत फूट पड़े, जिन्होंने कला और धर्म सबको लपेट में ले लिया और उनके भावों, विचारों और कल्पनाओं को एक दूसरे के समीप कर दिया। भक्ति को एक लोकप्रिय और उस समय की समस्याओं को देखते हुए प्रगतिशील आंदोलन बनाने में हिंदू और मुसलमान दोनों भक्तों का हाथ है। जब आचार-विचार की सीमाएं इस प्रकार निकट आ गई हों तब एक ऐसी भाषा के जन्म लेने की संभावना दूर नहीं रह जाती जो मिले-जुले सामाजिक जीवन का चिह्न हो।

डॉ. रामविलास शर्मा ने इस विचार से असहमति व्यक्त करते हुए लिखा है : 'हिंदी-उर्दू

का एक सामान्य आधार है बोलचाल की खड़ीबोली। इस खड़ीबोली में अरबी-फारसी के कुछ या बहुत ज्यादा शब्द आ मिले तो इससे एक नई भाषा नहीं उत्पन्न हो गई। यह खड़ी बोली मुसलमानों के आने से पहले भी थी, उनके शासनकाल में रही और आज भी है। एक दूसरी बात ध्यान देने की है कि जितना ही हम पुराने जमाने के उर्दू लेखकों की रचनाएं पढ़ते हैं, उतना ही साधारणतः अरबी-फारसी के शब्दों की खपत कम मिलती है। जितना ही 20वीं सदी की ओर बढ़ते हैं, उतना ही यह खपत बढ़ती जाती है। अगर बारहवीं-तेरहवीं सदी में मेल-जोल के लिए पांच फीसदी अरबी-फारसी शब्दों की जरूरत थी जो 1947 के आसपास यह जरूरत बढ़कर 85 प्रतिशत तक पहुंच गई है। यानी ज्यों-ज्यों मेल-जोल बढ़ा, त्यों-त्यों हिंदी उर्दू का अलगाव बढ़ता गया। 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।'

ध्यान देने की बात यह है कि भारत में आने वाले मुसलमानों में तुर्क थे और पठान भी, मुगल थे और ईरानी भी। आठवीं सदी में अरब के मुसलमानों ने सिंध देश पर हमला किया। उनकी भाषा अरबी थी। गजनी की भाषा तुर्की थी। बाबर तुर्की भाषा बोलता था। उसने अपनी आत्मकथा तुर्की में लिखी है। किंतु इन सभी आक्रमणकारियों ने भारत में शासन स्थापित करने के बाद यहां की राजभाषा का पद तुर्की को नहीं, फारसी को दिया। कारण, उन दिनों अफ़गानिस्तान, तुर्की आदि देशों पर फारसी का सांस्कृतिक प्रभुत्व था। ये सभी मुसलमान एक जाति के नहीं थे, बल्कि कई जातियों के थे, किंतु यहां आने के बाद वे यहां की जातियों (नेशनलिटी) का हिस्सा बन गए। जो जिस प्रदेश में बसे उन्होंने वहां की बोलचाल की भाषा अपना ली। तुर्क, पठान और मुगल बादशाहों ने अपने शासन की भाषा के रूप में फारसी को स्वीकार किया जो उनकी मातृभाषा नहीं थी। सच तो यह है कि 'भारत में आने वाले मुसलमान स्वयं जातीय और सांस्कृतिक उत्पीड़न के शिकार थे। कहने को शासन तुर्कों का था, लेकिन उनकी राजभाषा थी फारसी। पठानों ने दिल्ली पर राज्य किया, लेकिन दिल्ली और अफगानिस्तान दोनों जगह राजभाषा थी फारसी। ये मुसलमान आक्रामक अलग-अलग जातियों के थे और संख्या में कम थे, इनकी भाषा भी एक न थी, इसलिए वे भारत की अग्रसर जातियों के मुकाबले में अपनी जातीयता की रक्षा न कर सके और उन्हीं में घुल-मिल गए। आज भी बंगाल का मुसलमान बंगला बोलता है और पंजाब का पंजाबी। भोजपुरी इलाके के मुसलमानों की बोलचाल की भाषा भोजपुरी है।

अमीर खुसरो तुर्क थे, लेकिन लिखते थे फारसी और हिंदी में। उन्हें हिंदी से बेहद प्रेम था। उन्होंने लिखा :

चु मन तूतिए हिन्दम, अर रास्त पुरसी
जे मन हिन्दवी पुर्स, ता नग्ज गोयम।

मैं हिंदुस्तान की तूती हूं। अगर तुम कुछ पूछना चाहते हो तो हिंदी में पूछो, मैं तुम्हें

अनुपम बातें बता सकूंगा। अमीर खुसरो के पहले भी अनेक मुसलमानों ने हिंदी में रचनाएं की थीं। अमीर खुसरो चौदहवी सदी में हुए थे। उन दिनों के मुसलमान हिंदी के सहारे फारसी सीखते थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि धर्म का भेद होने से जातीयता में भेद पैदा नहीं होता जैसे अरब, तुर्क, पठान, ईरानी सब एक धर्म—इस्लाम को मानने पर भी एक जाति के नहीं हो जाते। अकबर और जहांगीर के समय हाथियों और तोपों के जो नाम रखे जाते थे, उन पर गौर किया जाए तो मालूम होगा कि उस सयय भी हिंदी शब्दों का कितना महत्व था। हाथियों से खीचीं जाने वाली तोप को गजनल कहते थे और जिन्हें मनुष्य खींचते थे, उन्हें नरनल कहते थे। जहांगीर को रण-रावत नामक हाथी भेंट किया गया था। उसके एक हाथी का नाम था पंच कुंजर, दूसरे का नाम था फतह गज और तीसरे का फौज संगर। बादशाह जिस खिड़की पर जनता को दर्शन देता था, उसका नाम रखा गया था दर्शन झरोखा।

कुछ विद्वानों के अनुसार गुरु नानक के समय (1469-1539) से पंजाब के साहित्य-निर्माण की परंपरा शुरू हुई। गुरु नानक ने अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए पंजाबी के अतिरिक्त सधुक्कड़ी और ब्रज भाषा का प्रयोग किया। ब्रज भाषा और साधु भाषा को हिंदी के अंर्तगत स्वीकारा जाता है। गुरु नानक की एक प्रसिद्ध रचना है 'आरती' जिसमें उन्होंने लिखा है :

गगन में घालु रवि चतु दीपक बने
तारिका मंडल जनक मोती ।।
धुपू मलआनलो पषणु चवरो करे
सगल बनराह फूलंत जोती ।।
कैसी आरती होई भवखंडना तेरी
अनहता सबद बाजंत भेरी ।।

गुरु नानक के बाद जितने भी गुरु हुए उन्होंने अपना संदेश पंजाब से बाहर देश के कोने-कोने तक पहुंचाने का प्रयत्न किया। स्पष्ट है उन्हें ऐसी भाषा की ज़रूरत थी जो सबकी समझ में आ सके। यही कारण है कि परवर्ती गुरुओं ने हिंदी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास ने तो हिंदी में रचनाएं की हीं, गुरु अर्जुन भी स्वयं महाकवि और दार्शनिक थे। साहित्यकार के रूप में उनका योगदान अमूल्य है। उनकी अधिकांश रचनाओं को पढ़कर यह कह सकना कठिन है कि ये हिंदी में हैं या पंजाबी में। गुरु तेग बहादुर ने समस्त उत्तर भारत की यात्रा करके धर्मोपदेश दिया।

अंग्रेजी हुकूमत के स्थापित होने से पहले शायद किसी ने कल्पना भी नहीं की थी कि धर्म के नाम पर मुसलमानों की अलग भाषा और अलग लिपि क्रमशः उर्दू और फारसी हो जाएगी और हिंदुओं की हिंदी तथा देवनागरी। लेकिन अंग्रेजों ने अपने लूट और शोषण

को स्थायित्व देने के लिए हिंदू और मुसलमानों के बीच भेद डाल दिया, उनकी भाषाओं में अलगाव पैदा कर दिया। फूट और अलगाव का यह बीज डाला सन् 1798 ई. में जॉन गिलक्राइस्ट ने। उन्होंने लिखाः 'हिन्दवी को मैंने शुद्ध हिंदुओं की चीज माना है। इसलिए मैंने लगातार उसका प्रयोग भारत की प्राचीन भाषा के लिए किया है जो मुसलमानी आक्रमण के पहले यहां प्रचलित थी। वह हिंदुस्तानी का मूलाधार है। यह हिंदुस्तानी, अरबी-फारसी से कुछ ही दिन पहले बनी हुई ऊपर की इमारत है। अंग्रेजी के लिए जैसे फ्रांसीसी और लेटिन है, वैसे ही हिंदुस्तानी के लिए फारसी और अरबी हैं। अंग्रेजी का मूलाधार जैसे सेक्सन है, वैसे ही हिंदुस्तानी का आधार हिंदवी है।' गरज कि गिलक्राइस्ट ने 'बंदर बांट' करने के उद्देश्य से भाषा को धर्म के साथ जोड़ दिया। 'इस्लाम' ने उर्दू को दूर-दूर तक पहुंचाया है। बंगाल और उड़ीसा में भी हमें मुसलमान नेटिव मिलते हैं जिनकी वर्नाक्युलर उनके प्रदेशवासियों की नहीं होती, वरन् दिल्ली और लखनऊ की जबान बोलने की कोशिश, अक्सर भद्दी कोशिश होती है। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है कि 'गिर्यसन को कुछ खानसामा वगैरह मिले हों जो यह समझकर कि साहब हिंदुस्तानी समझता है, दिल्ली और लखनऊ की जबान बोलते हों।' साधारण नियम यही है कि हर प्रदेश में मुस्लिम जनसाधारण वहीं की भाषा बोलते हैं।

बहरहाल, गिलक्राइस्ट ने फोर्ट विलियम कालेज में हिंदी और उर्दू के लिए अलग-अलग मुंशी रखकर यह जहर घोल दिया कि हिंदी अलग भाषा है और यह हिंदुओं की है तथा उर्दू अलग जुबान है, जो मुसलमानों की है। इसके बावजूद एक ही भाषा की दो शैलियां हिंदी और उर्दू भारत की सामासिकता की वाहिका बनी रहीं।

1951 की जनगणना के अनुसार देश में पढ़े-लिखे लोगों की संख्या 16.2 प्रतिशत थी जिनमें अंग्रेजी पढ़े-लिखे केवल एक प्रतिशत थे। इन अंग्रेजी पढ़े-लिखों की गिनती हाई स्कूल परीक्षा को मानदंड मानकर की गई थी। इसका मतलब है कि राजनीतिक और सांस्कृतिक कामों के लिए अंग्रेजी का व्यवहार करने की क्षमता वाले लोग 0.25 प्रतिशत से अधिक नहीं थे। निश्चय ही, जब अंग्रेजी राजभाषा बनी होगी तब इस स्तर के अंग्रेजी पढ़े-लिखों की संख्या नगण्य रही होगी। यही कारण है कि ईसाई धर्म के प्रचारकों ने हिंदी का सहारा लिया। उन्होंने हिंदी के माध्यम से ही अपने धर्म का प्रचार-प्रसार किया। गरज यह कि सैकड़ों वर्षों से जिस किसी को भी जन-संपर्क करने की आवश्यकता महसूस हुई, भले ही वह शासक हो या शासित, उसने हिंदी माध्यम का उपयोग किया। हिंदी जातीय, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय अनिवार्यता के रूप में भारत के असंख्य जनों द्वारा राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार की गई।

19वीं सदी में तो भारत में राष्ट्रीयता का उदय ही सांस्कृतिक नवजागरण और हिंदी आंदोलन के साथ-साथ हुआ और प्रकाश की ये किरणें फूटी बंगाल से। □

हिंदी की शक्ति और संभावनाएं

डॉ. विजय अग्रवाल

हिंदी ने तमाम विरोधों के बावजूद अपना निरंतर विकास किया है। डॉ. विजय अग्रवाल हिंदी से जुड़े सवालों पर निरंतर अपने विचार अभिव्यक्त करते रहते हैं। हिंदी की शक्ति और उसकी संभावनाओं पर उनके विचार एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।

जब हम विश्व परिप्रेक्ष्य में हिंदी की बात करते हैं, तब स्वाभाविक रूप से सबसे पहले उसकी शक्ति के आधार को समझा जाना चाहिए। व्याकरणिक तथा लिपिगत विशेषताओं एवं शब्द संपदा के अलग हटकर इस भाषा की दो ऐसी मूल शक्तियां हैं, जिनसे यह निरंतर अपना जीवन-रस प्राप्त करती रही हैं, और पूरे विश्व में फैलती रही हैं। ये शक्तियां हैं—

सांस्कृतिक रचाव-बसाव, तथा
जन-शक्ति

हिंदी की बात करते समय अपनी बात को भाषा तक सीमित करना वस्तुतः हिंदी के स्वरूप को ही सीमित करना है। हिंदी मूलतः एक भाषा ही नहीं, बल्कि एक भाव भी है। इसके पीछे संपूर्ण भारत की सदियों पुरानी ऐतिहासिक, सांस्कृतिक विरासत मौजूद रही है। यद्यपि अपभ्रंश के बाद से 13वीं-14वीं शताब्दी में इसका वर्तमान स्वरूप उभरना शुरू हुआ था, लेकिन इसकी नाल संस्कृत भाषा के जलकुण्ड से जुड़ी हुई है। यह ठीक है कि संस्कृत एक संयोगात्मक भाषा है, जबकि हिंदी वियोगात्मक भाषा हो गई है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि उसका संस्कृत से पूरी तरह से वियोग हो गया है। कम-से-कम शब्द के स्तर पर संयोग के इस रूप को सामान्य पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी पहचान सकता है। संस्कृत, फिर प्राकृत, फिर अपभ्रंश और फिर हिंदी; इन चार चरणों को यदि हिंदी भाषा के ही चार चरण कहा जाए, तो गलत नहीं होगा। अपभ्रंश काल से पहले तक की भाषा आज जैसी भिन्न-भिन्न संज्ञाओं में विभाजित भाषा नहीं थी। जब अपभ्रंश अपने भिन्न-भिन्न जनपदों की बोलियों

के संपर्क में आई, तब उसने भिन्न-भिन्न स्वरूप ग्रहण करना प्रारंभ किया। इसके बावजूद भारत में एक ऐसी भाषा थी, जो पूरे देश में समझी जाती थी। केरल के शंकराचार्य ने जब अपनी बात संस्कृत में कही थी, तब संपूर्ण भारत ने उसे समझा था। यही कारण था कि जब युरोपीय विद्वानों ने भारतीय ज्ञान के अध्ययन की बात सोची, तो उन्हें स्वाभाविक रूप से संस्कृत की ओर जाना पड़ा, जिसका प्रारंभ जर्मन के मैक्समूलर ने किया था। वैदिक ग्रंथों, उपनिषदों एवं संस्कृत काव्यों का अध्ययन करने के बाद अंग्रेजों ने हिंदुस्तानी भाषा को महत्त्व दिया था। वस्तुतः इसका कारण यह रहा कि हिंदी 13वीं शताब्दी में ही पूरे देश में धीरे-धीरे उभरने लगी थी। कुछ समय बाद ही यह केवल भक्त और संतों की ही भाषा नहीं, बल्कि व्यापारियों की, सैनिकों की और आम लोगों की बोलचाल की भाषा बन गई थी। इसी कारण अंग्रेजों को अपने अधिकारियों को हिंदुस्तानी सिखाने के लिए सन् 1800 में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना करनी पड़ी थी। यह हिंदी की जन-शक्ति का प्रमाण है।

इससे पूर्व मध्यकाल में, जबकि वर्तमान हिंदी का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया था, ब्रज एवं अवधी के रूप में हिंदी भाषा राष्ट्रीय स्तर पर महत्त्वपूर्ण साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। राम-भक्ति शाखा अवधी को लेकर चली और कृष्ण-भक्ति शाखा ब्रज को। इसके साथ मैथिली और भोजपुरी में भी रचनाएं होती रहीं। इस बात का महत्त्व इसलिए है, क्योंकि यह भक्ति साहित्य केवल उत्तर भारत तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि संपूर्ण भारत के साथ-साथ विश्व स्तर तक गया। यहां सोवियत रूस के प्रोफेसर वारन्निकोव से जुड़ी एक घटना को याद करना उपयुक्त होगा, जिसकी चर्चा हिंदी के प्रसिद्ध कथाकार अमृतलाल नागर ने की है। अमृतलाल नागर ने यह लिखा है कि सन् 1917 या 18 में वारन्निकोव तथा प्रोफेसर द्याकोव कम्यूनिस्ट पार्टी के किसी काम से ईरान-अफगानिस्तान की सीमा पर गए थे। उन्हीं दिनों कुछ भारतीय सैनिक ब्रिटिश सरकार से विद्रोह करके वहां छिपे हुए थे। इन दोनों रूसी मित्रों ने देखा कि हर शाम एक आदमी एक पुस्तक लेकर पढ़ता है, और बाकी सब भारतीय उसे सुनते हैं। यह देखकर वारन्निकोव बोले—'जिस भाषा की पुस्तक भारत के ये अनेक प्रांतों से आए हुए सैनिक सुन रहे हैं, वही भाषा भारत की राष्ट्रभाषा है।' इसके बाद से ही वारन्निकोव ने अवधी पढ़नी शुरू की और बाद में 'रामचरितमानस' का अनुवाद किया।

इसी 'रामचरितमानस' और 'हनुमान चालीसा' को लेकर करीब 150 वर्ष पूर्व उत्तर भारत के गिरमिटिया मजदूर फीजी, सूरीनाम, गुयाना और ट्रिनिडाड एवं टोबेगो की जमीन पर काम करने के लिए गए। उन्हें वहां गए हुए करीब 150 वर्ष बीत चुके हैं। 'रामचरितमानस' और 'हनुमान चालीसा' ने वहां भारत की जिस संस्कृति का बिरवा रोपा था, उसे आज लहलहाते हुए वट वृक्ष के रूप में देखा जा सकता है। वहां की भाषा भले ही किन्हीं कारणों से हिंदी नहीं हो पाई है, लेकिन हिंदी भाषा, भारतीय संस्कृति और हिंदी के भाव यहां मौजूद

हैं। वहां के लोगों के नाम हैं—भगवती सिंह मनचंदा, एलेग्जेण्डर रामफल और डेनियल रामदास आदि। वहां के संगीत की शैली है—'चटनी'। 30 मई, 1995 को ट्रिनिडाड-टोबेगो ने भारतीयों के आगमन का 150वां वर्ष दिवस मनाया था। उस समारोह में भारत का प्रतिनिधित्व किया था, भारत के राष्ट्रपति डॉ. शंकर दयाल शर्मा ने। जहां यह कार्यक्रम आयोजित किया गया था, उस स्थान का नाम था—दिवाली नगर। तत्कालीन विपक्ष के नेता वासुदेव पाण्डे जब बोलने के लिए खड़े हुए थे, तब उनका पहला वाक्य था—

'माई मातृभूमि, माई जन्मभूमि, माई नैटिव लैण्ड।'

उनके इस संबोधन से भारतीय संस्कृति, भारत और हिंदी भाषा के प्रति वहां के संपूर्ण भारतीयों के लगाव को समझा जा सकता है। सौभाग्य से यही वासुदेव पाण्डे वर्तमान में वहां के प्रधानमंत्री हैं।

वस्तुतः 19वीं शताब्दी तक हिंदी भाषा इतनी अधिक व्यापक हो चुकी थी कि स्वतंत्रता आंदोलन के नेताओं ने एक मत से हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया। स्वाभाविक था कि राष्ट्रीय एकता के लिए एक ऐसी भाषा की जरूरत थी, ताकि हमारे नेता देश को एक साथ संबोधित कर सकें। चूंकि हिंदी सबसे अधिक लोगों द्वारा बोली और समझी जाने वाली भाषा थी, इसलिए बिना हिचक के इस भाषा को सभी का स्नेह और समर्थन मिला। यहां तक कि अहिंदी भाषियों का भी। केवल समर्थन ही नहीं मिला, बल्कि उसके लिए उन्होंने हर संभव प्रयास भी किए। इनमें सबसे प्रमुख नाम है—महात्मा गांधी का।

महात्मा गांधी ने अपनी आत्म-कथा में इस बात का उल्लेख किया है कि किस प्रकार उस समय दक्षिण अफ्रीका में भारत से आकर बसे विभिन्न प्रांतों के लोग आपस में विचार-विनिमय के लिए हिंदी में बात करते थे। शायद इस अनुभव के कारण ही जब महात्मा गांधी भारत लौटे, तब उन्होंने हिंदी में ही संपूर्ण भारत को संबोधित करना स्वीकार किया और इसके लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में आवश्यक संशोधन भी कराया। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि हिंदी भाषा को स्वीकार किए जाने के कारण भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को जन आंदोलन बनाने में मदद मिली।

17वीं शताब्दी में भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करने वाले मिशनरियों ने आम बोलचाल की भाषा को ही अपना धर्म-प्रचार का माध्यम बनाया था, जिसे उस समय 'हिंदुस्तानी' कहा जाता था। उन्होंने हिंदुस्तानी में बाइबिल के अनुवाद कराए। यहां सन् 1931 की उस घटना को याद करना सामयिक होगा, जब 4 अक्तूबर, 1933 को जापान के बौद्ध भिक्षु फूजी गुरुजी बापू से मिलने आए थे। उस समय उन्होंने भारतीयों के बीच काम करने की अपनी इच्छा व्यक्त की थी। तब बापू ने फूजी गुरुजी को सलाह दी थी कि वे अपना काम शुरू करने से पहले हिंदी या हिंदुस्तानी सीखें।

वस्तुतः हिंदी के पीछे जन की संख्या और जन की जो भावना थी, उसने सभी राष्ट्रीय नेताओं तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं को इस बात के लिए प्रेरित एवं मजबूर किया कि वे भारत को जानने और समझने के लिए तथा भारत में काम करने के लिए हिंदी को अपनाएं।

यह अकारण नहीं है कि इस समय विदेशों के 136 विश्वविद्यालयों में हिंदी शिक्षण की व्यवस्था है। आज करीब सवा करोड़ लोग विश्व के 132 देशों में बसे हुए हैं। इनमें करीब दो तिहाई भारतीय मूल के लोग हिंदी जानते हैं, और बोलचाल में प्रयोग में लाते हैं।

कुछ राष्ट्र तो ऐसे हैं, जहां आज भी हिंदी प्रधान स्थान रखती है। नेपाल, बंगला देश, श्रीलंका, पाकिस्तान तथा इंडोनेशिया आदि ऐसे देश हैं, जहां न केवल हिंदी की ही प्रधानता है, बल्कि उनकी संस्कृति पर भी हिंदी के भावों की छाप है। इंडोनेशिया में तो तीनों सेनाओं का जो समाचार-पत्र निकलता है, उसका शीर्षक ही है—'त्रिशक्ति'। इसके अतिरिक्त दक्षिण-पूर्व एशिया के उन देशों में हिंदी और हिंदी के संस्कारों की छाप देखी जा सकती है, जिनसे चौथी-पांचवीं शताब्दी में भारत के सांस्कृतिक संबंध रहे हैं।

इसके अतिरिक्त सूरीनाम, फीजी, गुयाना तथा ट्रिनिडाड टोबेगो आदि उन देशों में हिंदी किसी-न-किसी रूप में व्यापकता से फल-फूल रही है, जहां सैकड़ों वर्ष पूर्व भारतीय मजदूर श्रम करने के लिए गए थे। सूरीनाम की भाषा 'सरनामी हिंदी' देवनागरी और रोमन लिपि में लिखी जाती है। हालैण्ड के विश्वविद्यालयों में 'सरनामी हिंदी' पढ़ाई जाती है। इन क्षेत्रों में हिंदी सिनेमा और गीत अत्यंत लोकप्रिय हैं। यहां यह स्मरण करना उपयुक्त होगा कि 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब भारत में समाज सुधार आंदोलनों ने गति पकड़ी थी, उस समय आर्य समाज तथा सनातन धर्म सभा आदि ने इन देशों में न केवल अपने विचारों के प्रचार के लिए ही बल्कि हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए भी शिक्षण संस्थाएं खोली थीं। उनके इन कार्यों का बहुत गहरा असर हुआ। ये संस्थाएं आज भी पूरे उत्साह से अपना काम कर रही हैं।

विदेशों में भारतीयता और हिंदी भाषा के प्रति लगाव के अनेक प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त करने का अवसर मुझे मिला है। सन् 1990 में भारत के तत्कालीन उपराष्ट्रपति डॉ. शंकर दयाल शर्मा मॉरीशस गए थे। उस समय उन्होंने वहां पहुंचते ही हवाई अड्डे पर अपना वक्तव्य भोजपुरी में दिया था। अगले तीन दिनों के प्रवास में भोजपुरी के उस वक्तव्य के प्रभाव का अनुभव मुझे होता रहा। भारत के किसी नेता द्वारा भोजपुरी में बोले जाने को लेकर वहां के भारतवंशी अभिभूत थे। वे इस बात से दुःखी थे कि उन्हें हिंदी के अध्ययन की सुविधा प्राप्त नहीं है, जबकि दूसरी ओर फ्रांस सरकार फ्रेंच भाषा के लिए अत्यंत ही प्रयासरत थी। सन् 1994 में बल्गारिया में मैंने पाया कि पूर्व साम्यवादी देश में भारत संबंधी ज्ञान तथा हिंदी भाषा के लिए कितनी अधिक उत्कण्ठा है। जब राष्ट्रपति शंकरदयाल शर्मा ने वहां की संसद को हिंदी में संबोधित किया था, तब बल्गेरियाई नेताओं ने संसद भवन

को तालियों की गड़गड़ाहट से अनुगुंजित कर दिया था। राष्ट्रपति डॉ. शर्मा अलग से वहां के कुछ भारतविदों से मिले थे। उन सभी भारतविदों ने अपना परिचय टूटी-फूटी ही सही, लेकिन हिंदी में दिया। लंबी बातचीत भी उन्होंने यथासंभव हिंदी में करने की कोशिश की। उस मुलाकात की दो बातें अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं, जो हिंदी के संबंध में हमारी अपनी स्थिति को व्यक्त करती हैं।

पहला तो यह कि बल्गारिया के युवा लड़के-लड़कियों की यह जबरदस्त शिकायत थी कि पिछले करीब डेढ़ वर्षों से उनके यहां हिंदी-शिक्षक का पद खाली पड़ा हुआ है। यह उनकी शिकायत ही नहीं थी, बल्कि दर्द भरी अपील थी कि उन्हें यह सुविधा तुरंत उपलब्ध कराई जाए।

दूसरी बात यह है कि जहां बल्गारिया के भारतविद हिंदी में बोल रहे थे, वहीं राष्ट्रपति भी उनसे हिंदी में ही बोल रहे थे। राष्ट्रपति जी के साथ गए प्रतिनिधि मंडल के सदस्य भी हिंदी में बोल रहे थे। लेकिन बल्गारिया में भारत के राजदूत ने जो कार्यक्रम का संचालन किया था, गलती से भी हिंदी का एक भी शब्द नहीं बोला।

पिछले वर्ष ट्रिनिडाड-टोबेगो में भारतीयों के आगमन की 150वीं वर्षगांठ पर जब वहां जाने का अवसर मिला, तब हिंदी के प्रति वहां के लोगों के मन में उत्साह की भावना देखकर मैं आश्चर्य में पड़ गया। वहां के दूरदर्शन पर इस समारोह के कार्यक्रम निरंतर प्रसारित हो रहे थे। उसमें भोजपुरी गीत और नृत्यों को देखकर मन भावुक हो उठा था। 'स्टीलपेन' की मीठी मादक और उमंगभरी धुनों तथा इन शब्दों पर थिरकते हुए कदम आज भी भुलाए नहीं भूलते।

'भौजी मोरी गंगा नहाई आई रे।
नैन लागी जैसे पियाला शराब का,
का कहें भौजी तोहार शबाब का,
रस की गगरिया छलकाई आई रे
भौजी मोरी गंगा नहाई आई रे।।'

भारतीय मूल के लोगों में आज भी कजरी, चैती और विरहा की धुनें मौजूद हैं। वे दिवाली, होली और ईद उसी तरह मनाते हैं, जिस तरह हम भारतीय। रूप जरूर थोड़ा बदल गया है, लेकिन उत्साह किसी मायने में कम नहीं है। 'रामचरितमानस', 'हनुमान चालीसा' और 'कुरान' आज भी उनके प्राण हैं। मजेदार बात यह है कि नयी पीढ़ी के अनेक ऐसे लड़के-लड़कियां मिल जाएंगे, जिन्हें 'हनुमान चालीसा' तो पूरी तरह याद है, लेकिन उसका अर्थ नहीं समझते। ऐसा इसलिए नहीं है, क्योंकि वे अर्थ समझना नहीं चाहते।

बल्कि इसलिए है, क्योंकि उन्हें हिंदी की पर्याप्त सुविधा नहीं है।

हिंदी फिल्में वहां भी उतनी ही लोकप्रिय हैं, जितनी कि भारत के किसी अन्य भाग में। उस समय वहां के जुबली, रिट्ज, रीजेंड और डीलक्स सिनेमा घरों में 'करण अर्जुन' 'अमानत', 'दिल की बाजी' और 'हम आपके हैं कौन' फिल्में लगी हुई थीं। अवकाश के दिन इन सिनेमाघरों के आगे लम्बी-लम्बी कतारें देखी जा सकती हैं। मुझे आश्चर्य इस बात का होता है कि हिंदी न जानने वाले लोग इन फिल्मों का आनंद कैसे लेते हैं। यह एक विचित्र-सी बात है, जो समझ में नहीं आई। अक्षय कुमार, सलमान खान और माधुरी दीक्षित वहां के लोगों के प्रिय नायक और नायिकाएं थे। ये लोग हिंदी फिल्म के हिंसक और कामुक स्वरूप से जरूर दुखी दिखे। उनकी इच्छा थी कि फिल्में ऐसी हों, जो परिवार के साथ बैठकर देखी जा सकें, 'हम आपके हैं कौन' की तरह।

फिल्म के संदर्भ में मुझे जिम्बाब्वे और बल्गारिया की एक घटना याद आ रही है। पिछले वर्ष जब बाजार में टहलते हुए मैंने एक युवक से बैंक का पता पूछा, तो उसने मुझसे जानना चाहा कि 'क्या मैं भारतीय हूं?' मेरे द्वारा स्वीकृति की मुद्रा में सिर हिलाए जाने पर उसने उछलते हुए पूरी गर्मजोशी से मुझसे इसलिए हाथ मिलाया, क्योंकि मैं भारतीय था। उसने मुझे बताया कि भारत के प्रति उसकी यह भावना हिंदी फिल्मों को देखकर बनी थी।

इसी प्रकार बल्गारिया में हिंदी फिल्में और गीतों के प्रति पागलपन की सीमा तक आकर्षण देखने को मिला। वहां एक महिला ऐसी मिली, जिसके पास लता मंगेश्कर के सभी गीतों के कैसेट मौजूद थे। वहां के लोगों को भारत के बारे में ज्ञान उन्हीं फिल्मों के माध्यम से मिला था।

ट्रिनिडाड-टोबेगो के रेडियो पर हिंदी के कार्यक्रम प्रसारित होते हैं। उन लोगों में हिंदी भाषा सीखने के प्रति गहरा आकर्षण भी है। लेकिन दुर्भाग्य से उन्हें पूरी सुविधा नहीं मिली हुई है। यद्यपि दूतावास द्वारा इसकी कुछ व्यवस्था की गई है। वेस्ट इंडीज विश्वविद्यालय में भी हिंदी के अध्यापन की सुविधा है, किंतु वह मांग के अनुरूप नहीं है। भारतवंशी क्षेत्रों में कुछ घरों में छोटी-छोटी कक्षाएं लगाकर इस मांग की पूर्ति करने की कुछ कोशिश जरूर की जा रही है, लेकिन इस दिशा में बहुत कुछ किए जाने की जरूरत है।

पिछले वर्ष चिली में यह देखकर सुखद आश्चर्य से भर गया था कि वहां भारतीय योग विद्या, संगीत, नृत्य एवं कलाओं के प्रति उन लोगों के मन में कितना गहरा आकर्षण है। यही स्थिति पुर्तगाल में देखने को मिली। पुर्तगाल में तो चूंकि गोवा के अधिकांश लोग हैं, इसलिए उनमें स्वभाविक रूप से भारतीय संस्कृति और हिंदी भाषा के प्रति स्नेह का भाव है। भारतीय विद्या भवन ने वहा अपनी कुछ गतिविधियां शुरू भी की हैं।

हमारे लिए यह जरूरी है कि हिंदी के बारे में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जो काम हो रहे हैं, उसकी हम अनदेखी न करें। उन्हें पर्याप्त और सही मान्यता दी जाए, ताकि हिंदी को

विश्व भाषा बनने का अवसर मिल सके। इस दिशा में एक अच्छा प्रयास केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा ने शुरू किया है। राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा ने सन् 1993 में केंद्रीय हिंदी निदेशालय के पुरस्कार वितरण समारोह में यह सुझाव दिया था कि हिंदी के किसी विदेशी विद्वान को भी सम्मानित किया जाना चाहिए। इसके बाद केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा ने सन् 1994 का प्रथम पुरस्कार डॉ. लोठार लुत्से को दिया, और इस पुरस्कार का नाम रखा—'जार्ज ग्रियर्सन सम्मान', जिन्होंने भारत का प्रथम भाषा सर्वेक्षण किया था। पोलैंड के प्रो. मारिया क्रिस्तोफ ब्रिस्की तथा चेकोस्लोवाकिया के डॉ. ओदोलेन स्मेकल इसी तरह के विद्वान हैं, जो हिंदी भाषा को अंतर्राष्ट्रीय पहचान देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। लंदन विश्वविद्यालय के प्राध्यापक रुपर्ट स्नैल हिंदी के ही नहीं, बल्कि ब्रज के कवि हैं। ये सब भविष्य की अच्छी संभावनाओं के संकेत हैं।

यह कहना न तो अतिशयोक्तिपूर्ण है, और न ही भावुकतापूर्ण है कि हिंदी भाषा में विश्व भाषा बनने की क्षमता है। बशर्ते कि इसके लिए सुनिश्चित तरीके से सतत प्रयास किए जाएं। □

हिंदी में अखिल भारतीय भाषा बनने की क्षमता है।

—राजा राममोहन राय

हिंदी की मूल चिंता

बच्चू प्रसाद सिंह

हिंदी को सुदृढ़ आधार देने में जिन कर्मठ हिंदी सेवियों को सदा स्मरण किया जाता रहेगा उनमें बच्चू प्रसाद सिंह अविस्मरणीय हैं। यह हिंदी का दुर्भाग्य है कि उनका अकस्मात् निधन हो गया और पांचवे विश्व हिंदी सम्मेलन में उनका अभाव निरंतर खलेगा। प्रस्तुत आलेख हिंदी के प्रति उनकी चिंता को अभिव्यक्त करता है।

मुझे यह अवसर मिला कि मैं संसार के कोने-कोने में जाकर यह देखूं कि हिंदी, भारतीय भाषाएं और भारत की संस्कृति कहां-कहां किस स्थिति में हैं और भारत की सरकार, भारत की जनता उस दिशा में क्या कुछ सहयोग कर सकती है। यह काम मैंने लगभग तीन-चार दशक पहले शुरू किया था। मैं यह तो नहीं कह सकता संसार के सभी देशों में गया, लेकिन कई दर्जन देशों में जाने का, वहां कुछ समय बिताने का, वहां के विद्वानों के मिलने का, वहां के विश्वविद्यालयों में जो पढ़ने-पढ़ाने की स्थिति है उसको देखने का मौका मिला। आप लोग यह जानते हैं कि आज भारत के बाहर लगभग पौने दो करोड़ लोग ऐसे हैं जो भारतवंशी हैं यानी उनके पुरखे भारत से गये या वैसे हैं जो भारत से स्वयं वहां गए हैं और निवास कर रहे हैं। फिजी है, गयाना है, सूरीनाम है, त्रिनिडाड है, मलेशिया है, थाईलैंड है, कीनिया है, बर्मा है, मॉरिशस है, जाम्बिया है, इसी तरह से साउथ अफ्रीका भी है जहां भारतीय मूल के लाखों लोग रहते हैं। हम इस वर्ष बापू की 125वीं जयन्ती मना रहे हैं जिन्होंने अपना राजनीतिक जीवन वहीं से प्रारंभ किया। हमारे विदेश राज्य मंत्री यहां उपस्थित हैं जो इस बात को भी भलीभांति जानते हैं कि भाषा का, शिक्षा का, साहित्य का, कला का जीवन में कितना बड़ा स्थान है और कल्चरल डिप्लोमेसी में इसकी कितनी अग्रणी भूमिका हो सकती है। मैंने तमाम देशों का भ्रमण किया और यह देखा कि सैकड़ों साल पहले जो लोग भारत छोड़कर चले गए थे या जिनके पुरखे चले गए थे वे भी आज अपने दिल के साथ हिंदी को जोड़कर, हिंदुस्तान को जोड़कर भारत की भाषाओं को लेकर धर्म और संस्कृति को लेकर, वेशभूषा को लेकर, रीति-रिवाज को लेकर, खानपान को लेकर

जीवित हैं। वे इस बात के लिए कटिबद्ध हैं कि संकल्प लेकर, उन्होंने पीढ़ी-दर-पीढ़ी हिंदी भाषा को बचाए रखने की कोशिश की है और इसलिए वह काबिल-ए-तारीफ हैं। इसीलिए मैंने श्रीमती इंदिरा गांधी से और उस समय सरकार में जो प्रमुख राजनेता थे उनसे कहा था कि हमारा यह परम कर्तव्य है कि ऐसे देशों के साथ हम अपने भाषायी एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों को अधिक-से-अधिक सुदृढ़ बनायें ताकि अन्य क्षेत्रों में हमारे संबंध अधिक सुदृढ़ और सुंदर बन सकें। परिणाम हुआ कि 1975 में जो विश्व हिंदी सम्मेलन हम लोगों ने नागपुर में कराया जिसका उद्घाटन इंदिरा जी ने किया और उस समय मॉरिशस के प्रधानमंत्री श्री रामगुलाम ने उद्घाटन भाषण दिया था। लोगों की आंखें खुली-की-खुली रह गईं जब उन्होंने देखा कि मॉरिशस के सौ-डेढ़ सौ लोग सम्मेलन में भाग लेने आए। नागपुर के मंच पर मॉरिशस के कलाकारों ने 'अंधा युग' जैसा नाटक प्रस्तुत किया। फिर लोग देखते रहे कि क्या चमत्कार है, कैसी प्रतिभा है और इसी का परिणाम है कि लोगों ने उनको आमंत्रित करके दिल्ली में उस नाटक को फिर से मंचित कराया। इसके बाद अनेक देशों में हम जाते रहे, उस स्थिति का जायजा लेते रहे। हमने देखा मॉरिशस जैसे अनेक देश हैं जहां के लोगों को हिंदी के प्रति, भारतीय भाषाओं के प्रति, हिंदी हो, उर्दू हो, बंगला हो, मराठी हो, कोई भी भाषा हो, स्नेह एवं अनुराग है। वह उनके लिए उनकी आईडेंटिटी है, वह अस्मिता है, वह उनकी पहचान बन गई है। वह बाहर हिंदुस्तानी के नाम से पुकारे जाते हैं। अपने को कहते हैं, हम ब्रिटिश इंडियन थे, ब्रिटिश पासपोर्ट होल्डर्स थे, ब्रिटिश इंडियन के नाम से पुकारे गये थे। उनके पुरखे बड़ी कठिनाइयों के दिनों में वहां इन्डेंसर लेबर होकर गए थे। जहां खेतों पर उन्होंने काम किया, जहां पसीना बहाकर पत्थरों को हटाया और उसको जरखेद बनाया। वहां आज जो भी उन्नति हुई है, चाहे वह कृषि हो, व्यवसाय हो या राजनीति, जिस धरातल पर आप देखें हमारे हिन्दुस्तानी अग्रणी हैं। प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन जब नागपुर में हुआ और आपको यह जानकर खुशी होगी उस समय रामगुलाम जी ने मुझसे कहा कि अगले साल अगला सम्मेलन हमारे देश में कराइये। 1975 को जनवरी में नागपुर में इस कार्य का शुभारम्भ हुआ। 1976 के अगस्त में हम लोगों ने मॉरिशस में द्वितीय विश्व हिंदी सम्मेलन किया। वह आज भी मील का पत्थर बना हुआ है। ढाई सौ-तीन सौ लोग हवाई जहाज से वहां गए। देश के कोने-कोने से महत्त्वपूर्ण साहित्यकार, लेखक, कवि, पत्रकार उस मौके पर वहां पहुंचे थे। आज उनमें से अनेक नाम पूजनीय हैं, चिरस्मरणीय हैं, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी, भगवतीचरण वर्मा जी, बंगला के विमल मित्र सब लोग वहां पहुंचे। वहां के एक महान् हिंदी सेवी सूरजमंगर भगत ने कहा—'मैंने अपना सर्वस्व दान कर दिया मॉरिशस हिंदी भवन के लिए, आज मैं सफल हुआ क्योंकि हमारी धरती पर जिनकी रचनाएं हम पढ़ते रहे वे सब के सब यहां आ गए। इसके बाद हम रहें या न रहें इसका हमको गम नहीं होगा।' मुझे अचरज हुआ कुछ दिनों बाद वह

इस संसार से विदा हो गए। इस तरह के अनेक लोग, अनेक परिवार, अनेक व्यक्ति, अनेक साधक, अनेक चिंतक, अनेक मनीषी दुनिया के कोने-कोने से हमें मिलते रहे हैं जिन्होंने हिंदी की पताका, भारतीय भाषाओं की पताका, भारतीय संस्कृति की पताका फहराई। यह तो वह पक्ष है जहां भारतवंशी निवास करते हैं, मैंने जैसा कहा, मैंने यू.के. में, यू.एस.ए, में, कनाडा में, जापान में, आस्ट्रेलिया में, इन तमाम देशों में जाकर देखा कि वे मौन भाव से हिंदी की कितनी बड़ी साधना कर रहे हैं। कितना शोध हो रहा है, कितना व्याकरण पर कार्य हो रहा है, कितना मूल लेखन हो रहा है, आप जानते हैं हमारे देश में इस समय ऐसे दो राजदूत हैं जो हिंदी पर पूर्ण अधिकार तथा भारतीय भाषा एवं संस्कृति से हार्दिक स्नेह एवं अनुराग रखते हैं, उनमें से एक आपके सामने विराजमान हैं, पोलैंड के राजदूत श्री ब्रिस्की। जिनको सुनकर लगता है बनारस के किसी दार्शनिक से आप बातें कर रहे हैं, किसी हिंदी के विद्वान से आप बात कर रहे हैं। दूसरे, चैकोस्लोवाकिया के राजदूत श्री स्मेकल हैं, आज दिल्ली से बाहर हैं, वह स्वयं हिंदी की कविताएं लिखा करते हैं। इस तरह के और भी अनेक राजनयिक हैं। यह परंपरा आज की नहीं है सैकड़ों वर्षों से चली आ रही है। रूस में है, चीन में है। इस तरह से तमाम देशों में हिंदी का मान, हिंदी के प्रति निष्ठा, प्रेम और हिंदी को अपनाना, भारतीय भाषाओं को अपनाना, भारतीय संस्कृति के प्रति लगाव, यह उन देशों में भरा पड़ा है। आवश्यकता इस बात की है हम या हमारी सरकार और जनता तथा जनप्रतिनिधि उन सबका यह कर्त्तव्य है कि उनको हम गले लगायें। मुझे मॉरिशस के एक व्यक्ति ने बहुत ठीक कहा था कि अगर हिंदी में किसी मदद की जरूरत होगी तो क्या मैं चीन जाऊंगा? मैं भारत ही आऊंगा। भारत से ही मुझे सहयोग चाहिए। मैं समझता हूं इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि देश की जनता और हमारी सरकार, विशेष रूप से विदेश मंत्रालय इस ओर पहल करे। क्योंकि यह ऐसी चीज़ है, जिसकी ओर अगर ध्यान नहीं दिया गया तो वह लड़ी टूट जाएगी, वह कड़ी टूट जाएगी। सैकड़ों वर्षों से झंझावात में हिंदी के पौधे को, हिंदी की रोशनी को जिन्होंने कायम रखा है वह अब कितने दिनों तक इंतजार करेंगे। अब भारत भी आजाद है और ये देश भी आजाद है। आजादी के बाद लहर फैली है, दुनिया के देशों में उसके साथ यह बात भी जुड़ी है जब हम गुलाम थे तो वे हमें क्षमा करते थे इस बात के लिए कि भारत भी गुलाम है, हम भी गुलाम हैं इसलिए भारत भाषा एवं संस्कृति के लिए कुछ नहीं कर सकता। लेकिन आज वह स्थिति नहीं है कि आप इस बात की और उपेक्षा कर सकें और मुझे इस बात की खुशी है कि तृतीय विश्व हिंदी सम्मेलन दिल्ली में हुआ था। उस समय प्रधानमंत्री इंदिरा जी ने उसका उद्घाटन किया था और इंगलैंड के प्रसिद्ध हिंदी विद्वान मैग्रेगर ने जो कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी के हैड हैं, जिन्होंने हिंदी के क्षेत्र में बड़ा बढ़िया काम किया, उन्होंने इस सम्मेलन की अध्यक्षता की। चौथा विश्व हिंदी सम्मेलन फिर मॉरिशस में ही हुआ। पांचवा विश्व हिंदी

सम्मेलन जिसकी तैयारी समिति के अध्यक्ष सलमान खुर्शीद साहब हमारे बीच बैठे हैं, इन्होंने इस दिन कमेटी के सामने जो दिशा निर्देश दिया इससे मेरा दिल गद्‌गद्‌ हो गया। उन्होंने कहा कि ड्रिनिडाड में हिंदुस्तान से गए लगभग 52 प्रतिशत लोग निवास करते हैं। डेढ़ सौ साल उनके पूरे हो गए। इतने दिनों के अंतराल के बाद उन्होंने हिंदी को बनाए रखा है, धर्म और संस्कृति को बनाए रखा है। वह चाहते हैं ज्यादा-से-ज्यादा हमारे इन क्षेत्रों में सुदृढ़ हों। वह डेढ़ सौ सालवीं अपनी जयंती मना रहे हैं। राष्ट्रपति को बुलाकर जिस कार्यक्रम की शुरुआत हुई है उसका समापन वे लोग करने जा रहे हैं विश्व हिंदी सम्मेलन के साथ, जो अप्रैल 96 में संपन्न होने जा रहा है। रत्नाकर पाण्डेय जी ने अपनी स्मारिका में इसकी चर्चा की है। हमने भी अपने मित्रों को बताया है लेकिन हमारी खास प्रार्थना है विदेश राज्य मंत्री जी से कि उनकी आशा और आकांक्षा के अनुरूप पांचवां विश्व हिंदी सम्मेलन सम्पन्न हो। उनकी दिली ख्वाहिश के हिसाब से हम उनकी सब तरह से मदद करें और हिंदुस्तान के कोने-कोने से वहां लोग जाएं ताकि उनको लगे, भारत हमारी चिंता करता है, हमारी भाषायी और सांस्कृतिक अपेक्षाओं को पूरा करने में कोशिश करता है। □

हिंदी विश्व की सरलतम भाषाओं में है।

—आचार्य क्षितिमोहन सेन

हिंदी की राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता

अजित कुमार

"हिंदी को 'लेटिन' न बनाया जाए, बल्कि अंगडाई ले रही इस भाषा को 'बेठिन' से 'उठिन' और 'दौड़िन' की दिशा में सहज गति से बढ़ने दिया जाए" चर्चित कवि, कहानीकार एवं आलोचक अजित कुमार की बेबाक राय

कुछ समय हुआ, एक अंग्रेजी दैनिक में प्रकाशित लेख में यह सुझाव दिया गया था कि हिंदी यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रवेश पाना चाहती है तो वह पहले समूचे भारत की सहमति प्राप्त करे और उससे भी पहले, वह अपनी देवनागरी लिपि को त्यागकर 'लेटिन' लिपि अपना ले। हिंदी की हित-चिंता दर्शनवाले इन तर्कों के पीछे भोलापन था या चतुराई-चालाकी, कह पाना तो मुश्किल है, लेकिन यह जरूर पूछा जा सकता है कि इन सुझावों को कितने लोगों का समर्थन प्राप्त है और जिस भाषा या अंदाज में वे दिए गए हैं, वह इस देश में कितने लोगों को नसीब है? बल्कि, साथ-ही-साथ यह पूछना भी अनुचित न होगा कि अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में सदस्य राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व जो सरकारें करती हैं, वे अपने-अपने देशों के कितने प्रतिशत लोगों की वास्तविक सहमतियों से बनी होती हैं?

अतः बहुमत या सर्वसम्मति का सवाल उठाना एक बहुत लंबी बहस को शुरू कर देना होगा। रही बात लेटिन लिपि के इस्तेमाल की, तो अभी दसियों वर्ष उक्त लेखक को लग जाएंगे—इस देश के करोड़ों लोगों को यह बात समझाने में कि रोमन लिपि और लेटिन लिपि में कोई अंतर है या दोनों एक हैं? फिर उतने ही वर्ष जरूरी होंगे यह समझाने के लिए कि पूर्वी यूरोप ने यह लिपि क्यों नहीं स्वीकार की? साथ ही, यह बताना होगा कि यूरोपीय परिवार की विभिन्न भाषाओं ने भिन्न-भिन्न लिपियां क्यों अपनाई? उन सबने लेटिन

लिपि से काम क्यों न चलाया?

इतना ही प्रासंगिक यह प्रश्न भी होगा कि लेटिन लिपि क्या अकेली हिंदी के ही लिए उपयोगी है या भारत की अन्य भाषाओं पर भी यह नुस्खा लागू हो सकेगा? विचारणीय तो यह भी होना चाहिए कि देवनागरी में उपलब्ध अपार साहित्य को लेटिन में रूपान्तरित करने और कुल लगभग तीस प्रतिशत साक्षरता वाले इस देश को उक्त लेटिन लिपि के साथ नए सिरे से परिचित कराने में कितना समय और श्रम लगाना पड़ेगा?

भारत में डेढ़ सौ वर्षों के अंग्रेजी प्रभुत्व और प्रचार-प्रसार के बावजूद, 1961 की जनगणना सूची के अनुसार समूचे भारत में अंग्रेजी बोल-समझ सकने वालों की संख्या कुल एक करोड़ के लगभग थी; अंग्रेजी पढ़ सकने वाले तो शायद और भी कम होंगे। उसके बाद के इन पैंतीस वर्षों में बढ़ गई जनसंख्या के आलोक में, अंग्रेजी से परिचित लोगों का अनुपात निश्चय ही कम हुआ होगा। यह अनुमान लगा पाना कठिन है कि अब जब अंग्रेज यहां नहीं हैं तो लेटिन लिपि की शत-प्रतिशत साक्षरता इस देश में कितने अधिक वर्षों में संभव हो पाएगी?

फिर, सब मामलों से बड़ा सवाल तो यह है कि संस्कृत और मराठी-गुजराती आदि से जुड़ी अपनी लिपि को हिंदी आखिर छोड़े ही क्यों? उलटे, वह उसकी मांग क्यों न करे कि भारत में अंग्रेजी भाषा की लिपि देवनागरी कर दी जाए? यदि अंग्रेजी के आगामी प्रकाशन भारत की परिचित और प्रिय नागरी लिपि में होने लगे, तो शायद देश का अधिक लाभ होगा, बनिस्पत इसके कि हिंदी लेटिन लिपि में लिखी जाए। अंग्रेजी यदि नागरी में छपने लगे तो बहुसंख्यक भारतवासी एक नयी लिपि सीखने और वर्तनी की अपार भूलें करने से बच जाएंगे।

इसके दूसरे भी कई लाभ होंगे। सबसे बड़ा तो यह कि अंग्रेजी इस देश की एक भाषा सच्चे अर्थों में बन सकेगी और उसे बोलने-बरतने वाले इस देश की धरती पर चलना-रहना सीख पाएंगे। कम-से-कम इतना तो होगा ही कि हिंदी को संयुक्त राष्ट्र संघ में घुसाने के लिए—उसकी लिपि बदल देने की हास्यास्पद कोशिश करने से हम बच जाएंगे।

माना कि 'लेटिन' शब्द में बड़ा जादू है, कुछ-कुछ वैसा ही, जैसा संस्कृत को राज्य-भाषा बना देने वाली मांग में रहा है। एक पुरानी, दूरस्थ दुनिया के आकर्षण की ओर हमारा मन कभी-कभी उमड़ता जरूर है। तो, उत्तर भारतीय आर्यभाषाओं के लिए लेटिन, दक्षिण-भारतीय भाषाओं के लिए ग्रीक, पूर्वोत्तर सीमांत के लिए चीनी, पश्मोत्तर सीमांत के लिए हिब्रू और केंद्र के लिए देवभाषा संस्कृत अपनाकर, हम क्यों न विश्व की तमाम प्राचीन संस्कृतियों का संगम अपने देश में कर लें? गनीमत है कि हमारे 'कल्चर-वल्चर' अर्थात् सांस्कृतिक गिद्ध अभी इतनी दूर तक नज़र नहीं दौड़ा पाए हैं, बल्कि लेटिन तक ही पहुंचे हैं। भूमंडलीकरण के इस दौर में स्वाभाविक है कि हम सब कुछ के प्रति साष्टांग दंडवत

बिछे देखे जाएं; हमारी निगाह 'रोमांस' और हमारे अंग-प्रत्यंग 'रोमांच' से द्रवित हों। क्या हमें ज्ञात नहीं कि यह 'रोमांस' या 'रोमांच' शब्द अपने विभिन्न अर्थों-संदर्भों सहित 'लेटिन' से ही निकला है।

इस परिदृश्य का तनिक अनुमान लगाएं। लेटिन के कैपिटल अक्षर अपनाने के बाद, यह सर्वथा उचित होगा कि हम नवीं शती की कैरोलाइन मिनिस्कूल लिपि से निकले 'लोअरकेस' अक्षरों की और उन्मुख हों, और फिर लेटिन की पूर्वज लिपि ग्रीक से भी परिचित हों। 'अपराइट' और 'इटैलिक' अक्षरों का समावेश भी करना ही होगा। फिर, एक बार जब लेटिन लिपि से हमारा प्यार हो ही जाएगा, तो क्यों न 'ओल्ड', 'क्लैसिकल', 'वल्गार', 'मेडीवल', 'न्यू', 'मार्डन' आदि विभिन्न प्रकार की लेटिनों से भी अपना प्यार बढ़ाएंगे।

ये अनेक लाभ अवश्य हैं और इनका आकर्षण भी प्रबल होगा, जिनको संभवतः आफीशियल तथा अन-आफ़ीशियल बहुराष्ट्रीय कंपनियां प्रबलतर से प्रबलतम बनाती चली जाएंगी ... फिर भी, अपना निवेदन तो यही है कि हिंदी को 'लेटिन' न बनाया जाए, बल्कि अंगड़ाई ले रही इस भाषा को 'बैठिन' से 'उठिन', फिर 'दौड़िन' की दिशा में सहज गति से बढ़ने दिया जाए। क्या हम आशा करें कि गौरांग प्रभुओं के मानसपुत्र, हमारे नए अंग्रेज बहादुर इसकी अनुमति देंगे? लेकिन शायद उनसे फरियाद करना बेकार है क्योंकि अभी तक वे इस धक्के से उतर नहीं पाए होंगे कि माइकेल जैक्सन की भारत-यात्रा स्थगित हो जाने के कारण वे जादुई धुनों के साथ कूल्हे मटकाने से वंचित रह गए।

बहरहाल, इस नाजुक और दर्दभरे मामले को यहीं छोड़, उचित होगा कि 'समूचे देश की सहमति' वाली राय का भी थोड़ा परीक्षण कर लिया जाए। हिंदी समूचे देश को स्वीकार है या नहीं?—इसका फैसला यदि हम बुद्धिजीवियों-पत्रकारों, निहित स्वार्थों से युक्त लोगों, राजनेताओं और केंद्र या राज्य सरकारों पर छोड़ देंगे, तो इस विषय को हम उस लंबी बहस में उलझा देंगे, जो देश में अनेक वर्षों से चली आ रही है और अभी शायद बहुत वर्षों तक चलती रहेगी।

सच तो यह है कि इस मामले का फैसला देश के नायक जनसमूह द्वारा किया जा चुका है, भले ही उसे हमारे किन्हीं मुखियाओं या मुखियों ने रजिस्टर-दर्ज न किया हो। पर ऐसे मुखियों को थोड़ी देर के लिए भुला दें तो दैनंदिन जीवन के असंख्य क्षेत्रों में देखा-पहचाना जा सकेगा कि आर्थिक-सामाजिक राजनैतिक सभी स्तरों पर, हिंदी ने, अनेक विरोधी स्थितियों के बावजूद, राष्ट्र को सूत्रबद्ध किया है।

जैसे हम जानने की कोशिश करें कि जो चीज़ें आम लोगों तक पहुंचती हैं और उनके इस्तेमाल की हैं, उनका विज्ञापन सिनेमा, आकाशवाणी, दूरदर्शन अथवा अन्य माध्यमों से किस भाषा में होता है? दियासलाई की डिब्बी, सुहाग-बिंदी, हल्दी-मिर्च, नमक की पुड़िया, कपड़ा धोने या नहाने का सस्ता साबुन, रोशनाई की टिकिया, पान-मसाला आदि के लेबिल

किस भाषा और लिपि में उपलब्ध हैं? चुनाव प्रचारों, भाषणों और हैंडबिलों की भाषा-लिपि आम तौर से क्या होती है? विशेषकर यह जानने की कोशिश की जाए कि अहिंदी भाषी क्षेत्रों में अन्य-भाषाभाषी नेता किस भाषा के माध्यम से अपने विचार प्रस्तुत करते हैं? अभी कुछ ही दिन हुए, सन् 1996 में जब राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं के सर्कुलेशन संबंधी आंकड़े प्रकाशित हुए और उनमें हिंदी पत्र-पत्रिकाओं की उच्च स्थिति उभरकर सामने आई तो समारोह के मुख्य अतिथि—वाणिज्य मंत्री श्री चिंदबरम ने वक्तव्य दिया कि वे चूंकि हिंदी बोल या पढ़ नहीं सकते, इसलिए उक्त आंकड़ों के आलोक में उन्हें कोई राजनीतिक महत्वकांक्षाएं नहीं पालनी चाहिए। इस उद्गार के निहितार्थों पर हमें विचार करना चाहिए।

साथ ही, हिंदी फिल्मों के आरंभ में जो परिचयांकन तीस-पैंतीस वर्ष पूर्व तक अनिवार्यतः अंग्रेजी में होता था, उसमें कितनी तीव्रता से बदलाव आया है, यह भी विचारणीय है। बेशक, रोज़मर्रा के इस्तेमाल की बहुतेरी चीज़ों के लेबिल आज भी अंग्रेजी में छपते हैं, लेकिन ग़ौर करें तो इसकी वजह अंग्रेजी की व्यापक पहुंच या बोधशीलता नहीं, बल्कि विदेशी राज के वक्त से अंग्रेजी में छपते आ रहे और लोगों की आंख पर चढ़े इनके ट्रेडमार्क की लोकप्रियता है।

एक बात और भी है। हिंदी-देवनागरी व्यापक जनसमूह की भाषा-लिपि है और अंग्रेजी—रोमन भाषा—लिपि खाते-पीते, संभ्रांत शासक वर्ग की, इसे हम सस्ते बीड़ी के बंडल और मंहगी सिगरेट की डिब्बी के रंग-रूप द्वारा साफ जान सकते हैं। यह अकारण नहीं है कि एयर कंडीशनर, कम्प्यूटर, रेफ्रीजरेटर, मोटरकार, रंगीन टी.वी. सेट आदि के विज्ञापन अधिकतर अंग्रेजी तथा मंहगी ग्लॉसी पत्रिकाओं का सहारा लेते हैं और हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में अपेक्षतया कम दिखाई देते हैं। इसका सीधा संबंध जनता की क्रय-शक्ति से भी है। रेडियो एक समूह माध्यम है और हिंदी आम, गरीब लोगों की भाषा, इसलिए मंहगी चीजों का विज्ञापन उन्हीं माध्यमों द्वारा लाभकारी हो सकता है, जो समृद्ध-संपन्न वर्गों के बीच अधिक सरलता से पहुंच सकते हैं।

उत्पादकों और उपभोक्ताओं के बीच—संबोधकों और संबोधितों के बीच—हिंदी ने यह जो सेतु बनाया है, उसके महत्व को न समझना, बल्कि हिंदी को सस्ती, घटिया बताकर उसको नीची निगाह से देखना अपने-आप को तथा देश के आम आदमी को अवमानित करना है। उससे भी अधिक, यह आत्म-प्रवंचना के दुष्चक्र में फंसना है।

जब तक संभ्रांतजनों का आचरण यह रहेगा कि वे पानवाले, रिक्शेवाले, कुली, रेल के साधारण दर्जे, कबाड़ी, मजदूर, पंसारी, मंदिर, तीर्थ, फिल्मी गाने आदि-आदि की भाषा को समझें तो सही, लेकिन उसे बरतने में वैसी ही शर्म महसूस करते हैं, जैसी वे इन उपयुर्क्त लोगों-स्थलों-वस्तुओं से मिलने-जुलने-बरतने में करते हैं, तब तक इन कथित संभ्रांतों को आत्मप्रवंचना से मुक्ति न मिल पाएगी। जो रास्ता उनकी शक्ति बन सकता था और जिसके

जरिए वे देश से, लोगों से और अंततः अपने आप से जुड़ सकते थे, वह रास्ता ही इन लोगों ने बंद रखना चाहा है।

आत्म-प्रवंचना के साथ-साथ उक्त वर्ग एक भीतरी डर के शिकार भी हैं। डर यह कि जो एक ओढ़ी हुई पहचान उन्होंने अपने लिए बना ली है वह कहीं टूट-बिखर न जाए। अंग्रेजी के माध्यम से वे सत्ता-केंद्रों, उच्च समाज, महानगर, शासक-वर्ग, चुस्त-पाइप-डिनर-होटल-हवाई-जहाज-चढ़ती हुई सीढ़ी आदि से जुड़े रहते हैं। अपने को तथा अपने देश को पहचानने की प्रक्रिया शुरू होते ही, उन्हें इस ताम-झाम के भर-भराकर गिर पड़ने का खतरा सामने दिखता है। वह ताम-झाम कितना ही नक़ली हो, और अंतिम विश्लेषण में, उनकी आत्मिक आंतरिक शांति के लिए नाकाफ़ी—पर देश के कुछ लाख लोग मुट्ठी भर—मुश्किल से आधा या एक प्रतिशत—इसे जबरन ओढ़े रखना चाहते हैं। परंतु राष्ट्रीय जीवन की सतत् गतिशील प्रक्रिया अपने राजनीतिक-औद्योगिक-आर्थिक-सामाजिक-धार्मिक साधनों की मदद से इसकी विडंबना को उजागर करती जा रही है।

बहरहाल, यह चर्चा शुरू हुई थी—संयुक्त राष्ट्रसंघ में हिंदी की मान्यता की बात से। दरअसल, वह बहुत-कुछ सत्ता की राजनीति से जुड़ा हुआ प्रश्न है। हिंदी के अनेक महारथी तो इस स्वप्न को मन में लिए-लिए विदा हो गए। अनेकानेक विश्व हिंदी सम्मेलनों के बावजूद वह लक्ष्य दूर ही होता जा रहा है कि बल्कि सुरक्षा परिषद में जापान-जर्मनी जैसे अर्थ-प्रभुता संपन्न देशों का पलड़ा भारी हुआ है। स्थिति यह है कि नेपाल-भूटान, पाकिस्तान, बांगला देश, मॉरिशस, श्रीलंका, फिजी, ट्रिनिडाड-टोबैगो आदि देशों में हिंदी थोड़ी बहुत समझी जाती है और विश्व के अनेक अन्य देशों में इसका यतिंकचित अध्ययन-अध्यापन भी होता रहा है। सन् 1961 की जनगणना के अनुसार भारत में यह लगभग साढ़े तेरह करोड़ लोगों की मातृभाषा थी, पांचेक करोड़ उर्दू-राजस्थानी-बिहारी-हिंदुस्तानी-पंजाबी भाषियों की लगभग मातृभाषा थी और लगभग एक करोड़ अन्य भारतीय इसे बोलते-समझते थे। इस तरह 1961 की जनगणना के अनुसार लगभग उन्नीस-बीस करोड़ भारतवासी हिंदी भाषा के माध्यम से अपना काम चलाते या चला सकते थे। माना कि यह संख्या भारत की तत्कालीन आबादी (लगभग 43 करोड़) के आधे से कम थी तथापि दस वर्ष पूर्व यूनेस्को द्वारा प्रकाशित एक शोधसूची के अनुसार विश्व की प्रथम ग्यारह भाषाएं ये थीं: चीनी, अंग्रेजी, रूसी, हिंदी, स्पेनिश, जर्मन, जापानी, बंगला, अरबी, पुर्तगाली और इतालवी।

तब से तीन जनगणना सर्वेक्षण और हो चुके हैं, जिनमें से ताज़े 1991 के सर्वेक्षण के नतीज़े तो अभी आने बाकी हैं, पर 1981 के भारतीय जनगणना सर्वेक्षण के आधार पर यह जानकारी एक नवप्रकाशित, अधिकाधिक पुस्तकों में दी गई है।

"हिंदी भारतीय संघ की संविधान-घोषित राजभाषा है, जिसका देश की 42.88 प्रतिशत जनता मातृभाषा के रूप में प्रयोग करती है। हिंदी भारत के छह बड़े प्रदेशों—उत्तर

प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश तथा हरियाणा की मुख्य भाषा है। सांख्यिकी की दृष्टि से हिंदी विश्व की तीसरी प्रधान भाषा मानी गई है तथा इसके बोलनेवालों की संख्या विश्व में, विशेषज्ञों ने सत्तर करोड़ बताई है।"

हिंदी और उसकी उपभाषाएं (1995)
—विमलेश कांति वर्मा, 543

अस्तु, विश्व की तीसरी बड़ी भाषा होने के बावजूद हिंदी को अंतर्राष्ट्रीय महत्व न अभी मिला है, न ज़ल्दी उम्मीद ही है। हिंदी का नंबर यदि आएगा भी तो उस वक्त जब हमारे समुद्रों से भी अपार तेल-राशि मिलनी शुरू हो जाएगी या ऊर्जा का कोई अन्य स्रोत—आध्यात्मिक पारमार्थिक के अलावा—खोज निकालने में हम समर्थ हो जाएं।

ये दूर की बातें हैं, फिलहाल, हिंदीवालों की इच्छा यही होनी चाहिए कि हमारी भाषा और हमारी लिपि अपने देश के अंर्तसूत्रों तथा सेतुओं को निर्मित करती रहे। यही उसकी वास्तविक और सात्विक उपलब्धि होगी। □

हिंदी अपने गुणों से देश की राष्ट्रभाषा है।

—लालबहादुर शास्त्री

हिंदी ने सहज संबंधों की तलाश की है

राजेंद्र अवस्थी

प्रख्यात साहित्यकार तथा कादाम्बिनी के संपादक राजेंद्र अवस्थी ने हिंदी के विकास को देश-विदेश में देखा एवं परखा है। वह हिंदी की अन्तःशक्ति से परिचित हैं तथा निरंतर इस पर बल भी देते हैं।

आज का तिब्बत हजारों साल पहले का सुमेरू पर्वत है। कहा जाता है कि प्राचीन सभ्यता सुमेरु पर्वत के नीचे ही जन्मी, पनपी और फैलती गई। उसका विस्तार ग्रीक, रोम, मेसोपोटामिया से लेकर सिंधु घाटी तक था। समूचे विश्व की प्राचीनतम सभ्यता के क्षेत्र यही स्थल रहे हैं। वैसे भी सुमेरु का अर्थ होता है मेरुदंड, यानी आधारशिला। हमारे शरीर का मेरुदंड हमारी रीड़ की हड्डी है। उसी के सहारे पूरा शरीर टिका हुआ है। सुमेरु पर्वत के नीचे धीरे-धीरे जिस सभ्यता ने जन्म लिया था, वह विश्व बंधुत्व का केंद्र थी। रोम और मेसोपोटामिया में यदि सिंह और सूर्य-चक्र के अवशेष मिले हैं तो वही सिंधु घाटी में भी हैं। यहां निवासियों का रहन-सहन और धर्म लगभग समान था।

वर्षों शायद एक तारतम्य था तो सुमेरु सभ्यता को बांधे था और समूची मनुष्य जाति को जिसने एक ही तरह से रहना, खाना-पीना और विकास के तौर-तरीके समझाए थे। तब इनकी भाषा भी शायद बहुत मिलती-जुलती रही है। शिलालेख इसके प्रमाण हैं। भाषा और बोली के बारे में अक्सर कहा जाता है कि हर दो कोस यानी मील में बोली बदल जाती है और पांच कोस यानी दस मील में भाषा में अंतर आ जाता है। जो अवशेष मिले हैं, उनसे स्पष्ट है कि बोली और भाषा जो भी रही हो, आज की देवनागरी का वह प्रारंभिक स्वरूप है।

इस प्रसंग का उल्लेख इसलिए यहां आवश्यक है क्योंकि राजनीति और भूगोल की

सीमाएं कालांतर में इतिहास पर पलीता लगाती चलती हैं और अपनी सुविधा के अनुसार हम नए इतिहास का निर्माण करते चलते हैं।

सुमेरु सभ्यता का समूचा क्षेत्र देवनागरी लिपि का विस्तार था और उसी देवनागरी से क्रमशः हिंदी भी विकसित हुई। इसलिए मैं काफी वजन देकर यह कह सकता हूं कि हिंदी भाषा की भूमिका इसी क्षेत्र में लिखी गई थी। बाद में वह सिमटती गई और हमलावरों तथा लुटेरों का कोपभाजन बनकर कई भाषाओं में बंट गई। उसी के साथ देश और मनुष्य भी बदलता गया और सभ्यता की रीढ़ को हम क्रमशः भूलते गए।

बात यहीं समाप्त नहीं होती। मुझे लगभग समूची दुनिया देखने का मौका मिला है। आज की दुनिया हजारों साल की दुनिया से बहुत अलग है। कई हिस्से महासागर के गर्त में चले गए और कई भूभाग महासागर से उभरकर बाहर आए। अमरीका जैसे महान और विकसित देश का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। आदमी जितना नया है, उतना संघर्ष उसका कम है। पुराने आदमी ने कहीं बहुत ज्यादा संघर्ष किया था। बदलते हुए मौसमों का उसे सामना करना पड़ा था और उसमें उसने अपनी ही सभ्यता को डूबते और तैरते देखा था। इस संघर्ष में भूमिका रहती है अभिव्यक्ति की। इसी अभिव्यक्ति के माध्यम की हमें तलाश है।

सुमेरु क्षेत्र के बाहर भी जाकर देखें तो दृष्टि कुछ और ही होगी। घने हरे वनों के बीच उभरे हुए नए-नए शहर। उन शहरों की चकाचौंध। झिलमिलाती हुई दुकानें। एक दुकान में हम घुस गए। कपड़े से लेकर कई आधुनिक कही जाने चीजें उसी एक स्टोर में थीं। हम ठहरे पर्यटक, हमने एक-एक चीज देखना शुरू किया। थोड़ी देर बाद ही एक सज्जन ने हमसे कहा, 'आपको कुछ पसंद आया?'

चौंकना हमारे लिए साधारण था। हमने उसकी ओर देखा, उसके तीन-चार साथियों को देखा, फिर हम पूरी दूकान देख गए।

—'आप भारत से आए हैं, ऐसा लगता है।'

—'जी हां, राजकोट में हमारा घर था।'

—'था, अब नहीं है?'

—'पता नहीं, हमारे बाप-दादे आए थे, हमें जाने का मौका ही नहीं मिला।' हमें लगा, हमारे देश का एक टुकड़ा यहां टूटकर आ गया है।

—'आप इतनी अच्छी हिंदी बोल लेते हैं?'

निहायत भारतीय ढंग से उसने हाथ जोड़े, 'जी हां, पिताजी से और माताजी से सुनते रहे हैं हम, वही सीखा है।'

यह प्रसंग था कीन्या का, अफ्रीका का एक स्वतंत्र गणराज्य। शहर था मोमबासा। यह केवल मोमबासा में नहीं था, अफ्रीका के समूचे पूर्वी तट, मध्य अफ्रीका जिसे हम काइरे कहते हैं और पश्चिमी तट, जहां नाइजीरिया आदि देश हैं—सभी जगह अचानक

हमारा सामना भाषा के साथ हुआ है। न जाने कितने समय पहले इनके पूर्वज यहां आए थे। अपनी मेहनत से उन्होंने संघर्ष किया और यहां जम गए।

मॉरिशस भारत और अफ्रीका के बीच एक छोटा सा द्वीप है। यहां पहले अफ्रीकी दास लाए गए थे और कोड़े मार-मारकर उनसे पत्थर उठवाए गए। पुर्तगाली और फ्रांसीसी शासक कोड़े के बल पर भी यह काम नहीं करा सके। तब आए बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश के लोग। उन्होंने कोड़े भी खाए, लेकिन मेहनत भी की और धीरे-धीरे समूचे द्वीप को उपजाऊ मिट्टी में ढाल दिया। खेतों के बीच में छुटपुट पड़े पत्थर इस बात के गवाह हैं कि उन भारतीयों ने इतने भारी पत्थर पूरी जमीन से उठाए थे। भारत अब भी उनकी 'महतारी' भूमि है और क्रियोल के सिवाय जिस भाषा में उन्हें बोलने में आनंद मिलता है, वह भोजपुरी या पूरबी-अवधी मिली हुई हिंदी है। भारत के प्रति उनके लगाव को देखकर लगता है, असल में जैसे भारत उनकी ही भूमि है। दूसरे विश्व हिंदी सम्मेलन में मॉरिशस के तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री शिवसागर रामगुलाम ने तो घोषणा की थी कि भारत के बाहर यदि कोई हिंदी-भाषी प्रधानमंत्री है, तो वह मैं हूं। हमारी तालियों ने ही उनका स्वागत नहीं किया था, हिंदी भाषा के जयघोष में हमने अपनी आवाज मिलाई थी।

अफ्रीकी तटों के सारे द्वीपों में लगभग यही स्थिति है। यहां पहुंचकर बिलकुल नहीं लगता कि हम अजनबी हैं। इस हिस्से को छोड़कर आगे चलें तो इंग्लैंड पहुंचकर तो एक अजीब आभास होगा। लंदन शहर लगता है बंबई का टुकड़ा है, या यूं कहें कि बंबई लंदन का टुकड़ा है। साउथ हाल पूरी तरह हिंदी की ध्वनि से गुंजित होता है। स्काटलैंड के एक विद्वान से बात हुई तो उन्होंने बताया कि उनकी भाषा का अंग्रेजी से दूर का भी संबंध नहीं है। वह संस्कृत, जर्मन और पालि का अपभ्रंश रूप है।

यूरोप की यात्रा करते हुए प्रायः लोगों को भय होता है कि वे क्या करेंगे। भय छोड़कर जर्मन शब्द 'बुंदिशवान' में जाइए। घबराइए नहीं, यहे रेलवे स्टेशन का पर्यायवाची है। हमारे यहां जब बग्घियां चलती थीं तब उनके लिए क्या लगभग यही प्रतिध्वनि नहीं थी। फ्रांस में जाकर मन घबराता है परंतु हिंदी भाषी फ्रांस के हर शहर में हैं। स्पेन तो हमारा घर है। यूरोप में यात्रा करते हुए उत्तर भारतीयों को प्रायः स्पेन का निवासी समझा जाता है। फिर स्पेन के समुद्री तटों पर जाइए, आवाजों के शोरगुल में हमारी भाषा की ध्वनियां जरूर सुनने को मिल जाएंगी।

रोम में हमारे कई मित्र रहते हैं। उनका कहना है कि इटली के बहुत से लोगों ने उनसे हिंदी सीखी है। वहां के विश्वविद्यालयों में हिंदी पढ़ाई जाती है। उनकी शिकायत यही है कि भारत में अंग्रेजी का प्रभुत्व इतना अधिक है कि वहां पहुंचकर बिना हिंदी बोले हमारा काम चल जाता है। यह सुनकर हमें लज्जित होना पड़ता है।

हालैंड में बहुत बड़ी संस्था सूरीनाम के निवासियों की है। सूरीनाम दक्षिण अमेरिका

के उत्तरी भाग में है और पूरे देश में हिंदी भाषा का प्रचलन है। यह हिंदी उनकी सुविधामयी हिंदी है, लेकिन वह अंग्रेजी नहीं है। सूरीनाम के लोगों का रहन-सहन, खान-पान सभी भारतीय है। मॉरिशस की तरह वे भी गंगा के दर्शनों के इच्छुक हैं। इन दिनों तो सत्ता भी उन्हीं के हाथ है। सूरीनाम में पहले डच शासन था। डच यानी हालैंड। यही डच जर्मनी तक फैले थे, इसलिए जर्मनी को डचेज लैंड भी कहा जाता है। हालैंड में एक लाख से भी अधिक हिंदी-भाषी हैं। बड़े-बड़े शहरों में उनके अपने भवन हैं, जिन्हें 'एकता-भवन' कहते हैं। इन्हीं एकता भवनों में वे यज्ञ, हवन और मंत्रों का उच्चारण करते हैं। हालैंड पहुंचकर अपने को अजनबी समझना सबसे बड़ी भूल होगी।

आगे निकल चलें हम डेनमार्क, ओसलो और स्वीडन तक, या उसके आगे ग्रीनलैंड और फिनलैंड भी—हिंदी भाषा के उच्चारण को सुनने के लिए हमें तरसना नहीं होगा। हर सड़क और हर मोड़ पर कोई भारतीय मिल जाएगा और मजे में आप उससे 'नमस्ते' या नमस्कार कर सकते हैं। इन क्षेत्रों में कुछ विदेशियों को शुद्ध संस्कृत बोलते हुए सुनना सचमुच बहुत अच्छा लगता है। जैसे लायडन विश्वविद्यालय में डॉ. हेस्तरमान से शुद्ध संस्कृत में संभाषण किया जा सकता है।

यूरोप से लगे हुए क्षेत्रों में यूगोस्लाविया, चेकोस्लावाकिया, हंगरी, बलगेरिया, पोलैंड और रूस भी हैं। डॉ. स्मेकल से लेकर डॉ. चेलिशेव तक निहायत भारतीय हैं। वहां बहुत से परिवार हैं और हमसे शुद्ध हिंदी बोलते हैं। इन देशों में कई बार अंग्रेजी के कारण कठिनाई हो सकती है, हिंदी भाषी कोई न कोई, कहीं न कहीं अवश्य मिल जाएगा। फिर कई शब्द भी ऐसे हैं जिनका उच्चारण और अर्थ देवनागरी हिंदी से मिलते-जुलते हैं, थोड़ा दिमाग लगाने की जरूरत है, अजनबी नहीं कहा जा सकता।

दक्षिण अमरीका में सूरीनाम के साथ गयाना, फिजी और महान् सांस्कृतिक देश मेक्सिको तक हिंदू देवी-देवताओं और हिंदी भाषा तथा देवनागरी लिपि का विस्तार मिलेगा। जहां-जहां प्राचीनता होगी हिंदी का प्रभाव अवश्य होगा। मेक्सिको में सारे हिंदू देवी-देवताओं को लेकर लगता है, कभी भारतीय सभ्यता का विकास यहां तक अवश्य रहा होगा। यही स्थिति दक्षिण-पूर्वी देशों की है। वही देवी-देवता वहां भी हैं। सूर्य एक महान शक्ति के रूप में संभवतः समस्त विश्व में व्याप्त हैं। जापान को तो 'सूर्योदय' का देश ही कहा जाता है। मेरा अपना अनुभव बहुत बृहत है। चीन हो या जापान, रूस हो या कोरिया, अमरीका हो या कैनेडा, कहीं कोई शहर मुझे नहीं मिला जहां भारतीय न हों। इससे स्पष्ट है कि भारतवंशी मूल रूप से बहुत दुःसाहसी रहे हैं, वे अपनी भाषा और सभ्यता को साथ ले गए हैं। इतना ही क्या काफी नहीं है कि भारी भीड़ में एक अकेला आदमी भी मिल जाए जो आपकी आवाज को सुन और समझ सके। दोस्ती के लिए भीड़ की नहीं, एक आदमी की जरूरत होती है। हिंदी भाषा चाहे जिस रूप में जहां गई हो उसने अपने सहज संबंधों

की तलाश की है और एक विश्व बंधुत्व को जन्म दिया है। भेद जहां भी उभरे हैं, उनके कारण राजनीति में मिलते हैं। राजनीति शक्ति पर आधारित है और भाषा का संबंध मनुष्य के भीतरी तत्वों से हैं, उन तत्वों से जिनमें न सड़ांध है और न कभी कीड़े पड़ सकते हैं, वे पावन गंगा की तरह भारत की उस महान भूमि पर खड़े हैं जो वर्षों की यातनाओं को झेलते हुए आज भी एक अकेली धरती समूची दुनिया का मानचित्र प्रस्तुत करती है। ऐसी धरती से उभरी हुई हिंदी भारत में भले ही विवाद का माध्यम बने, यहां से बाहर जाकर वह विश्व-बंधुत्व का माध्यम बनती है, इसका अनुभव कोई सैलानी ही कर सकता है। □

राष्ट्र के एकीकरण के लिए सर्वमान्य भाषा से अधिक बलशाली कोई तत्व नहीं। मेरे विचार में हिंदी ही ऐसी भाषा है।

—लोकमान्य तिलक

सागर पार : हिंदी का प्रचार-प्रसार

प्रेमस्वरूप गुप्त

यह हिंदी भाषा की आंतरिक शक्ति है कि तमाम विरोधों के बावजूद उसका निरंतर विकास हुआ है। सागर की सीमाओं को लांघकर हिंदी विदेशों में अपने परचम लहरा रही है। प्रख्यात हिंदी विद्वान एवं आलोचक प्रेम स्वरूप गुप्त हिंदी के इसी पक्ष को उजागर कर रहे हैं।

संतोष ही करना हो तो यह बात कम नहीं है कि हिंदी विश्व के तीस से ऊपर देशों में पढ़ी-पढ़ाई जाती है, लगभग 100 विश्वविद्यालयों में उसके लिए, अध्यापन-केंद्र खुले हुए हैं। अकेले अमरीका में लगभग 20 केंद्रों में उसके अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था है। मॉरिशस, फिजी, सूरीनाम, त्रिनिडाड जैसे देशों में भारत-मूल के निवासियों की उल्लेखनीय संख्या होने के कारण वहां हिंदी स्वतः सस्नेह प्रचारित है। विश्व के प्रत्येक प्रमुख देश में हमारे दूतावास हैं, जिनसे राजनीतिक संदर्भों के अतिरिक्त यह भी आशा की जाती है कि वे हिंदी के प्रचार-प्रसार की ओर भी ध्यान देंगे और अपने को भारत की सामाजिक संस्कृति और भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रतिनिधि समझेंगे। पर यदि यह चित्र उतना ही सच होता जितना रंगीन लग रहा है, तो संतोष करने में कोई बुराई न थी।

विदेशों में हिंदी के महत्त्व, प्रचार एवं प्रसार की स्थिति न सब जगह एक सी है, न ऐसा होना संभव है। मॉरिशस, फिजी, सूरीनाम, ट्रिनिडाड में हिंदी के लिए वहां की जनता के एक बड़े भाग में जो आदर और प्रेम है, वह यूरोप या अमरीका के देशों में कैसे मिल सकता है? इसलिए विदेशों में की हिंदी स्थिति, प्रचार और प्रसार की समस्याओं के भी विविध रूप हैं, उनके समाधान भी विविध रूपों में खोजने होंगे।

विदेशों में हिंदी की स्थिति, प्रचार तथा प्रसार को लेकर दो भिन्न दृष्टियों से विचार

करना होगा। एक दृष्टि है जो सरकारी तंत्र से जुड़ी है, दूसरी है जिसका संबंध जन-जीवन से है। पहले सरकारी तंत्रों की दृष्टि से विदेशों में हिंदी की स्थिति का जायजा लिया जाए।

पहले अपने सरकारी तंत्र की दृष्टि से जहां तक तथ्यगत स्थिति है, हमारे दूतावास सच्चे अर्थों में न तो भारत की सामासिक संस्कृति के संवाहक बन पाए हैं, न ही भारत की राष्ट्रभाषा के प्रतिनिधि। उनके लिए अधिकारियों का जो चुनाव होता है उसमें भी इस दृष्टि को अनिवार्यतः केंद्र में नहीं रखा जाता। घर में ही जब हिंदी का मामला राजनीति के पचड़े में उलझ गया हो, तो हमारे दूतावासों पर उसकी छाया न हो, यह हो भी कैसे सकता है? सामान्यतः उन देशों में जहां कि भारतवंशीय लोगों की संख्या अच्छी-खासी है और वहां हिंदी और भारतीय संस्कृति के लिए ललक-भरा अनुराग है, ऐसे ही प्रतिनिधियों और अधिकारियों का चयन होता रहा है, जो भारतीय संस्कृति और हिंदी के अनुरागी हों। उदाहरण के लिए, मॉरिशस में डॉ. भगवतशरण उपाध्याय जैसे लोगों को भेजा जाना इसी दृष्टिकोण का परिचायक था। किंतु यूरोपीय, अमरीका या अरब देशों के लिए प्रतिनिधि भेजते हुए इन बातों की ओर ध्यान रखना अपेक्षित नहीं माना जाता रहा। परिणाम यह रहा है कि इन क्षेत्रों में हमारे दूतावास पश्चिमी रंगों में रंगे, हिंदी का नाम भी यदा-कदा प्रासंगिक रूप में लेते हुए, हिंदी के प्रचार-प्रसार से सर्वथा निःसंग रहे हैं। कहीं कोई अपवाद भले मिल जाए। अतः इस कोटि के दूतावासों में सामान्यतः हिंदी की प्रतिष्ठा या प्रचार-प्रसार का वास्तविक रूप उभर ही नहीं पाया है। हां, रूस जैसे कतिपय साम्यवादी देशों में भारत से उसकी अपनी भाषा को अंग्रेजी से वरीयता दिए जाने की अपेक्षा की गई तो वहां के हमारे दूतावासों ने अवश्य इस ओर जागरूक रहने की आवश्यकता समझी। बात अब फिर शिथिल पड़ गई है और अधिकांशतः कार्य-व्यापार अंग्रेजी के माध्यम से ही होता है, हिंदी के माध्यम से नहीं। कहीं-कहीं हिंदी के अनुवाद साथ में लगाए जा रहे हैं, पर सीमित रूप में ही।

हमारे दूतावास जिन देशों में हैं उनकी सरकारों के साथ कार्य-व्यवहार में हिंदी का उपयोग करें—यह स्थिति कल्पना से काफी दूर की है। प्रायः यह स्थिति है कि हमारे देश से जाने वाले भारतीय लोगों को अपने दूतावासों से संपर्क करने के लिए अंग्रेजी का ही उपयोग करना पड़ता है। इन लोगों में ऐसे लोगों की संख्या भी अधिक नहीं होती, जो हिंदी में काम लेने में गौरव अनुभव करते हों। पर कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिन्हें अंग्रेजी अच्छी तरह नहीं आती। वे अपने दूतावासों से यदि हिंदी के माध्यम से संपर्क-सहायता चाहें तो उन्हें कठिनाई ही होती है।

अब इस पहलू पर विचार किया जाए कि विदेशों की विविध सरकारों की ओर से हिंदी के प्रति कैसा रवैया है, और किन संदर्भों में हिंदी की क्या स्थिति है। जहां तक सरकारों का भारतीय दूतावासों या भारत के साथ सीधे संपर्क में हिंदी के प्रयोग की बात है, उन्हें इस बात की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत ही नहीं होती। उनका काम अधिकांशतः हिंदी से

नहीं, अंग्रेजी से चलता है। जो देश अंग्रेजी-भाषी नहीं है, और अपनी भाषा पर बल देते हैं, वे मुख्यतः अपनी भाषा का, साथ में अंग्रेजी का यदा-कदा हिंदी में अनुवाद के साथ प्रयोग करते हैं। हिंदी अनुवादों का प्रयोग बहुत ही सीमित मात्रा में, कहिए नगण्य होता है। हां, कुछ मामलों में हिंदी अनुवाद साथ में लगाने का प्रतिबंध है, उन संदर्भों में उसे लगा दिया जाता है।

भारत के स्वतंत्र होते ही बड़े-बड़े देशों ने भी यह अनुभव किया था कि विश्व के इस बड़े भू-भाग से संपर्क करने के लिए उन्हें हिंदी की आवश्यकता पड़ेगी। भारतीय संविधान में व्यवस्था की गई थी कि 15 वर्षों में हिंदी अंग्रेजी का स्थान ले लेगी। अतः उन्हें भी यह आभास हुआ था कि इस देश से निकट संपर्क बनाने के लिए उन्हें हिंदी की ओर आना पड़ेगा। फलतः विभिन्न प्रमुख देशों की सरकारों ने अपने विश्वविद्यालयों में हिंदी के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था और सुविधा की ओर ध्यान दिया। अपने छात्रों को छात्रवृत्तियां प्रदान कर हिंदी पढ़ने के लिए भारत भी भेजा। यहां से भी अध्यापक बुलाए गए या यह सिलसिला कुछ-न-कुछ अब भी जारी है, पर वह ललक नहीं रही। उन्हें साफ दिखाई दे रहा है कि भारत में वह स्थिति अब कल्पना से भी दूर, पीछे धकेली जा चुकी है, जिसमें हिंदी एकमात्र देश की राष्ट्रभाषा और संपर्क-भाषा बनेगी। जब अंग्रेजी यहां स्थायी रूप से जमती दिखाई दे रही हो तो कोई राष्ट्र अपने युवकों के श्रम और अपने पैसे को हिंदी के लिए क्या व्यय करेगा! सीधा सवाल उपयोगिता का है।

पर सरकारी संदर्भों से हटकर महत्त्वपूर्ण एवं विकसित राष्ट्रों में हिंदी की उपयोगिता कुछ अन्य दृष्टियों से भी है। भारत के स्वतंत्र होने से पहले ही अनेक राष्ट्र इस देश की संस्कृति और सभ्यता को समझना चाहते रहे हैं। स्वातंत्र्य-पूर्व के कारण कुछ और थे, अब कुछ और हैं—यह बात दूसरी है। पर विश्व की जनसंख्या के एक बड़े भाग को समझने की कोशिश विकसित राष्ट्र न करें—यह आज के संदर्भों में सर्वथा असंभव है। आज की राजनीति सीधे सरकारों के बीच भी चलती है, सरकारों और जनता के बीच से भी चलती है। प्रेम, सह-संबंध, राजनीतिक संबंध के लिए ही नहीं, लड़ने के लिए भी दूसरे देश की भाषा सीखने की आवश्यकता होती है। इसका उदाहरण हिंदी के संदर्भ में चीन का है। भारत-चीन युद्ध के समय यह सामने आया था कि चीन ने अपने अनेक सैनिकों को एक आवश्यक मात्रा में हिंदी का प्रशिक्षण दिया हुआ था। तो अपने-अपने स्वार्थों-अर्थों को ध्यान में रखकर विभिन्न विकसित राष्ट्र अपने यहां हिंदी के पठन-पाठन की व्यवस्था करते हैं। कुछ भारत को समझने के लिए, कुछ भारत से उपयोगी संदर्भों के लिए, कुछ भारत से प्रेम के लिए।

जिन विदेशी विश्वविद्यालयों में हिंदी के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्थाएं हैं, उनकी आर्थिक व्यवस्था भले ही उन देशों की सरकारों की ओर से होती हो, पर अनेकानेक विदेशी

हिंदी विद्वान हिंदी और भारतीय संस्कृति के अनुराग में इतने रम गए हैं कि उन्होंने अपनी जीवनचर्या को ही हिंदी के प्रति समर्पित कर लिया है। उनमें इतना सच्चा और गहरा हिंदी-अनुराग है कि ये हिंदी का काम ही नहीं करते, जब-जब हिंदी पीछे धकेली जाती है, उन्हें पीड़ा होती है। हिंदी के इन अनुरागी विदेशी विद्वानों के प्रति यह देश कृतज्ञ है।

ऊपर की चर्चित स्थिति अरब राष्ट्रों में नहीं दिखाई देती। उनका झुकाव आवश्यकता की मात्रा के अनुरूप उर्दू की ओर हुआ है, हिंदी की ओर नहीं। पर इसका लाभ इस देश के उन लोगों को बराबर मिलता है, जो इन राष्ट्रों में व्यापार, नौकरी या अन्य संदर्भों से गए हैं। उर्दू स्वरूपतः हिंदी से दूर होकर भी बहुत दूर नहीं जा पाती, अतः लिखित रूप से चाहे न सही, बोलचाल के स्तर पर उसका लाभ हिंदी-उर्दू दोनों के लोगों को वहां समान रूप से मिलता है।

तीसरे वर्ग में वे देश आते हैं जहां भारत-मूल के निवासी बड़ी संख्या में बसे हुए हैं, जैसे मॉरिशस, फिजी, सूरीनाम, त्रिनीडाड आदि। इन देशों में हिंदी को राजकीय आश्रय सीमित रूप में ही प्राप्त है। अपनी जनसंख्या के आधार पर भारतीय जितना प्रतिनिधित्व अपने देश की सरकार में ले पाते हैं, उसी अनुपात में वे हिंदी को उठाने की बात कर पाते हैं। जब राजनीतिक जोड़-तोड़ों में भारतवंशियों की यह शक्ति भी बिखर जाती है तो हिंदी को किसी ऊंचाई तक उठा ले जाना वहां भी संभव नहीं है। सरकारी तंत्र इन देशों में नीचे के स्तर पर हिंदी-शिक्षण की व्यवस्था करता है। उच्च शिक्षा और राजकीय प्रयोग के लिए हिंदी को ग्रहण किए जाने का अभी वहां सवाल ही पैदा नहीं हुआ।

इस प्रकार प्रशासकीय स्तरों पर विदेशों में हिंदी की जो भी व्यवस्था है उसका अधिकांश हर देश की अपनी-अपनी नजर के अनुसार उपयोगिता के कारण है। उसमें भारत सरकार और भारतीय दूतावासों का योगदान बहुत ही सीमित है। हां, मॉरिशस, फिजी आदि देशों में भारतीय प्रशासन और दूतावासों के हिंदी-प्रोत्साहन विषयक योगदान को अवश्य ध्यान में रखना होगा।

यहां इस बात का विवेचन भी आवश्यक है कि प्रशासकीय माध्यमों से हिंदी के अध्यापकों और विद्यार्थियों का जो आदान-प्रदान होता है, उसकी क्या स्थिति है? विभिन्न देश कुछ अध्यापकों, कुछ विद्यार्थियों को अपने व्यय पर हिंदी सिखवाने के लिए भारत भेजते हैं। कुछ विद्यार्थी भारत की छात्रवृत्तियों पर विनिमय योजनाओं के भीतर भी आते हैं। ऐसे हिंदी-अध्येताओं का हिंदी-शिक्षण अधिकांशतः शिक्षा मंत्रालय के केंद्रीय हिंदी संस्थान के माध्यम से दिया जाता है, कुछ को कतिपय विश्वविद्यालयों में आबंटित कर दिया जाता है। कुछ देश, कुछ निश्चित अवधि के लिए भारत से हिंदी अध्यापकों का चयन करके आमंत्रित करते हैं और अपने यहां हिंदी-शिक्षण की व्यवस्था कराते हैं। भेजे जाने वाले हिंदी अध्यापकों के चयन की प्रक्रियाएं प्रशासकीय तंत्र से गुजरती हुई ऐसी बन गई

है कि जो लोग जाते हैं, उनमें 'मिशनरी स्पिरिट' बहुत कम और विदेश जाने का 'चांस' पाने की ललक अधिक काम करती है। सही क्षमताओं के लोगों का चयन आज वैसे ही कठिन हो गया है। अब रही उन लोगों की बात जो हिंदी सीखने भारत आते हैं। इनमें से जो विश्वविद्यालयों में भेजे जाते हैं, उनमें सही शिक्षा इसलिए नहीं पहुंच पाती है कि विश्वविद्यालयों में हिंदी को आधुनिक वैज्ञानिक प्रणालियों से द्वितीय भाषा के रूप में पढ़ाने की पद्धतियों का सही विकास नहीं हुआ। और केंद्रीय हिंदी संस्थान इसलिए सही उत्तरदायित्व का वहन नहीं कर पाता कि वह शिक्षण-प्रशिक्षण प्रणाली की आभासी वैज्ञानिकता में उलझ गया है। पर जो भी है, यही एकमात्र व्यवस्थित संस्था है जहां वैज्ञानिक पद्धति से विदेशियों को भारत में हिंदी पढ़ाने की व्यवस्था आयोजित है।

सब मिलाकर प्रशासकीय संदर्भों के साथ जुड़कर हिंदी की दशा विदेशों में उतनी उत्साहवर्द्धक नहीं, उतनी संतोषजनक नहीं, जितनी होनी चाहिए। भारत में संवैधानिक और शासकीय स्तर पर हिंदी की जो स्थिति है, उसमें जो शैथिल्य है या जो उत्साह है—दोनों की छाया विदेशों के प्रशासकीय तंत्र से विकसित होने वाली हिंदी-स्थिति पर पड़ना अस्वाभाविक नहीं है।

यह रूप 'विश्व हिंदी' का कहा जा सकता है, पर व्यवहार के क्षेत्र में हिंदी की एक अपनी दुनिया है, जो अपने आत्म-बल पर विकसित हो रही है। भाषा की सही शक्ति सरकार नहीं होती, उसके बोलनेवाली जनता होती है। आइए, हिंदी की इस दुनिया का, 'विश्व हिंदी' का नहीं, अपितु 'हिंदी-विश्व' का रूप देखें।

भारत में हिंदी बोलने-समझने वालों की संख्या निरंतर बढ़ रही है। इस दृष्टि से उर्दू-भाषी लोग भी हिंदी-विश्व की परिधि में ही आते हैं। भारत में हिंदी चाहे सरकारी स्तर पर एकमात्र संपर्क भाषा न बन पाए, पर उन प्रसंगों पर जहां देश के विभिन्न प्रांतों से विभिन्न प्रकार के वर्गों के लोग जुड़ते हैं, वहां यह स्थिति देखने को मिलती है। यदि यह उच्चवर्गीय लोगों का सम्मेलन है, सरकारी, अर्द्ध-सरकारी, राजनीतिक दलों आदि का सम्मेलन है तो प्रायः अंग्रेजी संपर्क-भाषा के रूप में काम करती है, स्वल्प-सा प्रयोग हिंदी का चलता है। पर यदि मिलन लोक-जीवन से जुड़े लोगों का हुआ तो हिंदी अपने आप संपर्क भाषा का रूप ले लेती है। भारत के किसी भी भाग में जाइए, यदि मिलनेवाले लोग उच्चवर्गीय या उच्चाभासीवर्गीय नहीं हैं तो एक भाषाभाषी से अन्य भाषाभाषियों के मिलन की संपर्क भाषा प्रायः हिंदी मिलेगी। सैनिक जीवन में, रेल-यात्राओं में, तीर्थ स्थानों में, छात्र-सम्मेलनों में, प्राकृतिक-ऐतिहासिक दर्शनीय स्थलों में, बाजारों में आपको इस हिंदी-विश्व की क्षमता और उपयोगिता का पता चल सकेगा। यह स्थिति निरंतर विकसित हो रही है। भारत में हिंदी बोलने वालों की हिंदी समझने वालों की, और हिंदी को व्यावहारिक जीवन में उपयोग करने वालों की संख्या निरंतर बढ़ रही है।

यही विकासशील स्थिति हिंदी के लिए विदेशों में भी है। विदेशों में हिंदी का उपयोग मुख्यतः भारतवासियों के द्वारा होता है। इस दृष्टि से विदेशों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है। पहला वर्ग वह जिसमें भारतीय, फिजी, सूरीनाम, त्रिनिडाड जैसे देश रखे जा सकते हैं, जहां भारतवंशीय लोग भारी तादाद में बस रहे हैं। ये लोग कामकाज को लेकर इन देशों में गए थे, इनमें भारत की संस्कृति और भारत की हिंदी से सच्चा अनुराग है, उससे जुड़े रहने की ललक है। ये लोग जो हिंदी बोलते, प्रयोग में लाते हैं, वह खड़ी बोली हिंदी नहीं है। पर लिखाई-पढ़ाई के लिए वे मानक हिंदी की ओर ही बढ़ रहे हैं।

दूसरे वर्ग में वे देश हैं जहां की भाषा उर्दू है, या जहां उर्दू-भाषी जनता की पहुंच है। इन क्षेत्रों में यदि भारतीय हिंदी-भाषी मिलते हैं तो जो भाषा संपर्क-भाषा के रूप में माध्यम बनती है, उसे हिंदी से भिन्न नहीं कहा जा सकता। अरब राष्ट्रों में भारत और पाकिस्तान दोनों ही देशों के काम-धामी लोग गए हैं। इनकी पारस्परिक संपर्क भाषा प्रायः हिंदी होती है।

तीसरे वर्ग में यूरोप-अमरीका आदि वे विकसित राष्ट्र रखे जा सकते हैं, जहां बहुत बड़ी संख्या में भारत के लोग बस भी गए हैं और अस्थायी रूप से जा भी रहे हैं। इन लोगों में यदि किसी प्रांत-विशेष या क्षेत्र-विशेष के लोग परस्पर मिलते हैं तो अपनी क्षेत्रीय भाषा का प्रयोग करते हैं। पर यदि विभिन्न भारतीय भाषाभाषी मिलते हैं तो संपर्क-भाषा प्रायः हिंदी होती है। उदाहरण के तौर पर अमरीका, केनेडा में गुजराती-भाषी काफी संख्या में बसे हैं। यदि गुजराती लोग परस्पर मिलेंगे तो आरंभिक संपर्क अंग्रेजी में होने के बाद संपर्क और बातचीत की भाषा गुजराती हो जाएगी। पर यदि गुजराती और तमिल-भाषी या गुजराती और मलयालम-भाषी मिलेंगे या एकाधिक भारतीय भाषाओं के बोलने वाले मिलेंगे तो व्यक्तिगत संपर्क भाषा अधिकांशतः हिंदी बन जाएगी। भारत में अंग्रेजी ज्ञान-विज्ञान की भाषा के रूप में उतनी नहीं; जितनी प्रतिष्ठाभास की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित है। यही स्थिति विदेशों में भारतीय के पारस्परिक मिलन के समय भी कुछ-कुछ उभर आती है। पर इस आभास से मुक्ति मिलते ही संपर्क-भाषा हिंदी बनती है। यही बात भारत और पाकिस्तान के लोगों के पारस्परिक मिलन पर होती है। प्रतिष्ठाभासी स्तर पर अंग्रेजी चलने के बाद आत्मीय सम्मिलन उस हिंदी में होता है जो भारत और पाकिस्तान की वास्तविक बोली है, जिसमें संस्कृत-अरबी-फारसी की शब्दावली असहज रूप में ठूंसी नहीं जाती, सहज शब्दावली सहज रूप में बोली-समझी जाती है।

भारत में उच्च और उच्चाभासी वर्गों की संपर्क-भाषा अंग्रेजी है, जिनकी संख्या 3 प्रतिशत से अधिक नहीं है। लोक-जीवन अपनी-अपनी प्रांतीय-क्षेत्रीय भाषाओं में चलता है, वास्तविक लोक-संपर्क हिंदी के माध्यम से चलता है। इसी प्रकार विदेशों में भारत और पाकिस्तान के निवासियों के पारस्परिक मिलन प्रसंगों में उच्च और उच्चभासी वर्गों के लोगों

के मिलन पर अंग्रेजी चलती है, एक-भाषी संपर्कों में क्षेत्रीय भाषा, एकाधिक-भाषी संपर्कों में हिंदी। कुल मिलाकर 20 प्रतिशत से अधिक अंग्रेजी का उपयोग ये लोग नहीं करते। हिंदी जानने वाले व्यक्ति को इस फैली हुई हिंदी की दुनिया में, अंग्रेजी न जानने पर भी, कोई कठिनाई नहीं होती! सैंकड़ों लोग भारत में किसी भी प्रदेश की भाषा के बोलने वाले, विकसित देशों में कहीं भी काम के लिए चले जा रहे हैं। हिंदी उनके लिए माध्यम का काम कर रही है और वे अपना काम कर रहे हैं।

हिंदी की इस दुनिया की, इस 'हिंदी-विश्व' की जनसंख्या कम नहीं है। विश्व में इस दृष्टि से हिंदी का स्थान तीसरा है। पर इंडोनेशिया, जावा, सुमात्रा तथा उन मुस्लिम-बहुल देशों में जहां उर्दू बोली-समझी जा सकती है, हिंदी के बोलने-समझने में अधिक कठिनाई नहीं आती। इस दृष्टि से 'हिंदी-विश्व' की दृष्टि में उर्दू हिंदी का ही एक रूप बनती है और हिंदी-विश्व की स्थिति अंग्रेजी के बाद आती है। उर्दू का व्याकरणिक ढांचा, उसकी आधारभूत शब्दावली और उसकी मुहावरेदानी हिंदी-विश्व की सीमा के बाहर की न थी, न अभी है।

यह विशाल हिंदी-विश्व विभिन्न देशों में फैला हुआ है, पर बिखरा पड़ा है। इसकी शक्ति क्षीण पड़ी है। इसे संजोना होगा।

हिंदी का इतिहास बताता है कि वह सरकारी मशीन की भाषा बनकर विकसित नहीं हुई, लोक-जीवन की भाषा बनकर बढ़ी है। उसका सही संबल लोक है, उसकी जड़ें लोक में हैं। प्रशासन से हिंदी को प्रतिष्ठित कराने की मांग करते समय हिंदी के तथाकथित प्रेमी यह भूल जाते हैं। अपनी निष्क्रियता और हिंदी के लिए आत्मत्याग की कमी को छिपाने के लिए इससे अच्छा नुस्खा और कोई नहीं होगा कि हिंदी की उन्नति का सारा जिम्मा सरकार पर डाल दिया जाए और संविधान की धाराओं की रट लगाई जाए। 'विश्व हिंदी' को इसकी जरूरत होगी, 'हिंदी विश्व' को इसकी जरूरत नहीं। उसे तो निश्छल लोककल्याण-कामी महात्माओं की जरूरत है।

हिंदी मानवीय मूल्यों की भाषा के रूप में विकसित हुई है। उसके विकास के मूल में लोक जीवंत तत्त्वों को प्रस्फुरित करने और लोक-मंगल के विरोधी तत्त्वों से संघर्ष करने की आग रही है। उसमें मानवीय संस्कृति के उदार मूल्यों और प्रेम, करुणा और उदारता के गीत गाने की वृत्ति रही है। जिन वीरों और संतों ने, जिन भक्तों और महात्माओं ने इसे पनपाया-फैलाया है, उनमें देश के हर भाग के लोग थे, हर मजहब के लोग थे, हर जबान के लोग थे। धर्म, जाति, प्रांत, ऊंच-नीच, पूंजी, प्रशासन सब की छाया से मुक्त उदात्त चेतनाओं ने हिंदी को खड़ा किया, एक भाषा खड़ी करने के लिए नहीं, उदात्त मानवीय मूल्यों के रूपायन के लिए, मानवीय चेतना को मानव-जीवन के हर पहलू के सौंदर्य का पान कराने के लिए, अमंगलकारी तत्त्वों से जूझने के लिए, हिंदी में आज भी वह शक्ति आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित है। मानवता के कल्याण के लिए उसका प्रचार-प्रसार आज अकेले

भारत के लिए नहीं, विश्व के अपने हित में है।

हिंदी को उठाने की मांग करते समय लोगों के मन में यह कामना रहती है कि हिंदी के राजभाषा बनते ही हिंदीवालों को प्रशासकीय तंत्र में विशेष अधिकार-स्थान मिल जाएंगे, तभी उसका विरोध होता है। तब प्रतिष्ठाकामी प्रतिष्ठा के लिए अंग्रेजी को पकड़ता है। हिंदी हेयता की, हीन भावना की संवाहिका बनकर रह जाती है। हिंदी-विश्व, भारत ही में नहीं, विदेशों में भी, इस हीन स्थिति का शिकार है। आवश्यकता इस बात की है कि हिंदी-विश्व को संजोया जाए, उसे यह अनुभव कराया जाए कि हिंदी एक प्रतिष्ठा की भाषा है, इसलिए नहीं कि वह शासन-प्रशासन की भाषा है, अपितु इसलिए कि वह उदात्त मानव-मूल्यों की संवाहिका भाषा है। मूल्यों के गिरते बाजार में विश्व को अच्छे मूल्यों की चीज़ देने की क्षमता हिंदी में है, और 'हिंदी-विश्व' इस उत्तरदायित्व की भाषा का संयोजन है, इस आत्म-गौरव को जगाने की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है। आत्म-गौरव की अनुभूति से संपन्न हिंदी-विश्व हिंदी की मानव मूल्यों के लिए आत्मत्यागी वृत्ति को अपनाता हुआ विश्व-कल्याण के क्षेत्र में भारी योग दे सकेगा। अतः विश्व-हिंदी की इस भावना को भारत में भी विकसित करना होगा और विदेशों में भी। विदेशों में हिंदी के प्रचार-प्रसार की बात करते समय इस बात की ओर प्रमुख ध्यान देकर चलना होगा। □

देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता स्वयंसिद्ध है।

—महावीर प्रसाद द्विवेदी

दूरदर्शन धारावाहिक 'रामायण' में उर्दू के शब्द

तोमिओ मिज़ोकामि

तोमिओ मिज़ोकामि जापान में रहते हुए भी भारत में घटित हिंदी की गतिविधियों से स्वयं को जोड़े रहते हैं। यह उनका अनन्य हिंदी प्रेम है। जन-सामान्य को प्रभावित करने वाले दूरदर्शन धारावाहिक 'रामायण' के भाषागत मुद्दे को उन्होंने उठाया है।

रामानन्द सागर की धारावाहिक कृति 'रामायण' भारत में दूरदर्शन पर प्रसारित एक लंबा परंतु सर्वाधिक लोकप्रिय कार्यक्रम था। यह धारावाहिक लगभग डेढ़ वर्ष (जनवरी 1987 से जुलाई 1988) तक प्रदर्शित होता रहा। इसने भारत तथा भारत के बाहर के देशों के दर्शकों को भी प्रभावित किया, भले ही वे किसी भी वर्ग या विचार के व्यक्ति क्यों न हों। इस धारावाहिक को 26 वीडियो कैसेट में रिकार्ड किया गया है।

रामायण धारावाहिक दो खंडों में मुद्रित है जिसका संपादन स्वतः लेखक ने ही किया है। इसकी कुल पृष्ठ संख्या एक हजार अट्ठारह है। इसका हिंदी लिप्यन्तरण डॉ. गिरीश बक्षी ने किया है जिसे 1992 में 'ओसाका यूनिवर्सिटी ऑफ फॉरैन स्टडांज', ओसाका ने प्रकाशित किया था। इस समय इंटरमीडिएट हिंदी कक्षा की भाषा प्रयोगशाला में वीडियो के साथ-साथ इसका उपयोग शैक्षणिक पाठ के रूप में किया जाता है।

चूंकि रामायण भारतीय महाकाव्य परंपरा के दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों में से है, अतः यह सोचना स्वाभाविक ही है कि इस धारावाहिक में कठिन संस्कृतनिष्ठ हिंदी का प्रयोग हुआ होगा। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि इसमें उर्दू शब्द का बिलकुल इस्तेमाल नहीं हुआ है। 'उर्दू' से मेरा अभिप्राय फ़ारसी-अरबी मूल से आगत शब्दों से है। यद्यपि इस धारावाहिक में फ़ारसी-अरबी शब्दों का बाहुल्य तो नहीं है, लेकिन ऐसे शब्द पूर्णतः उपेक्षित भी नहीं हैं। उदाहरण के तौर पर आप देखेंगे कि वृहस्पति और वशिष्ठ अपने संवादों में कहते हैं कि

... 'धरती पर जब भी कोई *ज़ालिम* प्राणीमात्र को अपने चरणों में झुकने पर *मजबूर* कर देता है तो सच्चा इन्सान उसके सामने झुकने से *इन्कार* कर देता है। ...' एक दिन यह बहुत बड़ा वृक्ष बन जाएगा और थके हुए *मुसाफ़िरों* को अपनी शीतल छाया देगा।

इसी प्रकार सीता कहती है :

'मुझे मेरे पति से *जुदा* करने के पाप का भीषण दंड तुझे अवश्य मिलेगा।'

उपर्युक्त तीनों वक्तव्यों में रेखांकित शब्द उर्दू के हैं। सीता ने *जुदा* शब्द का इस्तेमाल अन्यत्र भी किया है। जैसे कि 'सीता और राम कभी भी *जुदा* नहीं हुए और कभी भी *जुदा* नहीं होंगे। यह शरीर रहे या न रहे।'

इसी तरह सीता ने *यक़ीन* शब्द का भी इस्तेमाल किया है। जैसे—मेरे कानों पर *यक़ीन* नहीं होता।

यद्यपि ऐसे शब्द सुशिक्षित श्रोताओं के लिए आश्चर्य का विषय हो सकते हैं लेकिन सामान्य लोगों के लिए ये अजनबी शब्द नहीं हैं क्योंकि यह कथानक की शैली के लिए सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति है जिसमें वे अपने-आप को पूर्णतः तल्लीन कर लेते हैं।

इस विषय पर शोध करने वाले किसी भी व्यक्ति के मन में यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि जहां परिनिष्ठत संस्कृतनिष्ठ हिंदी का इस्तेमाल अपेक्षित है उसमें उर्दू शब्दों का समावेश क्यों होता है? और यह भी कि उच्च कोटि की हिंदी इस तरह के हस्तक्षेप से तालमेल किस तरह बैठा लेती है। उर्दू शब्दों के प्रयोग और उनकी प्रकृति की वास्तविक स्थिति को समझने के लिए, इस अन्वेषक का प्रथम और महत्त्वपूर्ण काम इस संदर्भ में प्रयोग किए गए उर्दू शब्दों को पहले छांटना और फिर उनके प्रयोग की आवर्ती को देखना था। नीचे दिए गए शब्द उर्दू के हैं और देवनागरी अक्षरमाला के क्रम में दिए गए हैं। शब्द के सामने उल्लिखित संख्या उसके प्रयोग की आवर्ती की सूचक है।

अगर 23, अमानत 1, अर्ज़ 1, अलावा 1, असर 8, असली 15, आखिर 7, आखिरी 3, आदत 4, आदमी 3, आन 26, आम 1, आवाज़ 14, आराम 7, आसान 2, इन्कार 4, इन्सान 7, इन्सानियत 1, क़दम 6, क़ब्ज़ा 2, क़बूल 1, कमज़ोर 3, कमज़ोरी 1, कमान 1, कामी 1, क़सम 1, कसर 1, क़साई 1, क़ाबू 1, क़ायदे 1, कारनामा 1, कारीगर 1, कारीगिरी 1, किनारा 5, क़िस्सा 1, कूच 3, क़ैद 2, कोशिश 4, खत्म 1, खतरा 3, खतरनाक 1, खबर 3, ख्याल 2, खातिर 3, खुद 2, खुशी 5, खून 3, ग़लत 5, गिर्द 1, गुलाम 1, चीज़ 6, जगह 7, जमा 2, जल्दी 47, जवान 4, जहाज़ 5, जुदा 5, जोश 1, जौहर 2, ज़ख्मी 1, जंज़ीर 2, ज़रा, ज़ालिम 1, ज़िक्र 1, ज़िन्दा 1, ज़िन्दगी 3, ज़िम्मेदारी 4, ज़िला 1, जोरू 1, ज्यादा 3, तकरार 1, तरकस 2, तरफ़ 7, तरह 57, तमाशा 3, तलाश 1, तालीम 1, तीर 31, तैनात 1, तौर 1, दरबार 33, दरवाज़े 1, दस्तावेज़ 1, दाग़ 4, दिल 7, दीवार, दुश्मनी 1, देर 8, देरी 6, दोस्ती 2, दौरान 1, नज़र 10, नसीब 1,

नादान 1, नादानी 2, नामोनिशान 3, नाराज़ 1, निशान, नौबत 1, पर्दे 2, पसन्द 1, पहरेदार 4, पैदा 10, फ़ैसला 2, फ़ौज 1, बग़ैर 3, बदल 9, बदला 15, बाक़ी 8, बाज़ी 3, बारीकी 1, बेकार 2, बेक़ाबू 1, बेचारी 6, बेचारे 7, बेमतलब 1, बेमौत 1, बेसहारा 1, बेहाल 1, मजबूर 1, मजाल 1, मदद 2, मशाल 3, महीने 1, मत 3, मालूम 1, मुक़ाबला 2, मुर्दे 2, मुफ्त 1, मुल्क 1, मुसाफ़िरो 1, मेहनत 1, मेहमानदारी 1, मैदान 4, मौक़ा 2, मौज 1, मौत 8, यक़ीन 2, याद 93, रसद 1, रुख 2, रूहानी 1, रोज़ 2, रोज़मर्रा 1, रोशनी 4, लाचार 1, वक्त 4, शरारती 1, शरद 8, शान 11, शाबास 1, शाम 1, शिकार 8, शिकारी 1, शोर 1, सर्दियों 1, सरकार 40, सलाह, सवार 4, सवारी 1, सवाल 1, साल 3, सिक्का 2, सितारों 1, सुपुर्द 1, सुबह 2, सैर 2, हज़ार 10, हद 1, हमला 1, हल 10, हालत 1, हवाले 9, हिम्मत 12, हिस्सा 1, होश 4।

ऐसे शब्द जो ज्यादा बार दुहराए गए हैं सिर्फ सत्रह हैं। इन सत्रह शब्दों के सेट से परे दरबार (रॉयल कोर्ट) और तीर (ऐरो) इस अनुपात को 30 तक पहुंचा देता है। शायद इसका मुख्य कारण इस कहानी में दरबार और लड़ाई के दृश्यों की भरमार है।

कम्प्यूटर द्वारा क्रमबद्ध संख्यात्मक विश्लेषण किए बिना, इस सीरियल में प्रयुक्त शब्दों की सटीक संख्या बता पाना मुश्किल है। नमूना प्रतिदर्श 250 शब्दों के एक पृष्ठ का द्योतक है और चूंकि इस सीरियल की वास्तविक विषय-वस्तु की लंबाई 956 पृष्ठ है अतः 250 को 956 से गुणा करने पर हमें कुल 239,000 शब्द प्राप्त होते हैं जो इस पूरी कहानी में प्रयुक्त हुए हैं। इन 239,000 शब्दों में उर्दू शब्दावली का आंकड़ा 1,133 बनता है जो 0.47% है (अर्थात् 1,133—239,000 × 100 = 0.47)।

आइए, इस आंकड़े की तुलना अन्य हिंदी साहित्यिक कृतियों में प्रयुक्त उर्दू शब्दावली से करें। उदाहरण के लिए, टी. नारा द्वारा गोदान की शब्दावली के संख्यात्मक विश्लेषण से पता चलता है कि गोदान में प्रयुक्त किए गए कुल शब्द 164,449 हैं। मेरे हिसाब से इनमें उर्दू के शब्द 7,842 बैठते हैं। इस संख्या में बहुत कम हेर-फेर हो सकता है। इस प्रकार उर्दू शब्दों का कुल प्रतिशत 4.7 (अर्थात् 7,842—164,449 × 100 = 4.7) है। दूसरे शब्दों में, रामायण में प्रयुक्त उर्दू शब्द गोदान में प्रयुक्त शब्दों में दस गुणा कम है। 'गोदान' को चुनने का मुख्य कारण संख्यात्मक आंकड़ों की उपलब्धता है। तुलना के मापदण्ड हेतु गोदान के हमारे चुनाव का कोई और विशेष कारण नहीं है। चूंकि हिंदी और उर्दू आपस में रची-बसी हैं। अतः इन दोनों में अंतरभेद मुख्यतः संज्ञा और सर्वनाम और कुछ सीमा तक समुच्चय-बोधकों और विराम-चिह्नों की मदद के किया जा सकता है। शब्दभेद के ये चारों भाग गोदान में प्रयुक्त शब्दों का लगभग 60% है अतः इन चारों शब्दभेदों के आधार पर उर्दू शब्दों का प्रतिशत लगभग 8 आता है। यदि रामायण के लिए इन चारों शब्दभेदों के माध्यम से विश्लेषण की पद्धति अपनाई जाए तो उर्दू शब्दों का

आंकड़ा लगभग 0.8% तक पहुंच सकता है। यद्यपि आंकड़ा प्रतिशत से बात पूर्णतः स्पष्ट नहीं होती, फिर भी ये निष्कर्ष तो निकलना ही है कि उर्दू शब्दों का प्रयोग हमारी सामान्य अपेक्षाओं से बढ़कर है।

प्रत्येक पात्रवार उर्दू शब्दावली के संवितरण का जांचने का एक प्रयास किया गया तो उनमें कोई विशेष प्रवृत्ति देखने में नहीं आई। एक अपवाद जो दिखाई दिया वो सूत्रधार 'मंच संचालक' का भाषण था, इस पात्र की भूमिका प्रसिद्ध अभिनेता अशोक ने निभाई थी। चूंकि सूत्रधार मुख्य विषय-वस्तु का अंग नहीं है और दर्शकों, जिनमें हिंदू और गैर-हिंदू दोनों शामिल हैं, से लगातार संपर्क बनाए रखता है, इसलिए उसके वार्तालाप में बोलचाल की हिंदी का प्रभाव ज्यादा होता है जिसमें उर्दू का पुट होना स्वाभाविक है। कभी-कभी हिंदी-उर्दू पर्यायवाची शब्द एक सेट के रूप में साथ-साथ प्रयोग किए गए हैं। उदाहरण के लिए, शिक्षा और तालीम, सेना और फौज़, रूहानी ताक़त और आध्यात्मिक शक्ति।

प्रथम खंड की तुलना दूसरे खंड से करने पर पता चलता है कि प्रथम खंड में संस्कृत शब्दावली का वर्चस्व कुछ अधिक है। मेरा मानना है कि फिल्म कथा-लेखक दूसरे खंड में शायद शैली के बारे में कुछ ज्यादा सतर्क हो गया है और इस प्रक्रिया में उर्दू की तुलना में संस्कृत शब्दों की ओर झुकाव अधिक हो गया है।

रामायण जैसी उच्च साहित्यिक और नाजुक कृति में उर्दू/विदेशी शब्दों को शामिल किया जाना वाद-विवाद का एक विषय हो सकता है। किसी भी व्यक्ति को स्वदेशी भारतीय भाषाओं जैसे संस्कृत और संस्कृतनिष्ठ हिंदी में इतर किसी अन्य किसी भाषा में भगवान राम के चरित्र का चित्रण करने से रोका नहीं जा सकता। इसके अलावा, अन्य ऐसे बहुत कारण हैं जिनकी वजह से रामायण में फ़ारसी-अरबी शब्दों को शामिल करना आवश्यक हो जाता है। बहुधा प्रयोग होने वाले मुहावरे और किंवदंतियों जैसे *हिम्मत हारना* के लिए उर्दू का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। इस मुहावरे में *हिम्मत* शब्द के स्थान पर इसके संस्कृत पर्यायवाची शब्द *साहस* का प्रयोग संभव नहीं है। इसके अलावा, उर्दू शब्द किसी भी आम वार्तालाप में इस तरह रच-बस गए हैं कि एक सामान्य अनौपचारिक वार्तालाप से उन्हें निकाल फेंकना संभव ही नहीं है। और इससे भी अधिक ये कि हिंदी फिल्मों की शैली में उर्दू के प्रभाव से बचा नहीं जा सकता। यही बात रामानंद सागर के निर्देशन में बनी 'रामायण' फिल्म पर भी लागू होती है। □

हिंदी फिल्मों के चीनी अनुवादक वाङचिन फुङ की यादें

ओम्प्रकाश सिंहल

ओम्प्रकाश सिंहल काफी समय तक चीन में अध्ययन-अध्यापन करते रहे हैं। चीन की कला साहित्य और संस्कृति का उन्होंने गहराई से अध्ययन किया है। हिंदी फिल्में, हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं।

मंगलवार, 18 जुलाई, 1995 ई.। पिछली रात काफी देर से सोया था। सुबह क्लास नहीं थी। इसलिए उठने की कोई विशेष जल्दी नहीं थी। लेकिन फोन की घंटी लगातार बज रही थी। पता नहीं किसका फोन है? कहीं भारत से न आया हो। शायद मेरे बेटे पीयूष ने कार्यक्रम जानने के लिए फोन किया है। जल्दी से उठा। चोंगा उठाते ही शुद्ध हिंदी में सुनने को मिला—"नमस्कार! क्या आप प्रोफ़ेसर सिंहल बोल रहे हैं?" ये शब्द सुनते ही मैं समझ गया कि फोन किसी चीनी बंधु का है। पर यह अनुमान न लगा सका कि किसका है? लेकिन इतना निश्चित था कि जिन चीनियों से मेरी बातचीत प्रायः होती रहती थी उनमें से तो किसी का था नहीं। मैंने तुरंत उत्तर दिया—"जी हां, मैं सिंहल बोल रहा हूं।" फिर से आवाज आई—"मैं सी.आर.आई. के हिंदी विभाग का नेता हू बेई मिङ बोल रहा हूं। मैंने भारतीय दूतावास से चीनी में प्रकाशित पत्रिका में आपका लेख 'पेइचिङ विश्वविद्यालय में हिंदी' पढ़ा है। मुझे यह लेख बहुत पसंद आया है। क्या आपके पास इसकी पांडुलिपि है?"

"जी हां, है! पर वह हिंदी में है। मैंने यह लेख हिंदी में ही लिखा था, चीनी में नहीं।"

"मुझे मालूम है। लेख पर आपके नाम के साथ-साथ अनुवादिका कु. कुआ थोंग का नाम भी छपा है। पर मुझे हिंदी की पांडुलिपि चाहिए। मैं इसे अपने यहां से प्रसारित करना चाहता हूं।"

"मुझे कोई आपत्ति नहीं है। आप किसी को मेरे पास पांडुलिपि लेने भेज दें।" मैंने कहा।

"ठीक है। मैं एकाध दिन में श्री न्यू वेई तुङ या श्रीमती याङ ई. फुङ को भेज दूंगा। ये दोनों आपके विद्यार्थी रहे हैं और आपको अच्छी तरह जानते हैं।" श्री हू ने प्रत्युत्तर दिया।

चार-पांच दिन बीत गए। लेख लेने कोई नहीं आया। मैंने सोचा कि शायद फैसला बदल गया। पर मेरा अनुमान गलत निकला। 23 जुलाई को फिर फोन आया। श्री हू ने कहा—"सिंहल जी, क्षमा कीजिए। मैं किसी को भेज नहीं सका। क्या आप किसी के हाथ अपना लेख भिजवा सकते हैं? यो.ई.पिङ क्वान (फ्रेंडशिप होटल) से हमारे यहां के विशेषज्ञों के लिए बस चलती है। यदि आप वहां पर हमारे हिंदी विशेषज्ञ को अपना लेख दे देंगे तो वह मेरे पास सुरक्षित रूप में पहुंच जाएगा।"

"मुझे कल निजी काम से ली शी ल्यू तक जाना है। वहां से फू शिङ मन दूर नहीं है। मैं स्वयं लेख पहुंचा दूंगा।" मैंने कहा।

"आपका बहुत-बहुत धन्यवाद। मैं प्रतीक्षा करूंगा। आप दरवाजे पर पहुंचते ही स्वागत-कक्ष से मुझे फोन कर दीजिएगा। मैं लेने आ जाऊंगा।"

24 जुलाई को सी.आर.आई. के मुख्य द्वार से प्रवेश करने के बाद मैं स्वागत कक्ष में पहुंचा। वहां के अधिकारी को अपना परिचय-पत्र दिखाकर श्री हू से बात करवाने के लिए अनुरोध किया। श्री हू वाकई मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। वे तुरंत नीचे आए और अपने कमरे में ले गए। मैंने अपने लेख की पांडुलिपि उनके हाथ में थमाते हुए पूछा—"रिकार्डिंग कितनी देर में होगी?" वे बोले—"इन दिनों आप घर जाने की तैयारी में व्यस्त हैं। खरीददारी में लगे होंगे। इसलिए रिकार्डिंग की चिंता मत कीजिए। यह काम हमारे विभाग का कोई सदस्य कर देगा।" मैं निश्चिंत हो गया। दो-चार मिनट तक औपचारिक बात करने के बाद मैंने उनसे विदा ले ली।

मैं श्री हू के कमरे से निकलकर बाहर आ रहा था कि श्री वाङ चिङ फू दिख गए। मुझे देखते ही उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर नमस्ते की। फिर बोले—'आइए एक कप चाय पीते हैं।' वे मुझे अपने कमरे में ले गए। चाय की चुस्कियों के साथ बातचीत का बाजार गरम हो उठा। मैंने सोचा कि चीन छोड़ने से पहले श्री वाङ के व्यक्तिगत जीवन के बारे में जानकारी हासिल कर लूं। जब इस दृष्टि से बातचीत का सिलसिला आगे बढ़ाया तो पता चला कि उनका जन्म इसी वर्ष हुआ था जिस वर्ष भारत स्वतंत्र हुआ था। भारत की आजादी के दिन उनकी आयु छह मास, बीस दिन थी। पिताजी व्यापारी थे और माता जी अध्यापिका। अपने व्यापार के सिलसिले में पिताजी का भारत आना हुआ। इस प्रकार उन्हें बचपन में ही भारत घूमने का मौका मिल गया। उन्होंने अपने बचपन के सुहाने दिन भारतीय बच्चों के साथ खेलते-कूदते और बतियाते हुए बिताये। मुझे आश्चर्यचकित देखकर वे बोले—"आप विश्वास कीजिए, मैं जो कुछ कह रहा हूं वह बिल्कुल सच है। उसमें रत्ती भर भी झूठ

नहीं है। मैंने स्कूली शिक्षा की छह कक्षाएं नई दिल्ली के सेंट एंथनी स्कूल से पास की हैं। उसके बाद पिताजी चीन वापिस चले आए। वे पेइचिङ में रहने लगे। तब मुझे चीन में पढ़ने का मौका मिला। यहां मुझे हायतियेन के स्कूल में दाखिल कराया गया। उस समय का हायतियेन आज जैसा नहीं था। न इतनी बड़ी इमारतें थीं और न ही इतना बड़ा बाजार। एकदम वीरान-सा लगता था। स्कूली शिक्षा समाप्त करने के बाद मैंने पेइचिङ लेंग्वेज इंस्टीट्यूट में दाखिला लिया। उस समय वह पेइचिङ विश्वविद्यालय का ही हिस्सा था। इसे विश्वविद्यालय का दर्जा तो काफी बाद में मिला।'' जब मैंने उन्हें यह बताया कि मुझे यह बात मालूम है तो वह बड़े प्रसन्न हुए और बोले—''लगता है कि आप पेइचिङ में हो रहे परिवर्तनों को बहुत ध्यान से देखते हैं।''

श्री वाङ ने मुझे बताया कि उन्होंने स्नातक परीक्षा के लिए चीनी भाषा और साहित्य को मुख्य विषय के रूप में चुना था। बहुत अच्छे अंक लेकर परीक्षा उत्तीर्ण की थी। जब नौकरी का सवाल आया तो सरकार ने उन्हें रेडियो के हिंदी-विभाग में काम करने के लिए कहा। पढ़ाई का सिलसिला फिर से शुरू हो गया। दो वर्ष तक पेइचिङ के 'भाषा विद्यालय' में हिंदी का अध्ययन किया। वहां पर एक बहुत ही अच्छे अध्यापक थे। उनका नाम था चाङ छ फू। हिंदी के मौखिक एवं लिखित दोनों ही रूपों पर उनका अचूक अधिकार था। इसलिए हिंदी सीखने में कोई कठिनाई नहीं आई।

मेरे यह कहने पर कि ऐसा शायद इसलिए हुआ होगा क्योंकि उन्होंने अपनी प्रारंभिक शिक्षा भारत में प्राप्त की थी, उनका सहज उत्तर था—''इसका थोड़ा-बहुत लाभ तो मिलता ही है; किंतु जब मैंने हिंदी पढ़नी शुरू की तब तक भारत छोड़े कई वर्ष बीत चुके थे। हिंदी से मेरा नाता बिल्कुल टूट चुका था। इसलिए मैं मानता हूं कि मुझे हिंदी में दक्षता प्राप्त करने का सारा श्रेय प्रोफेसर चाङ को ही देना चाहिए।''

मैंने जानना चाहा कि चीन के अंतर्राष्ट्रीय रेडियो में श्री वाङ क्या-क्या कार्य संपादित करते हैं। मेरे इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री वाङ ने कहा—''आपको मालूम ही है कि हमारा कार्यक्रम प्रतिदिन एक घण्टे का होता है। इस एक घंटे में से दस मिनट का समय अंतर्राष्ट्रीय समाचारों की समीक्षा, दस-दस मिनट का समय दैनिक रिपोर्ट तथा चीन पर प्रभाव डालने वाले विषयों और दस से पंद्रह मिनट तक का समय चीनी संगीत के लिए निर्धारित है। महीने के पहले और तीसरे रविवार को श्रोताओं के फरमाइशी गीतों का कार्यक्रम होता है। दूसरे और चौथे रविवार को श्रोताओं द्वारा भेजी गई कहानियां और चुटकुले पेश किए जाते हैं। इसी कार्यक्रम के अंतर्गत श्रोताओं को चीनी लोककथा भी सुनाई जाती है। जहां तक मेरा सवाल है मैंने अनुवाद-कार्य पर ज्यादा समय लगाया है। हमारे यहां समाचार तथा रिपोर्ट सर्वप्रथम चीनी भाषा में तैयार की जाती है। फिर उनका अनुवाद उन सभी विदेशी भाषाओं में किया जाता है जिनका प्रसारण हमारे यहां से होता है। अनुवाद का काम

न केवल बहुत मेहनत मांगता है अपितु सावधानी बरतने की अपेक्षा भी रखता है। जरा भी भूल से दो देशों के बीच गलतफहमी जन्म ले सकती है। दूसरे देश के साथ हमारे देश के संबंध खराब होने की स्थिति पैदा हो सकती है। इसलिए हमारे यहां अनुवाद का काम उन व्यक्तियों को सौंपा जाता है जो इन खतरों से पूरी तरह परिचित हैं। वैसे भी मुझे अनुवाद के काम में बहुत आनंद आता है। इस कार्य के अतिरिक्त मैंने श्रोताओं के फरमाइशी गीत भी पेश किए हैं तथा उनके पत्रों के उत्तर भी दिए हैं।''

मैंने श्री वाङ की बात को आगे बढ़ाते हुए प्रश्न किया—''क्या आपकी दिलचस्पी विभाग में किए जाने वाले अनुवाद-कार्य तक ही सीमित है या फिर आपने अनुवाद की दिशा में कुछ और भी काम किया है?'' श्री वाङ ने प्रत्युत्तर में कहा—''विभागीय कार्य संपन्न करने के बाद मुझे जितना भी समय खाली मिलता है वह सब में अनुवाद कार्य में ही लगता हूं।'' मेरे यह पूछने पर कि खाली समय में वह किस प्रकार का अनुवाद-कार्य करते हैं, उन्होंने बताया—''मेरा लक्ष्य चीन की आम जनता को भारतीय जीवन के विविध पक्षों से परिचित कराना है। मैं समझता हूं कि फिल्मों के माध्यम से इस लक्ष्य को सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। अतएव मैंने अपनी पूरी शक्ति भारत की हिंदी फिल्मों के चीनी भाषांतरण में लगाई है। मैं अब तक पंद्रह हिंदी फिल्मों को चीनी भाषा में प्रस्तुत कर चुका हूं। आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि चीनी जनता ने उन्हें काफी पसंद किया है।'' मैं अभी कुछ और पूछने ही वाला था कि उन्होंने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा—''चीन में जब किसी विदेशी फिल्म को भाषांतरित किया जाता है तब पर्दे पर अभिनेताओं द्वारा बोले गए संवादों के चीनी अनुवाद की पट्टी नहीं लगाई जाती बल्कि अभिनेताओं को चीनी भाषा में बोलते हुए दिखाया जाता है। ऐसी स्थिति में अनुवादक को बड़ी मेहनत करनी पड़ती है। उसे इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि अभिनेता ने किसी संवाद को बोलते समय जितना समय लिया है उतने ही समय में बोले जाने वाले ऐसे चीनी शब्दों का प्रयोग किया जाए जिससे समूचा भाव प्रभावी रूप में व्यक्त हो सके। इस प्रकार फिल्मों का अनुवाद करने वाले चीनी अनुवादक को लक्ष्य भाषा में स्रोत भाषा के अनुरूप समतुल्य सटीक पर्याय ही नहीं खोजने होते अपितु यह ध्यान भी रखना पड़ता है कि उनके उच्चारण में उतना ही समय लगे जितना समय अभिनेता ने स्रोत भाषा के संवाद बोलते समय लिया था।'' श्री वाङ की बात बिल्कुल सही थी। चीन में रहते हुए मैंने 'आवारा', 'हाथी मेरे साथी' आदि कई हिंदी फिल्मों के चीनी रूपांतर देखे थे और राजकपूर, नरगिस आदि को धाराप्रवाह चीनी बोलते पाया था। लेकिन इन फिल्मों के गाने चीनी में न होकर हिंदी में थे। अतएव मैंने श्री वाङ से कहा—''लेकिन आप लोग गानों का अनुवाद क्यों नहीं करते?'' श्री वाङ ने उत्तर दिया—''आप जानते हैं कि कविता का अनुवाद करना एक कठिन काम है, उसमें भी गानों का अनुवाद करना और भी ज्यादा कठिन है। इसलिए बहुत

से चीनी अनुवादक गानों को मूल रूप अर्थात् स्रोत भाषा में ही रहने देते हैं। लेकिन जहां तक मेरा सवाल है मैं गानों का भी अनुवाद करता हूं। शायद आपने मेरे द्वारा अनूदित कोई फिल्म नहीं देखी।'' मैंने पूछा—''आपने कौन-कौन सी हिंदी फिल्मों का चीनी भाषांतर किया है?'' उन्होंने उत्तर दिया—''अब तक मैंने जिन फिल्मों के चीनी भाषांतर किए हैं, उनमें से कुछ के नाम हैं—खेल, उत्तर-दक्षिण, गंगा-जमुना, घायल, इम्तहान, लाडला। यदि आप ये सारी अथवा इनमें से एक भी फिल्म देखेंगे तो पाएंगे कि इन सभी के गाने चीनी भाषा में अनूदित हैं।'' यह सुनते ही मैंने कहा—''मैंने इनमें से एक भी फिल्म नहीं देखी। अभी तो मैं चीन में एक सप्ताह तक और रहूंगा। यदि समय मिला तो जरूर देखूंगा। लेकिन मैं यह जानने के लिए अत्यंत उत्सुक हूं कि भारतीय फिल्में चीन के कौन-कौन से इलाकों में लोकप्रिय हैं?'' इसके प्रत्युत्तर में श्री वाङ ने कहा—''भारतीय फिल्में सारे चीन में पसंद की जाती हैं। पेइचिङ वासी हिंदी-फिल्मों को कितना पसंद करते हैं यह तो आप जानते ही हैं; लेकिन दक्षिण चीन में भारतीय फिल्में सबसे ज्यादा लोकप्रिय हैं। क्वांशी, स्वेइचो, सछ्वान, शिनच्याड, युन्नान, भीतरी मंगोलिया में हो होत तथा तिब्बत में ये विशेष रूप से लोकप्रिय हैं।'' मैंने पूछा कि क्या ये फिल्में सिनेमाघरों में दिखाई जाती हैं या लोग इन्हें वीडियो पर देखते हैं?'' वे बोले—''भारतीय फिल्मों की लोकप्रियता सभी जगह है। लोग इन्हें सिनेमाघरों में भी देखते हैं तथा ये वीडियो पर भी देखी जाती हैं।''

बात करते-करते काफी देर हो गई थी। मुझे शीतान जाकर कुछ चीजें खरीदनी थीं। इसलिए मैंने श्री वाङ से कहा—''मैं इस समय जल्दी में हूं, इसलिए आपसे केवल एक प्रश्न और पूछना चाहता हूं।'' वे बोले—''मुझे मालूम है कि इन दिनों आप भारत लौटने की तैयारी में व्यस्त हैं। फिर भी आपने इतनी देर तक मुझसे बात की। इससे पता चलता है कि आपके मन में चीनियों के प्रति कितना अगाध प्रेम है। आप जो कुछ पूछना चाहते हैं वह निःसंकोच पूछिए। यदि मैं उत्तर दे सका तो जरूर दूंगा।'' मैंने प्रश्न किया—''फिल्मी गीतों का अनुवाद करने के लिए आप क्या पद्धति अपनाते हैं?'' वे बोले—''गीतों का अनुवाद करने के लिए मैं सबसे पहले उसकी पृष्ठभूमि पर अपना ध्यान केंद्रित करता हूं। तदनंतर उसके मूल भाव को भली भांति समझते हुए शब्द तथा सुर के आपसी तालमेल को आत्मसात करता हूं। इसके बाद अनुवाद करने में कोई कठिनाई नहीं होती। मेरे मष्तिष्क में समतुल्य शब्द अनायास उमड़ने-घुमड़ने लगते हैं। पूरे का पूरा गीत कुछ ही मिनटों में अनूदित हो उठता है।

मेरे मुंह से अचानक अपनी पुरानी कविता की ये पंक्तियां निकल पड़ीं—

दर्ज करो दिमाग में रचना का मूल भाव
जुटने लगेंगे शब्द अपने आप।

श्री वाङ बोले—"खूब! बहुत खूब! लगता है कि आप कवि भी हैं।"

घड़ी की सुइयां तेजी से दौड़ रही थीं। वे चेतावनी दे रही थीं कि यदि मैंने तुरंत प्रस्थान न किया तो बाजार का काम न निपटा सकूंगा। अतएव मैंने श्री वाङ को 'चाय चियन' अर्थात् फिर मिलेंगे कहकर विदा ले ली। □

हिंदी हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक व्यवहार में आने वाली भाषा है।

—राहुल सांकृत्यायन

ग्लोब पर घूमती हिंदी

लक्ष्मीनारायण दुबे

भारतीय भाषाओं के विषय पैनल के राष्ट्रीय अध्यक्ष एवं पद्‌मश्री प्रोफेसर लक्ष्मीनारायण दुबे हिंदी के अनन्य सेवी हैं। हिंदी की प्रगति तथा विकास को लेकर वे निरंतर चिंतित रहते हैं। वे हिंदी के प्रत्येक क्षेत्र में विकास के पक्षधर हैं।

हिन्दी मातृभाषा से राष्ट्रभाषा और अब राष्ट्रभाषा से विश्वभाषा की जय यात्रा पर है। 'जय हिंदी : जय नागरी' का उद्‌घोष अब 'वसुधैव कुटुम्बकम' तथा 'जय जगत्' में परिणत हो गया है।

पूर्व सोवियत रूस में इकहत्तर भाषाएं हैं परंतु राष्ट्रभाषा, राजभाषा एवं संपर्क भाषा के रूप में रूसी भाषा ही प्रचलित तथा व्यवहृत है। हमारे देश में 'चार कोस पर बोली बदले और छह कोस पर पानी' तथा भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत अट्ठारह भाषाओं के होते हुए भी राष्ट्रभाषा हिंदी ही है।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ तक इंग्लैण्ड के न्यायालयों की भाषा अंग्रेजी नहीं प्रत्युत फ्रेंच तथा लैटिन थी और वहां उस समय श्रेष्ठि वर्ग अपने बच्चों को फ्रेंच एवं लैटिन के माध्यम से पढ़ाने में अपना गौरव मानते थे। सन् 1731 में 'हाउस आफ कामन्स' में न्यायालयों में अंग्रेजी भाषा के माध्यम से कार्य करने का विधेयक प्रस्तुत हुआ था जो कि संसद एवं जनता के विरोध के कारण पारित न हो सका क्योंकि वहां के बुद्धिजीवियों का यह सुनिश्चित अभिमत था कि बिना फ्रेंच तथा लैटिन के समस्त विधि-प्रक्रिया ध्वस्त हो जाएगी। सौ वर्ष पश्चात पुनः इंग्लैण्ड में सन् 1830 में द्वितीय विधेयक के द्वारा अंग्रेजी को न्यायालयों की प्रमुख भाषा का स्थान मिला। जैम्स प्रथम तथा द्वितीय को अंग्रेजी नहीं आती थी।

रूस, जापान तथा तुर्की में अपने देश की भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने का अनुकरणीय प्रयत्न हुआ था। कमाल पाशा को अंग्रेजी हटाकर तुर्की भाषा को राजभाषा बनाने में चौबीस

घंटे से कम का समय लगा था।

सारे विश्व के यहूदियों ने एकत्र होकर सन् 1942 में इसराइल राज्य की स्थापना की थी। उन्होंने कब्र में दबी हिब्रू भाषा को उखाड़कर और उसे पुनर्जीवित करके, उसे छह महीने की कालावधि में ही राजभाषा बना लिया। सन् 1949 में हिब्रू का सर्वतोमुखी उद्धार किया गया और वह इतनी संपन्न हो गई कि सन् 1966 में नोबल परस्कार से अलंकृत हो गई।

हमारे देश में 24 प्रतिशत साक्षरता है। 76 प्रतिशत व्यक्ति निरक्षर हैं। सिर्फ तीन प्रतिशत अंग्रेजी जानने वाले लोग हैं। अब अंग्रेजी हमारे देश में सिर्फ 'पुस्तकालय की भाषा', 'संदर्भ भाषा' मात्र रह गयी है। अंग्रेजी की बड़ी उलझन 'नैरेशन' है—हिंदी में नैरेशन की बला नहीं है। उसकी इस बला से फ्रेंच और रूसी भाषा-भाषी भी बहुत घबराते हैं। अंग्रेजी में निबंध के उन्नायक बेकन को भी अपने निबंधों का अनुवाद लेटिन में करना पड़ा था क्योंकि उस समय ग्रीक और लैटिन भाषाओं का प्रभाव सिर्फ ग्रीस और रोम में ही नहीं था अपितु यूरोप, उत्तर पूर्व एशिया तथा अमेरिका में उनका आधिपत्य था। किसी समय में ग्रीक और लैटिन के समान फ्रेंच अंग्रेजी की अपेक्षा अंतःप्रादेशिक प्रतिष्ठा की अधिक अधिकारिणी थी। अंग्रेजी के राजनीतिक प्रभाव, व्यापारिक उन्नति तथा साम्राज्य ने अंग्रेजी को विश्वभाषा बना दिया। पाश्चात्य जगत् भारत से अंग्रेजी को इसलिए नहीं हटने दे रहा है क्योंकि उनका बाजार समाप्त होता है और बौद्धिक दासता के उपनिवेशवाद की इतिश्री हो जाती है। इस संबंध में मारीशस के सुकवि अभिमन्यु अनत की यह कविता उद्धरणीय है—

मेरे दोस्त।
उस भाषा में मेरे लिए,
शुभ की कामना मत कर
जिसकी चुभती ध्वनि मुझे
उन गुलामी के दिनों की याद दे जाती है
चाबुक की बौछारों का आदेश
निकलता था जिस भाषा में
उस भाषा को मेरी भाषा मत कह
मेरे दोस्त।

राष्ट्रभाषा हिंदी के संबंध में डॉ. धर्मवीर भारती ने सटीक बात लिखी है कि आज हिंदी का संकट यह नहीं है कि वह अविकसित भाषा है, यह नहीं है कि उसमें ज्ञान-विज्ञान की शब्दावली नहीं है, यह नहीं है कि उसके बोलनेवालों की संख्या कम होती जाती है, यह नहीं है कि विधान में उसे उचित स्थान नहीं मिला हुआ है, उसका मूल संकट यह है

कि हिंदी भाषी जन में आज चरित्र बल नहीं रह गया है। वह रागात्मगक निष्ठा के बिंदु पर उससे कट चुकी है। परिणाम यह है कि सांस्कृतिक स्तर पर वह भाषा से कटा हुआ, पंख कटे पक्षी की तरह शून्य में तेजी से गिरता चला जा रहा है और भाषा अनाथालय की हर ओर से दुत्कारी जाने वाली निर्दोष बच्ची की तरह दिनोदिन कुण्ठित और असहज होती चली जा रही है।

भारत का गौरव : एशिया का कलरव

एशियन कांफ्रेंस (सन् 1947) के दिनों में महात्मा गांधी ने कहा था : एशियायी सम्मेलन में आनेवालों में ऐसे कितने ही बड़े आदमी थे, जो मुझसे मिलने आए थे, परंतु वे अपनी-अपनी जापानी या तुर्की भाषा में ही बात करते थे। बीच में एक अंग्रेजी जानने वाला और उनकी भाषा जानने वाला दुभाषिया रहता था। तब मुझे ख्याल आया कि इस समय मौका है। हिंदुस्तानी (हिंदी) सारे एशिया की राष्ट्रभाषा बन सकती है। ऐसी हालत में दुभाषिये का काम करने वाला उस देश की भाषा भी सीखे और हमारी राष्ट्रभाषा भी सीखे। ऐसा हो, तो इस समय एशिया जो अलग-अलग भागों में बंटा हुआ है, उसमें एक देश का दूसरे देश के साथ कुटुम्ब जैसा मीठा संबंध स्थापित किया जा सकता है। यह एक बहुत ही महत्त्व का काम होगा। परंतु मैं कहूं किससे?

हिंदी आज सिर्फ भारत की ही नहीं अपितु समस्त एशिया की भाषा है। भारत के बाहर बर्मा, श्रीलंका, मलाया, इंडोनेशिया, मारीशस, दक्षिणी पूर्वी अफ्रीका, ब्रिटिश गयाना, सूरीनाम, त्रिनिदाद-टुबैगो आदि में भी हिंदी के जानने तथा बोलने वाले हैं। इनके अतिरिक्त पाकिस्तान, बंगला देश, नेपाल, फिजी, सूरीनाम आदि देशों में भी हिंदी के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। इनमें से त्रिनिदाद, सूरीनाम, फिजी आदि देशों में हिंदी को वैकल्पित राजभाषा के रूप में विकसित किया जा रहा है। बंगला देश, श्रीलंका, बर्मा, हिदेशिया, मलेशिया, कंबोडिया आदि में पहले से ही हिंदी के लिए ठोस ऐतिहासिक आधार बना हुआ है। हिंदी देश की सीमाओं का अतिक्रमण करके मारिशस, नेपाल, फिजी आदि अनेक देशों में अभिव्यक्ति का सफल तथा सर्वप्रिय माध्यम बन रही है। पचास लाख भारतवासी इस समय अनेक देशों में बसे हुए हैं। कतिपय देशों में प्रवासी भारतीयों की संख्या इस प्रकार है— श्रीलंका—12.34 लाख, मलेशिया—8.25 लाख, मारीशस—5.25 लाख, गुयाना—3.50 लाख, त्रिनिदाद-टुबैगो—3.02 लाख, बर्मा—2.72 लाख, फिजी—2.50 लाख, केनिया—1.75 लाख, सिंगापुर—1.25 लाख, तंजानिया—1.02 लाख और सूरीनाम—1.01 लाख। इनमें से कतिपय देशों में हिंदी भाषा-भाषियों का बहुमत भी मिलता है।

हिंदी को संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश का उत्तराधिकार मिला है जिनका प्रभाव समूचे

एशिया में रहा है। हिंदी भारोपीय परिवार की बेटी है। 'हिंदी' शब्द संस्कृत का न होकर फारसी का है। इंडोनेशिया तथा थाईलैण्ड में व्यक्तियों, दुकानों, सड़कों और नगरों के नाम तक संस्कृत भाषा में हैं। जावा की वर्तमान काव्यभाषा में संस्कृत शब्दों की पर्याप्त संस्थिति है।

विश्व भाषा : विश्व गाथा

'न्यूयार्क टाइम्स' के अनुसार हिंदी चीनी, अंग्रेजी तथा रूसी के पश्चात् विशाल संख्या में बोलने वालों की चतुर्थ अंतर्राष्ट्रीय भाषा है। देश के समस्त उद्योगों में सिनेमा का द्वितीय स्थान है जो कि इसी भाषा में चल रहा है। भारत की भाषाओं में अधिक प्रकाशन हिंदी में ही होता है। हिंदी की शक्ति अस्वीकृत नहीं की जा सकती। हिंदी के प्रख्यात चैक विद्वान डॉ. ओदोलेन स्मैकल ने इसे विश्व की एक महान भाषा कहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने अरबी को छठी अधिकृत भाषा के रूप में मान्यता दी थी। बोलनेवालों की दृष्टि से उसका संसार में नवम् स्थान है, फिर भी उसे हिंदी से पहले स्थान दिया गया। इस घटना के पश्चात् अंग्रेजी के पत्रकारों का ध्यान हिंदी की ओर गया। 'हिंदुस्तान टाइम्स' में प्रकाशित एक लेख में निरूपित किया गया था कि अरबी को दी हुई इस मान्यता को देखते हुए यह प्रश्न नैसर्गिक रूप से उपस्थित होता है कि हिंदी अब तक इस प्रत्याशी-पंक्ति में कहां थी? उक्त अंग्रेजी पत्रकार ने हिंदी को देवनागरी लिपि के स्थान पर रोमन लिपि अपनाने की सलाह दी थी जबकि आचार्य विनोबा भावे अंग्रेजी को भी देवनागरी लिपि में लिखने की बात कहते थे।

इस समय संसार में लगभग 2796 भाषाएं बोली जाती हैं। इनमें बोलने वालों की दृष्टि से अधोलिखित तेरह भाषाएं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं—

चीनी—90 करोड़, अंग्रेजी—80 करोड़, हिंदी—70 करोड़, रूसी—38 करोड़, स्पेनी—32 करोड़, जर्मन—30 करोड़, जापानी—30 करोड़, फ्रांसीसी तथा हिंदेशियाई—28 करोड़, पुर्तगाली, बंगला, इतालवी—16 करोड़, अरबी 25 करोड़।

इस प्रकार हिंदी का विश्व में तृतीय स्थान है। इस समय राष्ट्र संघ के शताधिक सदस्य हैं। सबकी अपनी राष्ट्रभाषा है। अब हिंदी के बोलनेवालों की संख्या भारत में 50 करोड़ हो चुकी है। हिंदी भारत में सात राज्यों की प्रशासनिक भाषा है। आज अंग्रेजी की स्थिति अंतर्राष्ट्रीय जगत में डांवाडोल हो चुकी है। उससे रूसी, फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाएं प्रतिस्पर्द्धा कर रही हैं। अंग्रेजी को न स्वीकार करते हुए भी रूस, फ्रांस, जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया, जापान आदि देशों ने अंग्रेज जाति के समतुल्य वैज्ञानिक तथा प्राविधिक उन्नति की है। भारोपीय या इंडो-जर्मनिक परिवार न केवल विश्व का सर्वाधिक व्यापक भूमि खंड है अपितु उसकी भाषाएं यथा संस्कृत, प्राकृत, ग्रीक, लैटिन आदि दुनिया की परम सुसंस्कृत तथा संपन्न भाषाएं हैं जिन्होंने हिंदी और अन्य समकालीन भाषाओं को सर्वतोमुखी रूप में ऋणी किया है।

राष्ट्रीय सम्मान हेतु एक राष्ट्रगीत, एक राष्ट्रध्वज तथा एक राष्ट्रभाषा की परमावश्यकता होती है। समूचे विश्व में ऐसा कोई भी देश नहीं है जिसने अपनी परंपरा तथा भाषा को छोड़कर उन्नति की हो। अट्ठारहवीं शताब्दी के फ्रांस में आमूल परिवर्तन आ गया परंतु भाषा में कोई परिवर्तन नहीं आया। आज फ्रेंच भाषा में अनैसर्गिक तरीके से प्रविष्ट अंग्रेजी शब्दों के बहिष्कार का श्रीगणेश जनरल दि गाल से लेकर फ्रांस के भूतपूर्व प्रधानमंत्री जार्ज पाम्पिह और महान् मनीषी आंद्रे मालरो ने किया है। रूस में क्रांति के पूर्व फ्रेंच भाषा का बोलबाला था परंतु उसके बाद युद्ध में अपने ज्वलंत भाषा-प्रेम का पूर्ण दिग्दर्शन किया था। तेहरान के चतुर्थ एशियाई खेलों के समय समस्त सूचनाएं फारसी भाषा तथा अरबी लिपि में थीं।

हिंदी पूर्णरूपेण विश्व भाषा बनने के योग्य, समर्थ तथा सक्षम हैं। उसका विपुल तथा समृद्ध वाङ्मय है। हिंदी भाषा ध्वनि, पद, वाक्य, अर्थ इत्यादि की दृष्टि से संस्कृत भाषा का सरल स्वरूप है। हिंदी एक सरल तथा सहज भाषा है जिसे आसानी से सीखा जा सकता है। यह स्थिति चीनी की नहीं है। इसके सर्वनाम सरलतम होते हैं। इसमें सिर्फ तीन धातुओं यथा होना, करना तथा बनाना—का ज्ञान पर्याप्त है। इसमें सिर्फ दो ही लिंग होते हैं जबकि संस्कृत, मराठी एवं गुजराती में तीन लिंग होते हैं। हिंदी में सिर्फ पांच सौ धातुओं का प्रयोग होता है जिनमें आधी सकर्मक और आधी अकर्मक हैं।

भौगोलिक दृष्टि से हिंदी विश्वभाषा है क्योंकि उसके बोलने वाले तथा समझने वाले समूचे संसार में मिलते हैं। नेपाल, भूटान और सिक्किम में हिंदी अच्छी तरह बोली और समझी जाती है। विश्व में हिंदी फिल्में हिंदी के प्रचार और प्रसार की सशक्त माध्यम हैं। समस्त देशों में उन्हें बड़ी लोकप्रियता मिल रही है। पश्चिम एशिया तथा अफ्रीका के देशों में इनकी विपुल मांग है। पाश्चात्य जगत् में हिंदू धर्म तथा योग की जनप्रियता के कारण हिंदी स्वयमेव विकसित तथा संवर्द्धित हो रही है। हिंदी में अपनी एक दुनिया बसी हुई है। उसमें आर्य, द्रविड़, आदिवासी, स्पेनी, पुर्तगाली, जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेजी, अरबी, फारसी, चीनी, जापानी आदि विभिन्न तथा संसार की भाषाओं के शब्द मिलते हैं जो कि उसके अंतर्राष्ट्रीय प्रीतियुक्त स्वभाव के परिचायक हैं। पूर्व में हांगकांग से लेकर पश्चिम में इंग्लैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कनाडा आदि में लक्षाधिक संख्या में लगभग पैंतीस देशों में भारतवासी फैले हुए हैं। हिंदी की लिपि संसार की सर्वाधिक वैज्ञानिक लिपि देवनागरी है।

विदेशों में हिंदी के पठन-पाठन तथा प्रचार-प्रसार का कार्य दो वर्गों में विभक्त है: (क) इस वर्ग के अंतर्गत 29 देशों के 93 विश्वविद्यालयों में हिंदी पढ़ाई जाती है। इनमें सर्वाधिक संख्या अमेरिका के तैंतीस विश्वविद्यालयों की है। रूस के तीन विश्वविद्यालयों में हिंदी है परंतु वहां हिंदी के लिए अत्यंत ठोस तथा व्यापक कार्य हुए हैं।

द्वितीय वर्ग प्रवासी भारतीय अथवा भारतवंशियों का है जो कि कुली बनकर अपने

साथ गीता, रामचरितमानस, हनुमान चालीसा आदि लेकर मारीशस, सूरीनाम, त्रिनिदाद, गुयाना आदि गए थे और उन्होंने वहां हिंदी की मंदाकिनी निनादित की। आर्य समाज, सनातन धर्म सभा और भारत के अनेक साधु-संतों ने भी प्रवासी भारतीयों के मध्य हिंदी की ज्योति प्रज्वलित रखने में ऐतिहासिक योगदान दिया।

पश्चिमी देशों में हिंदी पठन-पाठन का सबसे पुरातन निकाय लंदन विश्वविद्यालय का स्कूल ऑफ ओरिएंटल एंड अफ्रिकन स्टडीज है। इंग्लैंड के कैम्ब्रिज तथा यार्क विश्वविद्यालयों के प्राच्य अध्ययन संकाय तथा भाषा-विभाग के अंतर्गत हिंदी पढ़ाई जाती है। लंदन की 'हिंदी प्रचार परिषद' हिंदी प्रचार के साथ-साथ 'प्रवासिनी' त्रैमासिक का भी प्रकाशन करती है। डॉ. आलचिन, बर्टन पेज तथा एम. मैग्रेगर ने हिंदी के प्रति अपनी कारयित्री निष्ठा प्रकट की है। सन् 1968 से लीड्स विश्वविद्यालय में हिंदी की पढ़ाई शुरू हो गई है।

पेरिस में सारबान विश्वविद्यालय तथा छह अन्य संस्थानों के अर्न्तगत हिन्दी पढ़ाई जाती है। कबीर, गोदान तथा कामायनी का फ्रेंच में अनुवाद हो चुका है।

इटली में प्रेमचंद का अनुवाद हो चुका है। रोम विश्वविद्यालय में हिंदी-शिक्षण की व्यवस्था है।

पूर्व जर्मनी में मार्टिन लूथर किंग विश्वविद्यालय में हिंदी पढ़ाई जाती है। प्राध्यापकों में अंसारी, दगमार, कु. वेस्तफाल मागात, हेलसिंग तथा कु. एरिका आदि हैं। पश्चिम जर्मनी के पंद्रह विश्वविद्यालयों में हिंदी का शिक्षण होता है।

पौलैण्ड के वाराना विश्वविद्यालय में हिंदी पढ़ाई जाती है।

उत्तरी अमेरिका महाद्वीप में कुल मिलाकर हिंदी शिक्षण के चवालीस केंद्र हैं। इनमें पांच कनाडा में और 39 संयुक्त राज्य अमेरिका में।

पूर्व सोवियत रूस में हिंदी का प्रचार-प्रसार सन् 1917 से शुरू हुआ। वहां के विद्वान पी.ए. वारान्निकोव को सब जानते हैं। उनके अतिरिक्त मे.पी. चैलिशेव, वी. चेनीशोव तथा ओ.जी. उनीफसोव के नाम सम्मान के साथ लिए जाते हैं। यहां सात केंद्रों में हिंदी का पठन-पाठन हो रहा है।

यूरोप के समाजवादी देशों में हिंदी के प्रति बड़ी निष्ठा और उत्साह है। चेकोस्लोवाकिया के हिंदी प्रचारक तथा विद्वान ओताकोर पेर्तोलद, डॉ. वित्सेत्स पोरजिका आदि उल्लेखनीय हैं। प्राग में हिंदी के अध्यापन की विशेष व्यवस्था है।

मारीशस, फिजी, सूरीनाम, त्रिनिदाद-टुबैगो आदि की हिंदी-सेवा सर्वविश्रुत है।

आज से लगभग अर्द्धशती पूर्व संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्यवाहियों के हेतु छह भाषाओं को मान्यता दी गयी थी : अंग्रेजी, फ्रांसीसी, रूसी, चीनी, स्पेनिश तथा अरबी। उसका सामान्य कामकाज अंग्रेजी तथा फ्रांसीसी में होता है। इन भाषाओं की मान्यता के अनेक कारण तथा

पृष्ठभूमि है।

सन् 1948 में स्पेनिश को भी अंग्रेजी तथा फ्रेंच के साथ कार्य-संचालन की भाषा स्वीकार किया गया था।

सन् 1949 में रूसी विषयक प्रस्ताव आया था परंतु उन्नीस वर्ष बाद उसे महासभा के तेइसवें अधिवेशन में 21 दिसंबर, 1968 को संकल्प संख्या 2479 द्वारा स्वीकार किया गया। चीनी पर चार वर्ष बाद विचार किया गया। उसे महासभा के अट्ठाइसवें अधिवेशन में 18 दिसंबर, 1973 को संकल्प संख्या 3179 द्वारा मान्यता मिली। उसी दिन अरबी को भी स्वीकार कर लिया गया।

अंग्रेजी, फ्रांसीसी, रूसी तथा चीनी द्वितीय विश्व युद्ध में विजयी पक्ष के प्रमुख मित्र राष्ट्रों की भाषाएं रहीं हैं। स्पेनिश के चयन का कारण उसके भाषियों के देशों की संख्या में व्यापकता तथा विस्तार है। सभी प्रधान विजयी देश सुरक्षा परिषद के सदस्य हैं। उन्हें विशेषाधिकार है और वे महत्त्वपूर्ण पंक्ति में संस्थित हैं। इस प्रकार राष्ट्र संघ में भाषाओं का चुनाव शुद्ध सैनिक सत्ता, साम्राज्यवादी आधार तथा अंतर्राष्ट्रीय कूटनीति के आधार पर हुआ था। उस समय चीन चियांग-काई-शेक के अधीन था और उसकी अधिकांश एशियाई देशों में घुसपैठ थी जिनके माध्यम से विजयी राष्ट्र अपनी साम्राज्यवादी गतिविधियों को वहां फैला सकते थे। इसलिए चीनी आ गयी। स्पैनिश को अमेरिका के दबाव से लाया गया ताकि यूरोप का प्रभुत्व महासभा पर अक्षुण्ण रहे। हिंदी को राष्ट्र संघ में मान्यता मिलने पर राष्ट्र संघ के भाषायी उपनिवेशवाद को भी आघात लगेगा। सबसे जबर्दस्त धक्का तो अंग्रेजी को लगेगा और हिंदी देश के आंतरिक द्वन्द्वों से मुक्त हो जाएगी।

अरबी को राष्ट्र संघ में षष्ठ भाषा के रूप में मान्यता मिली जो कि विश्व में हिंदी बोलने तथा समझने वाले व्यक्तियों की संख्या में चतुर्थांश भी नहीं है परंतु अरबी उन्नीस पृथक देशों की न केवल बोलचाल की ही अपितु प्रशासन की भी भाषा है। वह पश्चिम एशिया में दजला और फरात के तट और फारस की खाड़ी की अमीरी साम्राज्यों से लेकर उत्तर अफ्रीका में अटलांटिक तट तक बोली जाती है। राष्ट्र संघ में इसके प्रयोग के प्रथम तीन वर्षों का संपूर्ण खर्चा इन उन्नीस राष्ट्रों ने वहन-सहन किया। अरबी को राष्ट्र संघ की भाषा बनाने में आर्थिक तथा राजनैतिक घटक भी महत्त्वपूर्ण थे। सन् 1973 में अरब-इज़राइल-समर के परिणामस्वरूप जब तेल की राजनीति का श्रीगणेश हुआ तो अरब देशों को अपनी आंतरिक तथा वास्तविक शक्ति का 'इलहाम' हुआ और इसलिए उसी के सुफल-स्वरूप अरबी को मान्यता मिल गयी।

राष्ट्र संघ के विगत इतिहास से सर्वथा स्पष्ट है कि उसने भाषाओं को मान्यता देने के प्रश्न पर सदा-सर्वदा कठोर रवैया अपनाया है। राष्ट्र संघ की महासभा के लिए किसी भाषा को स्वीकार करने के संबंध में बहुमत द्वारा निर्णय किया जाता है और इस प्रसंग में

सर्वप्रथम विचार कार्यविधि समिति में किया जाता है। यदि बहुमत किसी भाषा को राष्ट्र संघ की भाषा स्वीकार करने के प्रस्ताव का अनुमोदन करता है तो कार्यविधि नियमावली में इस संदर्भ में संशोधन कर दिया जाता है।

राष्ट्र संघ में हिंदी को न्यायानुकूल स्थान मिलना चाहिए। वह 60 करोड़ व्यक्तियों की मातृभाषा तथा दस करोड़ व्यक्तियों को गम्य है। इस प्रकार वह सत्तर करोड़ व्यक्तियों की अपनी भाषा है। यदि यह कहा जाए कि हिंदी तो सिर्फ एक देश की भाषा है तो यह बात चीनी पर भी सटीक रूप में चरितार्थ होती है। दुनिया के लगभग 93 विश्वविद्यालयों में हिंदी पढ़ाई जाती है।

अब वह समय आ गया है जबकि हिंदी को राष्ट्र संघ की सातवीं भाषा होनी चाहिए। हिंदी के प्रचार की यह महती उपलब्धि है कि राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के साठ परीक्षा केंद्रों में बीस दक्षिण अफ्रीका में, पंद्रह पूर्वी अफ्रीका में, चार-चार इंग्लैण्ड, श्रीलंका तथा थाइलैण्ड में, दो-दो बर्मा, सूडान, फिजी, जावा तथा उत्तरी कोरिया में और एक-एक जापान, अरब एवं चेकोस्लोवाकिया में हैं।

हिंदी की लिपि नागरी लिपि विश्व लिपि बनने में पूर्ण समर्थ है। विनोबा जी उसे राष्ट्रलिपि बनाना चाहते थे। यूरोप की समस्त भाषाओं की लिपि रोमन है। उसने यूरोप में एकता स्थापित की है। हिंदी के अतिरिक्त मराठी तथा नेपाली की लिपि भी देवनागरी है। गुजराती में शिरोरखा लगाने पर हिंदी एवं गुजराती में कोई विशेष पार्थक्य दृष्गोचर नहीं होता। आजकल डोंगरी तथा सिंघी वालों ने भी नागरी को अपनत्व प्रदान किया है। डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने कोंकणी वालों को देवनागरी स्वीकार करने का परामर्श दिया था। नागरी ब्राह्मी की उत्तराधिकारिणी है जो भारतीय लिपियों की जननी है। हमारी अधिकांश लिपिविहीन जनजातियां नागरी लिपि अपना सकती हैं। रोमन लिपि अव्यवस्था की लिपि है। जार्ज बर्नार्ड शा भी यह मानते थे कि रोमन लिपि बिल्कुल काम की नहीं है क्योंकि उसमें अराजकता है। जापान के पुराने पुरावशेषों में देवानागरी लिपि का प्रयोग हुआ करता था।

हिंदी को राष्ट्र संघ की भाषा बनाने में आज मारीशस तथा त्रिनीदाद-टुबैगो सर्वअग्रणी है। प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन में संसार के तीस देशों के लगभग एक सौ बाइस प्रतिनिधियों तथा पर्यवेक्षकों ने भाग लिया था। इसमें सबसे बड़ा प्रतिनिधिमंडल मारीशस का था। इसका नेतृत्व मारीशस के युवा तथा क्रीड़ा मंत्री श्री दयानंदलाल वसंत राय ने किया था। इनका हिंदी के प्रति उत्साह अद्वितीय तथा अनुकरणीय है। सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने उद्घोषित किया कि हिंदी विश्व की महान् भाषाओं में से हैं। मुख्य अतिथि तथा उद्घाटन समारोह के अध्यक्ष और मारीशस के तत्कालीन प्रधान मंत्री डॉ. सर शिवसागर रामगुलाम ने कहा था कि हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा है लेकिन हमारे लिए इस बात का अधिक महत्त्व है कि यह एक अंतर्राष्ट्रीय भाषा है।

मारीशस में हिंदी के प्रति अत्यंत उत्साह है। उक्त सम्मेलन के अंतर्गत 'हिंदी की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति' नामक विचार संगोष्ठी का प्रवर्तन करते हुए श्री दयानंदलाल वसंत राय ने कहा था कि हिंदी की गंगा द्वारा प्रदान की गई यह विश्व-व्यापी भावात्मक एकता अमर रहे और संसार के विभिन्न भागों में बसे हुए हिंदी भाषा-भाषी लोग सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं भावात्मक स्तर पर एक-दूसरे के अधिक-से-अधिक समीप आकर एक ऐसे भाईचारे में बंध जाएं जो सद्भाव, सहयोग, सम्वेदन, सहिष्णुता तथा मैत्री पर आधारित हो।

उक्त सम्मेलन में श्री दयानंदलाल वसंत राय ने ही राष्ट्र संघ में हिंदी की मान्यता से संबंधित प्रस्ताव को सोल्लास तथा सगर्व प्रस्तुत किया था : भारत के अतिरिक्त हिंदी नेपाल में भी बोली-समझी जाती है। मॉरिशस, ट्रिनिडाड, फिजी, सूरीनाम की हिंदी भाषी जनता के अतिरिक्त विश्व के सभी देशों में बसे भारतीय अधिकांशतः हिंदी बोलते हैं। यह एक बहुत बड़ी संख्या है। फिर भी राष्ट्र संघ और उसकी उपसंस्थाओं में हिंदी का प्रयोग न होना हमारी निर्बलता का सूचक है—भारत की निर्बलता का सूचक है। इसके लिए आवाज उठाने की आवश्यकता है। आवाज ही नहीं, संघर्ष करने की आवश्यकता है और यह पहल भारत को करनी होगी। हम सब चाहते हैं कि हिंदी को राष्ट्र संघ में स्थान मिले। हम इसका प्रस्ताव करते हैं। आप सब हमारा समर्थन करें।

समूचे सम्मेलन में पुरजोर रूप में इसका समर्थन किया था। रूस के डॉ. ई.पी. चैलिशेव ने इस प्रस्ताव की संपुष्टि की थी : हिंदी को संयुक्त राष्ट्र संघ की आधिकारिक भाषा अवश्य बनाया जाना चाहिए। विश्व में हिंदी का एक विशेष स्थान है, इस तथ्य को स्वीकार करना ही होगा। पश्चिम जर्मनी के डॉ. लोथार लुत्से ने कहा कि हिंदी मध्य प्रदेश की भाषा के रूप में दुनिया की सेवा कर सकती है किंतु हिंदी के साथ अंग्रेजी नहीं चल सकती।

संगोष्ठी के अध्यक्ष डॉ. शिवसागर रामगुलाम ने उक्त प्रस्ताव का जोरदार समर्थन करते हुए कहा था कि मारीशस संयुक्त राष्ट्र संघ में हिंदी को उसका उचित स्थान दिलाने में सदैव आगे रहेगा।

मॉरिशस का द्वितीय विश्व हिंदी सम्मेलन विश्वभाषा हिंदी के राष्ट्र संघ में प्रवेश तथा मान्यता की शंखध्वनि सिद्ध हुआ। तृतीय विश्व हिंदी सम्मेलन, दिल्ली से हिंदी की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति अधिक परिपुष्ट तथा सुदृढ़ हुई।

यूनेस्को में हिंदी : सफलता की बिंदी

राष्ट्र संघ की संस्थाओं में हिंदी को प्रवेश मिल चुका है। वह यूनेस्को की आधिकारिक भाषा है। प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन में यूनेस्को के प्रतिनिधि श्री अशर डलियान ने भी उद्बोधन किया था। उन्होंने बतलाया था : जब से यूनेस्को की विश्व संगठन की एक विशेष

संस्था के रूप में स्थापना हुई तब से यह कई कार्यक्रमों के माध्यम से हिंदी के विकास के लिए प्रयत्नशील रहा है। 1947 में यूनेस्को की स्थापना के ठीक बाद महासभा के दूसरे सत्र में जो मैक्सिको नगर में हुआ था, भारत के प्रतिनिधियों द्वारा प्रस्तुत हिंदी को विश्व संगठन की एक शासकीय भाषा के रूप में स्वीकार करने के प्रस्ताव को सर्वसम्मति से मान लिया गया था। तब से हिंदी यूनेस्को की अन्य सात भाषाओं के रूप में प्रयोग की जा रही है। यूनेस्को का संविधान, उसमें सुधार तथा जो अन्य निर्णय महासभा द्वारा लिए जाते हैं, उनका हिंदी में अनुवाद किया जाता है। विशेष प्रतिनिधि की प्रार्थना पर किसी भी पत्र अथवा भाषण आदि का अनुवाद भी यूनेस्को की शासकीय भाषाओं में किया जाता है। यूनेस्को का एक विशेष कार्यक्रम है जिसके अंतर्गत हिंदी के पुराने एवं वर्तमान प्रतिनिधि साहित्य के व्यापक प्रसार के लिए अनुवाद किया जाता है। इस प्रकार हिंदी साहित्य से अन्य लोगों को परिचित कराने का कार्य यूनेस्को करता रहा है। अब तक हिंदी की इक्कीस पुस्तकें जिनमें कविताएं, उपन्यास, गीत, कहानियां आदि सम्मिलित हैं, अंग्रेजी व फ्रेंच में यूनेस्को द्वारा इस कार्यक्रम के अंतर्गत अनूदित हो चुकी है। 1972 के अंतर्राष्ट्रीय पुस्तक वर्ष में हिंदी पुस्तकों को प्रसारित करने की दृष्टि से एक विशेष गोष्ठी का आयोजन भी किया गया था। यूनेस्को ने शिक्षा, विज्ञान, संस्कृति तथा अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों का हिंदी अनुवाद करवाकर शिक्षकों, विद्यार्थियों, पुस्तकालयों, लेखकों, कलाकारों एवं विशेषज्ञों को विश्व ज्ञान का लाभ पहुंचाया है। अब तक छत्तीस तकनीकी अध्ययन की पुस्तकों का अनुवाद कराकर प्रकाशन किया गया है तथा यूनेस्को की पंद्रह अन्य पुस्तकों का हिंदी में अनुवाद किया जा रहा है। 1967 से 'यूनेस्को कूरियर' जो यूनेस्को द्वारा प्रकाशित मासिक पत्रिका है, का हिंदी संस्करण भी निकाला जा रहा है। यह पत्रिका अब भारत तथा अन्य देशों के अनेको हिंदी पाठकों तक पहुंचाई जाती है।

श्री दयानंदलाल वसंतराय ने स्थायी विश्व हिंदी संस्था की स्थापना का महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय सुझाव दिया था : समय-समय पर समस्त हिंदी भाषा-भाषियों को एक मंच पर एकत्रित होकर, साथ मिल-जुलकर अपने धर्म, संस्कृति, भाषा के रक्षण की समस्याओं पर सोचने-विचारने का अवसर मिलना ही चाहिए। मेरा सुझाव है कि विश्व हिंदी सम्मेलन को एक स्थायी हिंदी संस्था बनाना चाहिए। इससे हिंदी भाषी विश्व समुदाय को एक मंच मिलेगा तथा निश्चय ही विश्व में हिंदी भाषी और हिंदी प्रेमियों का बल एवं मान बढ़ेगा।

निष्कर्ष के स्वर

शब्द पयार्य बन चुके हैं। अखिल भारतीय शब्दावली में बीस हजार शब्दों का निर्माण हो उसके वाङ्मय ने शाश्वत मूल्यों की खोज की है और उसे जन-जन के मन-मन में ज्योतिर्मय

किया है। उसमें विश्व मानव की चेतना भरी पड़ी है। वह संगठन तथा प्रीति की भाषा है। वह अनेकता में एकता को खोजती है। उसमें एशिया का मानस प्रतिबिंबित है। वह संस्कृति की मंजूषा है। आज की युवा पीढ़ी उसमें अपनी सफल अभिव्यक्ति पा रही है। वह एक और ज्ञान-विज्ञान की भाषा है, दूसरी ओर प्रशासन की और तीसरी और संतों तथा भक्तों की जिन्होंने मानव मात्र को समान मानकर अखण्ड एवं निर्मल मनुष्यता की परिकल्पना की थी।

अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय का समारंभ हो चुका है। हिंदी में पांच लाख नए शब्द पयार्य बन चुके हैं। अखिल भारतीय शब्दावली में बीस हजार शब्दों का निर्माण हो चुका है। हिंदी कम्प्यूटर, इलैक्ट्रॉनिकी, अंतरिक्ष, वैमानिकी आदि विषयों में स्थापित हो चुकी है।

चरमोत्कर्ष तथा समाकलन के स्वर

मॉरिशस के चतुर्थ विश्व हिंदी सम्मेलन (1993) में विश्वभाषा हिंदी को उत्कर्ष के आयाम मिले। पोर्ट लुइस में अंतर्राष्ट्रीय स्मारिका का प्रकाशन हुआ। महात्मा गांधी संस्थान के तत्त्वावधान में आयोजित विश्व हिंदी सम्मेलन में हिंदी को सचमुच अंतर्राष्ट्रीय संस्थिति प्राप्त हो गई। विश्व स्तर पर हिंदी को प्रस्थापित करने के निमित्त अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सचिवालय की स्थापना की गयी।

कैरिबयन सागर के वेस्टइंडीज के ट्रिनिडाड-टुबैगो द्वीप के वेस्टइंडीज विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में सैण्ट आगस्टीन की हिंदी निधि द्वारा पंचम विश्व हिंदी सम्मेलन (1996) आयोजित है। इसका संयोजन समिति में हिंदी निधि के अध्यक्ष चंका सीताराम, महासचिव रवींद्रनाथ, महाराज रविजी तथा शैक्षिक समिति के सभापति डा. वी. आर. जगन्नाथन हैं। ट्रिनिडाड टुबैगो के प्रधानमंत्री श्री बसुदेव पांडेय की संरक्षकता में आयोजित तथा भारत सरकार द्वारा समर्थित विश्व हिंदी सम्मेलन का आयोजन लगभग 150 वर्ष पूर्व अंग्रेज गन्ने की खेती के लिए भारतीय मजदूरों को लेकर त्रिनिदाद गए थे—उसकी वर्षगांठ को भी सार्थक बना रहा है। इसका मुख्य विषय अप्रवासी भारतीय तथा हिंदी है। इस शुभावसर पर भारत सरकार का विदेश मंत्रालय भी एक अंतर्राष्ट्रीय स्मारिका का प्रकाशन कर रहा है। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली का 'गगनांचल' भी तद्विषयक उपादेय एवं प्रासंगिक विशेषांक प्रकाशित कर चुका है। सम्मेलन में यह प्रखर स्वर गुंजायमान होने वाला है कि संयुक्त राष्ट्र संघ हिंदी भाषा को स्वीकार किए बिना अधूरा है। पोर्ट आफ स्पेन में विश्व के पांच सौ प्रतिनिधि एकत्र होकर हिंदी को अंतर्राष्ट्रीय भाषा के अभिषेक का कलपरोपण करने वाले हैं।

आज अमेरिका के मुरफ्रीसबोरो के अंतर्राष्ट्रीय हिंदी समिति ने अमेरिका में हिंदी के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसके संस्थापक डॉ. कुंवर चंद्रप्रकाश सिंह तथा अध्यक्ष

डॉ. रविप्रकाश सिंह ने इसके विकास का मार्ग प्रशस्त किया है। इसके द्वारा प्रकाशित प्रथम विश्व कविता संग्रह 'विश्वा : तेरे काव्य सुमन'। अंतर्राष्ट्रीय हिंदी पत्रिका 'विश्वा' इसके अमेरिका में आयोजित आठ वार्षिक अधिवेशन, अंतर्राष्ट्रीय स्मारिकाएं, 'प्रवासी स्वर,' 'अमेरिका के हिंदी कवि' आदि महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त कर चुके हैं।

विश्व में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हिंदी का भविष्य सुखद, उज्ज्वल एवं पूर्ण आशाप्रद है। □

हिंदी राष्ट्रीयता के मूल को सींचती है और दृढ़ करती है।

—राजर्षि टंडन

अंतर्राष्ट्रीय हिंदी : प्रकाशन के प्रश्नचिह्न

विजय प्रकाश बेरी

हिंदी का जहां एक ओपर अप्रतिम विकास हुआ है वहां प्रकाशन की दिशा में पर्याप्त कार्य नहीं हुआ है। विजय प्रकाश बेरी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी के प्रकाशन स्वरूप को लेकर निरंतर सवाल उठाते रहे हैं।

'मैं नरक में भी उत्तम पुस्तकों का स्वागत करूंगा। क्योंकि इनमें वह सत्य है जहां यह रहेंगी आप ही स्वयं स्वर्ग बन जाएगा।' लोकमान्य तिलक का यह कथन उनकी रुचि, अध्ययन वृत्ति और स्वभाव का परिचायक है। वहीं बड़ी स्पष्टता से पुस्तक प्रकाशन के उद्देश्य को भी निर्धारित करता है। हम ऐसी पुस्तकें प्रकाशित करें जो जीवन को स्वर्ग बना दें। स्वर्ग की वास्तविक परिकल्पना तो किसी के पास नहीं है पर इतना जरूर है कि जो हम जी रहे हैं उससे बेहतर है। अतएव जीवन को उसके बेहतरी की ओर ले जाना ही पुस्तक और पुस्तक के उत्पादन का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। लेखक और प्रकाशक संसार की चिंतन अस्मिता के संरक्षक हैं। इनके कंधों पर दुनिया के सोच का गुरुतर भार है। एक ओर इस बोझ को उठाना लेखक का दायित्व है तो दूसरी ओर पुस्तक को जनसुलभ कराना प्रकाशक का कर्तव्य है। इस संदर्भ में हमें देखना होगा कि विश्व में हिंदी की स्थिति क्या है, हिंदी की अपेक्षाएं क्या हैं, हिंदी का स्थान क्या है। हिंदी प्रकाशन को क्या करणीय था, उसने क्या किया और क्या नहीं किया। यह इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि आज हिंदी प्रकाशक भारत मात्र का प्रकाशक नहीं रहा, उसका बाजार पूरे विश्व में फैला हुआ है।

'वसुधैव कुटुम्बकम' के शाश्वत आदर्श और भाषागत सद्‌भाव के साथ राष्ट्र भाषा प्रचार समिति वर्धा के तत्त्वावधान में प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन 1975 में आयोजित हुआ

था। उसके सूत्रधार मराठी भाषी साहित्यकार श्री अनन्त गोपाल शेवडे थे, इनकी पहली पुस्तक संस्थान ने हिंदी में प्रकाशित की वे आज भी मेरी स्मृति में है। महात्मा गांधी संस्थान, मॉरिशस द्वारा द्वितीय विश्व हिंदी सम्मेलन, भारत सरकार द्वारा नयी दिल्ली में अनुष्ठित तृतीय विश्व हिंदी सम्मेलन इसकी अगली कड़ी थी। 1993 में पुनः मॉरिशस सरकार द्वारा आयोजित चतुर्थ विश्व हिंदी सम्मेलन ने हिंदी को विश्व भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने की पुष्टि की। लगता है वेस्टइंडीज विश्वविद्यालय तथा हिंदी निधि द्वारा अप्रैल 96 में आयोजित यह पांचवा विश्व हिंदी सम्मेलन व्यावहारिक रूप से विश्व हिंदी परिवार के लिए सार्थक सिद्ध होगा और मॉरिशस के संकल्प को दृढ़ करेगा।

संयुक्त राष्ट्रसंघ में हिंदी को मान्यता दिलाने की जोरदार मांग की जा रही है। चाहे तर्क हो या तथ्य किसी भी आधार पर इस मांग के औचित्य को नकारा नहीं जा सकता। अब तक संयुक्त राष्ट्रसंघ में छह भाषाएं मान्यता प्राप्त हैं। इनमें अंग्रेजी, फ्रेंच, चीनी, रूसी और स्पेनिश प्रारंभ से ही मान्य रही हैं, किंतु बाद में अरबी को भी मान्यता मिली।

संयुक्त राष्ट्र महासभा की आधिकारिक सूची में अन्य किसी भाषा को स्थान दिलाने के लिए प्रक्रिया नियमों में संशोधन की आवश्यकता होगी। इस कार्य के लिए महासभा में उपस्थित सदस्यों के बहुमत से उसे स्वीकृति मिलना जरूरी है। किसी भाषा को बोलने वाले देशों और व्यक्तियों की संख्या ही भाषा को मान्यता दिलाने का मुख्य आधार है। इस दृष्टि से हिंदी को बहुत पहले ही राष्ट्रसंघ में मान्यता मिल जानी चाहिए थी, क्योंकि हिंदी बोलने वालों की संख्या संसार में चीनी भाषियों के बाद सबसे अधिक है, लगभग अंग्रेजी के समतुल्य।

विभिन्न भाषा बोलने वालों के संबंध में डॉ. अर्नाल्ड द्वारा प्रस्तुत आंकड़े बहुत पुराने हैं। इसके अनुसार विश्व में 22 करोड़ लोगों द्वारा हिंदी बोली जाती है। वस्तुतः भारत में ही जिन प्रदेशों में हिंदी बोली जाती है तथा सरकारी कामकाज की भाषा है, उन्हीं की जनसंख्या लगभग 50 करोड़ से ऊपर है। इनके अतिरिक्त भारत में शेष प्रदेशों में भी हिंदी बोलने वाले हैं। भारत ही नहीं भारत के बाहर भी जिन देशों में भारतीय मूल के लोग रहे हैं मॉरिशस, फीजी, सूरीनाम, गुयाना, ट्रिनीडाड, टुबैगो, नेपाल, श्रीलंका, थाईलैण्ड, केनिया, मलेशिया जैसे देश जहां अधिक संख्या में भारतवंशी लोग हैं, यहां किसी न किसी रूप में हिंदी पढ़ी-पढ़ायी, बोली और समझी जाती है। अकेले इंग्लैंड में ही दस लाख से अधिक भारतीय मूल के लोग हैं जो हिंदी अथवा उसी की एक शैली उर्दू में अपने निजी दैनिक कार्य करते हैं। हिंदी के बृहत्तर परिवार में सदस्यों की यदि गणना की जाय तो हिंदी की जनसंख्या करीब 60 करोड़ के ऊपर होगी। प्रबल जनबल होने पर भी हिंदी राष्ट्रसंघ में उपेक्षित है, आखिर क्यों? पहला कारण तो लगता है कि हिंदी भाषियों में भाषा का अपेक्षित स्वाभिमान नहीं है। दूसरी बात यह है हिंदी के पीछे विश्व राजनीति (आयल पॉलिटिक्स) जैसा कोई दबाव नहीं है। हिंदी भाषाभाषियों ने ही अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया और

न वह दबाव बनाया जो अरबी को स्थान मिलते समय बना था। किंतु यह स्थिति अधिक दिनों नहीं रह सकेगी, क्योंकि आज विश्व हिंदी मंच सक्रिय है।

राष्ट्रसंघ में हिंदी की समस्या से हटकर यदि हम देखें तो भी हिंदी का क्षितिज काफी विस्तृत है। आवश्यकता केवल हिंदी के प्रति हमारे स्वाभिमान की है। अंग्रेजी एकमात्र अंतर्राष्ट्रीय भाषा है, यह वास्तविकता नहीं है। न तो अंग्रेजी यूरोप के हर देश में प्रचलित है और न ही इसके बिना विकसित देश चीन, जापान, फ्रांस, जर्मनी, रूस आदि का बहुमुखी विकास ही रुका। 1974 के पहले स्वयं अंग्रेजी इंग्लैण्ड में बोली नहीं जाती थी। उस देश का सारा काम फ्रेंच में होता था। ब्रिटेन को कानून बनाना पड़ा कि जो वकील अंग्रेजी में बहस नहीं कर पाएगा उसे 15 पौण्ड का जुर्माना लगेगा। इतने संघर्ष के बाद अंग्रेजी ने अपने देश में स्थान बनाया। इसलिए भारत को भी अपनी राष्ट्रभाषा के संबंध में पुनः आत्मविश्लेषण कर हिंदी को स्थापित करना होगा।

अंग्रेजों द्वारा दक्षिण अफ्रीका ले गए गिरमिटिया (एग्रीमेंट) मजदूर प्रवासी भाइयों ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में भी भाग लिया। डरबन, नाटाल से ये लोग भारत आये थे। इनमें से एक श्री बुझावन जी ने कलकत्ते में 1925 के लगभग हमारे परिवार का आतिथ्य स्वीकार किया था। वे जेल भी गए और बाद में अफ्रीका लौट गए। स्वामी भवानीदयाल जी ने प्रवासी भारतीयों पर 'प्रवासी की आत्मकथा' लिखी। स्वामी जी ने 'हिंदी' नामक समाचार-पत्र भी प्रकाशित किया। उन्हीं दिनों गांधी जी का 'असहयोग दर्शन' प्रकाशित हुआ। भाई परमानंद और स्वामी शंकरानंद जी ने हिंदीभाषी भारतीयों को अपनी मातृभाषा के महत्त्व समझाए। ठीक इसी के बाद प्रवासी भारतीयों के ऊपर और खिलाफत आंदोलन के संबंध में गांधी जी का एक लेख संग्रह प्रकाशित हुआ, जिसका नाम था 'हिंदुस्तान का राष्ट्रीय झण्डा।'

राजनीतिक पाबंदियों के बावजूद दक्षिण अफ्रीका में लगभग चार हजार छात्र हिंदी पढ़ते थे। जब राजनीतिक प्रतिबंध समाप्त हो गए हैं। इनकी संख्या निकट भविष्य में अत्यधिक होना स्वाभाविक है। दक्षिण अफ्रीका के लिए विशेष रूप से हिंदी पाठ्यक्रम बनाना होगा और तदनुरूप पुस्तकें लिखवाकर प्रकाशित करनी होंगी।

आजादी पूर्व बर्मा (आज का म्यामार) और मलेशिया हिंदीभाषी मजदूर किसानबहुल क्षेत्र थे। बर्मा भारत का एक अंग था और सिंगापुर, मलेशिया अंग्रेजी साम्राज्य के अधीनस्थ रहे, जहां भारतीय मूल के लोग जाकर बस गए थे। उन दिनों बर्मा में विश्वविद्यालय स्तर की हिंदी की शिक्षा नहीं दी जाती थी। डॉ. ओमप्रकाश रंगून में और पं. हरिवदन शर्मा जियावाड़ी में हिंदी साहित्य के अध्येताओं को पढ़ाते थे।

वेस्टइण्डीज के नाम से दक्षिणी अमेरिका के उत्तर में छोटे-बड़े द्वीप समूह फैले हुए हैं, जिनमें एक द्वीप समूह का नाम ट्रिनीडाड टुबैगो है। सन् 1845 के बाद हजारों भारतीय

मजदूरों के रूप में वहां ले जाए गए। पढ़ने-लिखने के नाम पर भोजपुरी, अवधी में रामायण, पुराण, महाभारत ही उनकी सांस्कृतिक थाती थी। ट्रिनीडाड के रेवरेंड जान मार्टन, मि. एण्डू गयादीन (अयोध्या प्रसाद), पादरी डॉ. केनेथ ग्रांट आदि मिशनरियों की हिंदी सेवा स्मरणीय है। सनातन धर्म के पं. भदेस सगन महाराज और आर्य समाज के अजुध्या प्रसाद का हिंदी के प्रति अवदान अविस्मरणीय है। भारतीय विद्या संस्थान के संस्थापक श्री हरिशंकर आदेश का योगदान हिंदी और भारतीय संस्कृति के प्रति कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहा। परस्पर मिलने पर ट्रिनीडाड के भारतीय 'सीताराम' और 'नमस्ते' के अभिवादन द्वारा भारतीय संस्कृति से जुड़े रहे। व्यक्ति विशेष के रूप में पं. शंभुनाथ कपिलदेव, हंस हुनमान सिंह, उच्चायुक्त आनंद मोहन सहाय, उच्चायुक्त श्री मुनिलाल की हिंदी सेवाएं सराहनीय हैं। वर्तमान में हिंदी निधि तथा वेस्टइण्डीज विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्त्वावधान में भारतीय मूल के मजदूरों 'जहाजी भाइयों' के ट्रिनीडाड पहुंचने की 150वीं वर्षगांठ पर आयोजित पांचवां विश्व हिंदी सम्मेलन ने कैरेबियन द्वीप समूह में ही नहीं, अपितु विश्व में हिंदी की अलख जगा दी है।

ब्रिटिश सरकार ने सन् 1879 में लगभग 60 हजार भारतीयों को गन्ने के खेतों में काम करने के लिए फिजी में बसाया। कालांतर में फिजी में हिंदी भाषा ने फिजी हिंदी का रूप धारण किया जिसमें हिंदी, भोजपुरी, पंजाबी, तमिल, तेलगू आदि के शब्द मिश्रित होने लगे। हिंदी की शैक्षिक चेतना जागी। पं. रामचंद्र कीर्तन विशारद, ठाकुर संसार सिंह, पं. कमला प्रसाद मिश्र आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

अनेक विदेशियों ने हिंदी में सर्जनात्मक कार्य किए हैं। वारनिक्कोव का 'रामचरित मानस' का रूसी अनुवाद भुलाया नहीं जा सकता। रूस के डॉ. ई.पी. चेलीशेव भी स्मरणीय हैं। चेकोस्लोवाकिया के प्रो. ओदोलेन स्मेकल की हिंदी की कविताएं काफी सम्मानित हैं। इंग्लैंड के आर.एस. मेकग्रेगर, जर्मनी के डॉ. लौथार लुत्जे, डॉ. मात्सलाफ, स्वीडन के लेनार्थ पियर्सन का भी हिंदी के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान है। हिंदी प्रचारिणी सभा मॉरिशस के स्व. एस.एन. भगत जो कि 72 वर्ष की अवस्था में प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन नागपुर में भाग लेने के लिए आए थे तथा मारीशस के ही स्व. सोमदत्त बखौरी, उन दोनों से मेरा व्यक्तिगत संपर्क रहा, हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए स्मरणीय हैं। भारत में आयोजित प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन के अध्यक्ष तथा मॉरिशस में आयोजित द्वितीय विश्व हिंदी सम्मेलन के आयोजक मॉरिशस के प्रधानमंत्री सर शिवसागर रामगुलाम के विश्व पटल पर हिंदी के प्रचार-प्रसार के योगदान को विस्मृत नहीं कियां जा सकता।

विदेशों में बसे हिंदी मूल के भारतीयों के मन में भारत की अस्मिता, सांस्कृतिक आध्यात्मिक, नैतिक स्मृति उन्हें हिंदी से जोड़ती है। इसलिए हिंदी हिंदुस्तान के बाहर भी किसी-न-किसी रूप में फलती-फूलती दीखती है। धार्मिक ग्रंथ, रीति-रिवाज, भारतीय संस्कृति, संस्कार और इन सबसे बढ़कर विदेशों में गई भारतीय माताओं के योगदान हिंदी

और अन्य भारतीय भाषाओं को जीवित रखने में अन्यतम महत्त्व रखते हैं। रामचरितमानस (रामायण), हनुमानचालीसा और पुराण, धार्मिक-कथाओं, व्रत-त्यौहारों के माध्यम से इन महिलाओं ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी हिंदी और भारतीय संस्कृति को किसी-न-किसी रूप में टापुओं में, भारत से हजारों-हजारों मील दूर बचाये रखा। वे धन्य हैं, प्रणम्य हैं। मिशनरियों, सनातन धर्मसभा, आर्यसमाज, ब्रह्मकुमारी विश्वविद्यालय, रामकृष्ण मिशन, हरेराम-हरेकृष्ण (डिवाइन लाइफ मिशन), कबीर पंथी आदि धार्मिक संस्थाओं ने विदेशों में हिंदी को बल देकर उसे जीवित रखने की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

बताया जाता है अब विदेशों में 250 से ऊपर विश्वविद्यालयों तथा संस्थाओं में हिंदी पढ़ायी जा रही है। स्वतंत्रता के बाद 90 विश्वविद्यालयों में हिंदी का पठन-पाठन होता था। प्रश्न हिंदी पढ़ानेवाले विश्वविद्यालयों तथा संस्थाओं की बढ़ोत्तरी का नहीं है। प्रश्न है हिंदी पढ़नेवालों की संख्या वृद्धि का, जो कि दिन-प्रतिदिन सिमटती जा रही है। ऐसा क्यों हो रहा है?

स्वतंत्र भारत की पुरानी सांस्कृतिक विरासत से संपर्क और व्यापार का आकर्षण सभी देशों को था। राजनयिक सूत्र भी फैल रहे थे। लगभग हर महत्त्वपूर्ण देश की पौध हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाएं सीखने भारत आई। हर देश का आकर्षण हिंदी सीखने और पढ़ने के प्रति बढ़ा। पूरे विश्व में हिंदी का वातावरण बना। किंतु कुछ वर्षों बाद हिंदी सीखने और पढ़ने की ललक मरने लगी। भारत जैसे देश से संपर्क करने के लिए हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं का ज्ञान आवश्यक नहीं रहा। आज भी गुलामी की भाषा का प्रयोग उच्च स्तर पर यथावत् है। विदेशों में हिंदी सीख रहे विदेशी छात्रों को रोजी-रोटी, सम्मान-ज्ञान किसी के लिए भी हिंदी की आवश्यकता नहीं है। हिंदी के विदेशी विद्वान तथा हिंदी बोलने वाले हिंदी प्रेमी जब भारत आते हैं तो उन्हें यह अनुभव कर दुःख और आश्चर्य होता है जब भारतीय अपनी भाषा के प्रति उदासीन दीखते हैं। हम आंकड़ों के जाल में अपने को भरमा लें और प्रसन्न हों लेकिन अभी भी अंग्रेजी के प्रयोग के कारण विश्व हिंदी परिवार सिमटता जा रहा है।

आजादी के पूर्व हिंदी की पुस्तक खरीदना और पढ़ना आजादी की लड़ाई का एक अंग और देशभक्ति था। कांग्रेस के अधिवेशन, हिंदी साहित्य सम्मेलन, आर्यसमाज के अधिवेशनों आदि में पुस्तक प्रदर्शनियां लगायी जाती थीं। स्वतंत्रता के पूर्व जो हिंदी संपूर्ण राष्ट्र को जोड़ने का कार्य करती थी, राष्ट्रभाषा का स्थान रखती थी, वह अपने देश में मुट्ठीभर राजनीतिज्ञों, अफसरशाहों और चंद गुलामी की मानसिकता वाले शिक्षित वर्ग और नवधनाढ्यों के पैरों तले रौंदी जा रही है। विदेशी भाषा पढ़ने और सीखने का अर्थ अपनी भाषा की अवहेलना करना नहीं होता। अपितु हमें इन विदेशी भाषाओं से हिंदी का शब्द भण्डार भरना चाहिए, जिससे हिंदी समृद्ध हो।

भाषा राष्ट्रीय अस्मिता का माध्यम बनकर जीवित रहती है। कटु सत्य है जब भारत

के ही राजनीतिक क्षितिज पर राष्ट्रभाषा के नाम पर मगरमच्छ के आंसू गिराये जाते हैं और वोट की राजनीति पर हिंदी की रोटी सेंकी जाती है तो विश्व हिंदी परिवार पर इसका असर पड़ना लाजमी है। अब भारत में राजभाषा नियम तथा कानून की बातें बेमानी हो चुकी हैं, काफी कागज इसके लिए काले किए जा चुके हैं, फिर भी हिंदी अपने देश में ही बेगानी होती जा रही है।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद (आई.सी.सी.आर.) के माध्यम से हमारे हिंदी लेखक-प्रकाशक विदेशों में हिंदी पाठकों और विद्वानों से सहज संपर्क बना सकते हैं। विचारणीय है कि हमने इस मंच के माध्यम से हिंदी के संप्रसारण के लिए अब तक क्या कुछ ठोस काम किया। अंतर्राष्ट्रीय सहयोग परिषद, शताब्दी वर्ष मना रही हिंदी की प्राचीनतम संस्था नागरी प्रचारणी सभा, आथर्स गिल्ड आफ इंडिया, अखिल भारतीय हिंदी प्रकाशक संघ, फेडरेशन आफ इंडियन पब्लिशर्स, नेशनल बुक ट्रस्ट, साहित्य अकादमी, केंद्रीय हिंदी निदेशालय इस दिशा में सक्रिय भूमिका निभा सकते हैं। इसके लिए विदेश मंत्रालय का सहयोग हिंदी के अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व को स्वीकार करते हुए महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है।

हिंदी के बढ़ते हुए आयाम और परिवेश को देखते हुए हिंदी प्रकाशन जगत का दायित्व बढ़ गया है। देखना होगा कि अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व की कितनी पुस्तकें हिंदी में लिखी गईं और प्रकाशित हुईं। अंतर्राष्ट्रीय संबंध और अंतर्राष्ट्रीय बाजार व्यवस्था के विषय में हिंदी प्रकाशन का क्या अवदान रहा है। फिर हिंदी और इतर विश्व भाषाओं के इस समय कितने कोश उपलब्ध हैं, और नहीं है तो उन्हें कैसे उपलब्ध कराया जा सकता है। स्मरणीय है कि इस संबंध में केंद्रीय हिंदी निदेशालय, दिल्ली तथा केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा का कार्य महत्त्वपूर्ण है। विदेशियों से इन्हीं के माध्यम से हिंदी का संपर्क बढ़ रहा है। पूर्व में यह कार्य सस्ता साहित्य मंडल दिल्ली, सर्वसेवा संघ वाराणसी और गांधी जी के नवजीवन ट्रस्ट अहमदाबाद से होता रहा है।

विदेशों में जहां भारतीय मूल के लोग रहते हैं धार्मिक पुस्तकों, विशेषकर हिंदी संस्कारों की पुस्तकों की मांग है। सनातनधर्मी और आर्यसमाजी दोनों की विचारधाराओं के लोगों का रुझान इसी तरह की पुस्तकों की ओर है।

'कैपेक्सिल' हमारे देश के निर्यातकों की संस्था है। इसके आंकड़ों से हिंदी की पुस्तकों की निर्यात की स्थिति संतोषप्रद नहीं है। यह निर्यात कई गुना बढ़ाया जा सकता है। इस संबंध में अखिल भारतीय हिंदी प्रकाशक संघ, फेडेरेशन आफ इंडियन पब्लिशर्स की भूमिका महत्त्वपूर्ण होगी।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी विषय में हिंदी को बहुत कुछ करना है। प्रचार साधनों और उनके द्वारा दिए जा रहे मनोरंजन कार्यक्रमों से संबंधित हिंदी में पुस्तकें नहीं हैं। पिछले एक दशक से जनरुचि में आए परिवर्तन की ओर भी हमें ध्यान देना होगा। हम पढ़ना कम,

देखना और सुनना अधिक चाहते हैं। इसलिए टी.वी. और रेडियो के लिए हिंदी में लेखन की मांग बढ़ रही है। इस लेखन की तकनीक के संबंध में पुस्तकें नहीं के बराबर हैं, जबकि अंतर्राष्ट्रीय भाषाओं में इस पर बहुत कुछ आ चुका है।

आज जीवन में वैज्ञानिक सोच का विस्तार बढ़ रहा है। ऊर्जा के नए-नए साधनों के शोध की ओर हमारा चिंतन उन्मुख है। पर्यावरण के संतुलन और जीवनोपयोगी यंत्रों की ओर हमारा रुझान है। हम टी.वी., फ्रिज, मोटरकार, वाशिंगमशीन, कम्प्यूटर, फैक्स आदि के संबंध में भी जानना और समझना चाहते हैं। यह क्षेत्र भी हिंदी प्रकाशन की अपेक्षाएं रखता है। चिकित्सा विज्ञान, इंजीनियरिंग की विविध शाखाओं के लिए हमें साहित्य उपलब्ध कराना है। कलकत्ता स्थित इंस्टीट्यूशन आफ इंजीनियर्स के सहयोग से यह संभव है।

भारत अपने दार्शनिक चिंतन से संसार को प्रभावित करता रहा है, लेकिन अपने दर्शन की विस्तृत जानकारी के लिए हमें विदेशी भाषाओं की पुस्तकें पढ़नी पड़ती हैं। दार्शनिक चिंतनसाहित्य हिंदी में नहीं के बराबर है।

हमारा एक संकट और है कि हिंदी प्रकाशन अभी अनुवाद और भाषांतरण के युग में है। मूलतः वैज्ञानिक और तकनीकी संदर्भ में हम अनुवाद पर आश्रित हैं। इसका मूल कारण यह है कि उस विषय का मौलिक लेखन हिंदी में नहीं हो रहा है। हिंदी समसामयिक विषयों की पुस्तकों के प्रकाशन में पिछड़ रही है। प्रकाशन जगत के सामने नयी चुनौतियां खड़ी हैं।

चिंतन यात्रा के अंतिम पड़ाव पर जब हम पहुंचते हैं तो हिंदी प्रकाशन जगत के सामने अनेक चुनौतियां दिखायी देती हैं। चुनौतियां केवल हिंदी प्रकाशन की ही हैं, अन्य भाषाओं के प्रकाशन के संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता।

पहले हर समझदार के बिस्तर पर चादर की तरह पुस्तकें अनिवार्य थीं। अब ये पुस्तकें ड्राइंग रूम की अलमारियों में सिमटकर बंद हो गई हैं। स्टेटस सिंबल का रूप ले चुकी हैं। दुर्भाग्य यह है कि यह सम्मान भी हिंदी की पुस्तकों को नहीं अपितु अंग्रेजी की अनपढ़ी-अनछुई पुस्तकों को ही मिला है।

यह बात विश्व में घट रहे रीडिंग कल्चर की ओर भी संकेत करती है। यह गिरावट हिंदी में अधिक आयी है।

पुस्तक निर्माण में लेखक, प्रकाशक और इन सबसे बढ़कर पाठक की भूमिका होती है। पाठक, लेखक और पुस्तक प्रकाशक की त्रयी का संतुलन अनिवार्य है। अब यह संतुलन लगभग विकृत हो चुका है। पाठक छूटते जा रहे हैं।

लगभग 30 हजार प्रवासी बंगला भाषियों का बाजार 'आनन्दबाजार पत्रिका' के वार्षिक विशेषांक के लिए खोजा जा सकता है तो क्या कारण है हिंदी की पत्रिकाएं विश्व पटल पर अपना वांछित स्थान नहीं बना पायीं। यह स्थिति हिंदी प्रकाशक और पाठक के बीच की दूरी का संकेत है।

हिंदी की यात्रा के दो सौ वर्ष पूरे हो चुके हैं। हमें सोचना होगा कि जहां स्वतंत्रता के पूर्व हम 10 से 50 हजार तक पुस्तकों का संस्करण करते थे वहां स्वतंत्रता के लगभग 5 दशक के बाद 500 के संस्करण की स्थिति बन आयी है। ऐसी स्थिति अत्यंत चिन्तय है।

इन संदर्भ में यह विचारणीय है कि पुस्तकें हमारी प्राथमिकता की सूची की शायद अंतिम इकाई हो गई हैं। हम सब कुछ खरीदने के बाद पुस्तकें खरीदते हैं और उसी के उत्पादन का कच्चा माल (कागज) आज भारत में सबसे मंहगा है। आज सोने की भी कीमत उस अनुपात में नहीं बढ़ी है जिस अनुपात में कागज की कीमत। पुस्तकों के प्रकाशन पर यह एक बड़ा संकट है।

हम वयस्क हिंदी पाठक के लिए तो सामग्री प्रस्तुत कर रहे हैं, पर वृहत्तर हिंदी परिवार के बच्चे विश्वस्तर पर बाल साहित्य नहीं पा रहे हैं। थाईलैंड का बच्चा हिंदुस्तान के बारे में बहुत जानना नहीं चाहेगा और न यह जानना उसके लिए उपयोगी होगा जितना उसके देश थाईलैण्ड के बारे में। विदेश में रहने वाले इन हिंदी भाषी बच्चों के लिए उस देश के परिवेश व समस्याओं के अनुसार पुस्तकें तैयार करानी चाहिए।

बच्चों को संस्कारित करने का मुख्य दायित्व मां का है। हमें महिलाओं से संबंधित उपयोगी आधुनिकतम साहित्य उनकी रुचि के अनुसार प्रकाशित करना चाहिए। विशेष रूप से प्रवासी महिलाओं के लिए हिंदी की पुस्तकों का लेखन और प्रकाशन उनके परिवेश और रुचि के अनुसार हिंदी के प्रचार और प्रसार के लिए महत्त्वपूर्ण होगा।

आज हिंदी की जो रचनाएं हो रही हैं, उनमें मौलिक प्रतिभाएं भी हैं। इनकी जानकारी विश्व के हिंदी पाठकों को होनी चाहिए। इसके लिए हिंदी प्रकाशनों का शीर्षक विश्व कैटलाग छपना चाहिए। यह प्रचार कार्य नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता तथा दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी के माध्यम से किया जा सकता है। हिंदी के ऐसे मौलिक लेखन को जो अभारतीयों और अहिंदीभाषियों द्वारा किया गया है तथा किया जा रहा है, इसकी भी जानकारी तथा उनके पढ़ने-पढ़ाने की व्यवस्था भी होनी चाहिए।

आज विश्व में फैले हुए हिंदी लेखक विद्वत परिवार का कोई परिचय कोश नहीं है जिससे कि एक-दूसरे से संपर्क सूत्र बना रहे। यहां तक कि प्रामाणिक भारतीय हिंदी लेखक परिचय कोश भी अनुपलब्ध है। केंद्रीय हिंदी निदेशालय ने काफी वर्ष पूर्व इस पर कार्य किया था जो बिना अद्यतन रूप में संशोधित हुए अपना महत्त्व खो चुका है।

वैज्ञानिक प्रगति आज शिखर छू रही है। जहां इसने जनजीवन को बहुत-कुछ सहूलियत प्रदान की है, वहीं प्रकाशन के समक्ष समस्या खड़ी कर दी है। आज कविता की एक पुस्तक छापने पर जितना व्यय पड़ता है उसके चौथाई व्यय में आडियो कैसेट बन सकते हैं, जिसमें कविता के साथ श्रोतागण कवि की वाणी का आनंद भी ले सकता है। फिर कम्प्यूटराइज्ड डिस्क में पांच-पांच सौ पुस्तकें आ सकती हैं। यह स्थिति पुस्तक के मुद्रित रूप के भविष्य

के संबंध में भी प्रश्नचिह्न खड़ा करती है। संसार के कुछ चिंतकों का यह निष्कर्ष है कि पुस्तक का मुद्रित रूप मुश्किल से अब 50 वर्षों तक ही संभव है। फिर भी पुस्तकें किसी न किसी रूप में तो रहेंगी ही। इसे नकारा नहीं जा सकता।

कभी-कभी हमारी कर्त्तव्यहीनता भी हमारे सामने चुनौती बनकर खड़ी हो जाती है। इस संदर्भ में भारतीय राजनीतिज्ञों और दूतावासों की भूमिका विचारणीय है। हिंदी के प्रचार-प्रसार में उन्हें जितना करना चाहिए किसी कारणवश वे उतना नहीं कर पाते हैं। आज न तो विश्व के समक्ष हिंदी में उपलब्ध साहित्य की कोई आधिकारिक सूची है और न हिंदी पुस्तक उत्पादन का व्यवस्थित कार्यक्रम।

इन परिस्थितियों के बावजूद हम निराश नहीं हैं। हम आगे बढ़ रहे हैं। हमारी गति मंद जरूर है, पर हमें दिशाभ्रम नहीं है। हममें आत्मविश्वास है। बाधाओं और चुनौतियों के जंगल से भी हम ऐसे सम्मेलनों के मंचों से विचार-विमर्श के द्वारा अपना रास्ता निकाल लेंगे। हमें दायित्व बोध हैं और आपके सामूहिक सहयोग और चिंतन के प्रति हमारी निष्ठा है। यही हमारी सबसे बड़ी सम्पत्ति है। □

राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी हमारे देश की एकता में सबसे अधिक सहायक सिद्ध होगी, इसमें दो राय नहीं।

—जवाहरलाल नेहरू

प्रशासनिक हिंदी का विकास

नारायणदत्त पालीवाल

भाषा का तभी समुचित विकास हो सकता है, जब उसके पास प्रशासन की समुचित शब्दावली हो। हिंदी का विरोध करने वालों ने हिंदी में इसके अभाव की ही चर्चा की है। प्रख्यात हिंदी सेवी एवं रचनाकार नारायणदत्त पालीवाल प्रशासनिक हिंदी की सशक्त तस्वीर प्रस्तुत कर रहे हैं।

हमारे देश में काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक तथा गुजरात से लेकर नगालैंड तक अनेक भाषाएं, उपभाषाएं, बोलियां तथा उपबोलियां बोली जाती हैं। इनमें विभिन्नता के होते हुए भी एकता के दर्शन होते हैं। प्राचीन काल से ही भावनात्मक एकता के संदेश के साथ-साथ भारतीय साहित्य में देश की सांस्कृतिक गरिमा, यहां की सभ्यता, यहां के आदर्श और जीवन के शाश्वत मूल्यों को समान रूप से वाणी मिली है। यही कारण है कि सभी भारतीय भाषाएं भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में इस धरती पर सांस्कृतिक एकता की पावन गंगा प्रवाहित करती हैं। भाषा मानव को मानव से जोड़ती है। यह विचारों के आदान-प्रदान में सहायक होने के साथ-साथ परंपराओं, संस्कृतियों और मान्यताओं तथा विश्वासों को समझने का माध्यम भी है। प्राचीनकाल से ही विभिन्न भाषाएं इस देश में पारस्परिक स्नेह, भाईचारे की भावना तथा सांस्कृतिक एकता और अखंडता को बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती रही है। इस विचार से देखा जाए तो संस्कृत, हिंदी तथा भारतीय संविधान में मान्यता-प्राप्त अन्य प्रादेशिक भाषाएं इस देश की सामासिक संस्कृति के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

राजभाषा हिंदी की संवैधानिक स्थिति

जब भारत स्वतंत्र हुआ तो इस बात की आवश्यकता पड़ी कि नवोदित राष्ट्र की गरिमा और आत्मसम्मान के अनुकूल हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में अंगीकृत और विकसित किया जाए। अतः समाज की नयी-नयी आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में और भारतीय जन-जीवन के चिंतन तथा भावनाओं और संवेदनाओं की अभिव्यंजना के माध्यम के रूप में अन्य भारतीय भाषाओं के सहयोग के साथ-साथ हिंदी को संपर्क भाषा के रूप में चुना गया। भाषायी स्वाभिमान स्वतंत्र राष्ट्र के जीवन का एक अंश होता है। अतः स्वतंत्रता के पश्चात हिंदी को राजकाज की भाषा बनाने के पीछे यह भावना थी कि संपर्क भाषा के रूप में विकसित होकर हिंदी, ज्ञान-विज्ञान, अध्ययन-अध्यापन और साहित्य की ही भाषा न रहे वरन् उसे प्रशासनिक भाषा का रूप भी दिया जाए और सरकारी काम-काज, बोलचाल तथा कार्यव्यवहार की भाषा बना दिया जाए। यह ठीक भी था क्योंकि कोमलकांत पदावली प्रशासनिक कार्यों के लिए प्रयोग में नहीं लाई जा सकती। जिस भाषा ने संत कबीर की साखियों को सजाया, सूरदास और तुलसीदास की कविता को संवारा और प्रसाद, पंत तथा महादेवी के गीतों को मधुर रूप दिया उसे संपर्क भाषा के रूप में विकसित करने तथा प्रशासन के क्षेत्र में जन-जन की भाषा बनाने के प्रयत्न किए गए। अतः साहित्यिक हिंदी तथा बोलचाल की हिंदी को न्यायालयों, विद्यालयों, कार्यशालाओं, प्रशासनिक संस्थाओं और सरकारी पत्र-व्यवहार में अपनाए जाने के लिए नया रूप दिया जाने लगा। अतः यह प्रयास किया गया कि धीरे-धीरे सरकारी क्षेत्रों में ऐसा वातावरण बने जो हिंदी को अपने दैनिक कार्य में अपनाने के लिए सहायक हो। इसके लिए वैधानिक व्यवस्था के साथ-साथ मानवीय और भौतिक साधन जुटाने का प्रयास किया गया और राजभाषा के रूप में हिंदी को सरकारी कामकाज का माध्यम चुन लिया गया।

भारत के संविधान निर्माताओं ने हिंदी का महत्त्व समझते हुए उसे राजभाषा और संपर्क-भाषा के रूप में अंगीकार करने की व्यवस्था की। फलतः भारत के संविधान के अनुच्छेद 343 में यह व्यवस्था की गई कि देवनागरी लिपि में लिखी हुई हिंदी यहां की राजभाषा होगी। संविधान के अनुच्छेद 351 में इसके लिए जो निर्देश दिए गए हैं, वे इस प्रकार हैं :

> 'हिंदी भाषा की प्रसार-वृद्धि कर उसका विकास करना ताकि वह भारत की सामासिक संस्कृति के सब तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किए बिना हिंदुस्तानी और अष्टम अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात करते हुए तथा जहां आवश्यक या वांछनीय हो वहां उसके शब्द-भंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से तथा गौणतः

वैसी उल्लिखित भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्त्तव्य होगा।'

प्रारंभ में यह व्यवस्था थी कि अंग्रेजी का प्रयोग 1965 तक चलता रहे तथा बीच में हिंदी को विकसित रूप दे दिया जाए। भाषा के प्रश्न पर 1955 में खेर आयोग की स्थापना की गई और उस आयोग की सिफारिशों पर विचार करने के लिए 1957 में पंत समिति बनाई गई। इस आयोग तथा समिति दोनों ने जहां हिंदी का प्रयोग बढ़ाने की सिफारिश की वहीं अंग्रेजी का प्रयोग 1965 के बाद भी जारी रखने की सिफारिश की। इन सिफारिशों को कार्य-रूप देने के लिए 1963 में संसद द्वारा राजभाषा अधिनियम 1963 पास किया गया। इसके अनुसार यह व्यवस्था की गई कि संघ के जिन कार्यों के लिए 26 जनवरी, 1965 से पहले अंग्रेजी का प्रयोग किया जाता था उसके लिए उस तारीख के बाद भी हिंदी के अतिरिक्त अंग्रेजी का प्रयोग किया जा सकता है। बाद में परिस्थितियां बदलीं और 1967 में राजभाषा (संशोधन) अधिनियम 1967 पास किया गया। इस प्रकार यह व्यवस्था हुई कि 'हिंदी ही संघ की राजभाषा होगी, किंतु अंग्रेजी के इस्तेमाल की छूट तब तक बनी रहेगी, जब तक हिंदी को राजभाषा के रूप में न अपनाने वाले सभी राज्यों के विधानमंडल अंग्रेजी का प्रयोग समाप्त करने के लिए संकल्प न पारित करें और उनके संकल्पों पर विचार करने के बाद संसद के दोनों सदन भी ऐसा ही न करें।'

इस प्रकार कानून के विचार से सरकारी कागज-पत्रों, लिखा-पढ़ी और दैनिक कार्यों में हिंदी और अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं को चलाने की व्यवस्था हुई। हाल ही में भारत सरकार द्वारा हिंदी के संबंध में एक अधिसूचना जारी की गई है जिसमें प्रशासनिक कार्यों में हिंदी के व्यापक प्रयोग की व्यवस्था की गई है।

हिंदी को प्रशासनिक कार्यों में लाने के लिए सबसे पहले तकनीकी शब्दावली की आवश्यकता पड़ी। इस दिशा में केंद्रीय हिंदी निदेशालय तथा वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली आयोग ने बड़ा काम किया। उनके प्रयास से विभिन्न विषयों की शब्दावली के संकलन तैयार किए गए और प्रशासनिक क्षेत्र में प्रयोग के लिए पारिभाषिक शब्द संग्रह बनाए गए। यह उल्लेखनीय है कि संस्कृत की शब्द निर्माण सामर्थ्य की बराबरी कोई भाषा नहीं कर सकती। संस्कृत की लगभग 2000 धातुएं अनेक शब्दों के निर्माण में सहायक हैं। इसके साथ ही प्रत्यय और उपसर्ग लगाकर नए शब्दों का निर्माण किया जा सकता है। यहां तक कहा गया है कि उपसर्ग, प्रत्यय और धातुओं की सहायता और शब्दों के क्रम-परिवर्तन, संधि आदि से लगभग 85 करोड़ शब्द बनाए जा सकते हैं। परंतु देखना है कि अनेक शब्द केवल कोश की ही शोभा बनाने के लिए हैं या वे व्यवहारोपयोगी भी हैं। अतः अति-उत्साह और केवल संस्कृतनिष्ठ शब्दावली के प्रयोग का मोह छोड़ना व्यावहारिक

दृष्टि से कहीं अधिक उपयोगी है। यही कारण है कि आरंभ में संवैधानिक, विधि और प्रशासनिक क्षेत्र में शब्दावली से संबंधित समस्या को हल करने के लिए बनाए गए कुछ कोश महत्त्वपूर्ण होते हुए भी लोकप्रिय नहीं हो सके। इसका कारण यह है कि प्रशासनिक कार्य के क्षेत्र में ऐसी शब्दावली का स्वागत होता है जो व्यावहारिक रूप में सहज, स्वाभाविक और समझ में आ सकने योग्य हो। वास्तव में जिस भाषा का प्रयोग सरकारी कार्यों में किया जाता है और जो विभिन्न विभागों अथवा दैनिक सरकारी पत्र-व्यवहार के लिए अथवा एक राज्य से दूसरे राज्य के बीच पारस्परिक आदान-प्रदान के प्रयोग में आती है, उस भाषा का स्वरूप न तो पूरी तरह सामान्य बोलचाल की भाषा से मेल खा सकता है और न पूरी तरह से साहित्यिक भाषा से। अतः उसका स्वरूप कुछ अलग ही होता है और उसकी शब्दावली भी उसी के अनुरूप होना अनिवार्य है।

जहां तक हिंदी की अपनी शब्द-संपदा का प्रश्न है, हमें अनेक शब्दकोश मिलते हैं। इस बीच नए-नए शब्द इन कोशों में और भी जुड़ गए हैं। यहां तक कि हिंदी शब्दसागर के 11 भागों में लगभग 2,11,50,000 शब्द उपलब्ध हैं। प्रश्न हिंदी की संपदा का उतना नहीं है जितना भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति और समय की संपूर्ण परिस्थितियों के अनुरूप ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं से संबंधित पारिभाषिक और प्राविधिक अर्थ-रूपों को समझा सकने योग्य होने से उसकी सामर्थ्य का है। अतः हिंदी के विकास की यह नयी दिशा अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही है और भाषा को नए-नए शब्द और अर्थ मिले हैं। अब वह धीरे-धीरे न्यायालयों में, कार्यालयों में, समाचारपत्रों में, कार्यशालाओं में और जनता तथा सरकार के पारस्परिक कार्य-व्यवहार में एक नए रूप में उभरकर सामने आ रही है। इस कार्य में विभिन्न राज्यों ने शब्दावली के निर्माण का कार्य किया है और उसके द्वारा बनाए गए अनेक कोश, शब्द-संग्रह अथवा शब्द-संकलन निरंतर प्रयोग में आ रहे हैं। इनमें उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश तथा दिल्ली प्रशासन आदि सम्मिलित हैं।

जहां तक विधि शब्दावली का संबंध है विधि मंत्रालय के अधीन राजभाषा विधायी आयोग द्वारा इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया है। ऐसी शब्दावली का निर्माण हुआ है जो अनेक अधिनियमों के हिंदी रूपों में प्रयोग में लाई गई है। यह आवश्यक है कि कानून के क्षेत्र में जनता को अपनी भाषा के प्रयोग की छूट होनी चाहिए। जब तक न्यायालयों में हिंदी-भाषी क्षेत्रों में हिंदी और अन्य क्षेत्रों में वहां की क्षेत्रीय भाषा को स्थान नहीं मिलता तब तक यह समस्या उलझी ही रहेगी। यह कैसी विडंबना है कि न्यायालय में जिस समय निर्णय सुनाया जाता है उस समय अंग्रेजी न जाननेवाले अपराधी या पक्ष को यह मालूम भी नहीं हो पाता कि उसे क्या दंड किया जा रहा है अथवा उसके मामले में क्या किया गया। यहां हमें यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कानून के क्षेत्र में शब्दों का विशेष महत्त्व

है। वहां एक शब्द के लिए निर्वचन द्वारा एक ही निर्धारित अर्थ होता है। जैसे :

नियम	(रूल)	अभियोग	(चार्ज)
उपनियम	(बाइ-लाज)	अभियोजन	(प्रोसीक्यूशन)
विनियम	(रैगूलेशन)	अभियोक्ता	(प्रोसीक्यूटर)
अधिनियम	(एक्ट)	अभियुक्त	(क्रिमिनल)
नियमावली	(रूल्स एंड रेगूलेशन)	दोष	(कनविक्शन)
विधेयक	(बिल)	दोष-मुक्त	(एक्विटेड)
धारा	(सेक्शन)	सिद्ध-दोष	(कंविक्ट)
उपधारा	(सब-सेक्शन)	दोषी	(एक्यूज्ड)
खंड	(क्लौज)	वादी	(प्लैंटिफ)
उपखंड	(सब-क्लौज)	प्रतिवादी	(डिफैंडेड)

कानून की भाषा में वाक्य की यथावतता भी आवश्यक है। इस क्षेत्र में यदि हम भाषा को सरल और सुबोध बनाने के लिए प्रयास द्वारा शब्द परिवर्तन करेंगे तो अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है। अतः कानून की शब्दावली में हमें कभी-कभी कठिन शब्दों का स्वागत करना पड़ेगा जो प्रयोग द्वारा ही सरल लग सकेंगे। संस्कृत शब्दावली इस दिशा में सहायक हुई। सरलता के विचार से इस समय आज प्रचलन में आए शब्द जैसे समन, अर्जी, हलफनामा, बयान, बहस, वारंट, जिरह, वकील, अपील आदि शब्दों को प्रयोग में लाते रहने की परंपरा बनी हुई है। कानून के क्षेत्र में प्रत्येक शब्द का अपना निश्चित और स्पष्ट अर्थ होने के कारण कानूनी शब्दावली के निर्माण में कानूनी पहलू का विचार भी महत्त्वपूर्ण है। इस दिशा में हिंदीभाषी राज्य के विधि व भाषा मंत्रियों के जयपुर और भोपाल के सम्मेलनों में नीति संबंधी दिशा संकेत दिया गया है और कानूनी शब्दावली के अनेक मानक शब्दकोश तैयार किए गए हैं।

सरकारी कामकाज की शब्दावली में कुछ तो पदनाम होते हैं और कुछ पत्र-व्यवहार के लिए प्रयोग में आने वाले विशिष्ट शब्द तथा वाक्यांश होते हैं। इसके अतिरिक्त नियमों, विनियमों, अधिसूचनाओं, संहिताओं और विभिन्न विभागों से संबंधित नियमों की शब्दावली होती है। आरंभिक स्थिति में उपसर्ग और प्रत्यय लगाकर अनेक शब्द बनाए गए। उदाहरण के लिए, सचिव (सेक्रेटरी) शब्द को लें। इसके साथ आरंभ में अथवा बाद में कुछ जोड़ कर सरकारी कार्यालयों में प्रयोग में आने वाले पर्याप्त शब्द आसानी के साथ बन गए। उपसचिव, अवर सचिव, सह सचिव, संयुक्त सचिव, निजी सचिव, वैयक्तिक सचिव, महासचिव, संसदीय सचिव, मंत्री-परिषद सचिव आदि हैं। इसी भांति सचिवालय (सेक्रेटे-

रियेट), सचिवालयीय (सेक्रेटेयिल) आदि शब्द भी गिने जा सकते हैं। ऐसे शब्दों के निर्माण में संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट है।

इस पद्धति को अपनाने पर विभिन्न प्रकार की संकल्पनाओं को व्यक्त करने के लिए थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ हमारे पास एक शब्द-समूह उपलब्ध हो जाता है। जैसे प्रारूप (ड्राफ्ट) शब्द की सहायता से प्रारूपण, प्रारूपकार, प्रारूपित आदि शब्द बनाए जा सकते हैं। परंतु इसके उर्दू समानार्थी 'मसौदा' शब्द को इस प्रकार के रूपों में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। यही नियम हिंदी के पत्र, परिपत्र (सर्कुलर), प्रपत्र (फार्म), पत्रावली (फाइल), पत्राचार अथवा पत्रव्यवहार पर भी लागू होता है जो कदाचित चिट्ठी अथवा खत शब्द से पूरा नहीं हो सकता। विभिन्न प्रकार की संकल्पनाओं को अभिव्यक्त करने के सिलसिले में अधिकार शब्द को भी लिया जा सकता है, जिसको यदि अधिकृत बना दिया जाए तो अंग्रेजी के औथराइज्ड शब्द का अर्थ बन जाता है। हमें औथेर्टिक के लिए शब्द की आवश्यकता होती है तो इसी की सहायता से प्राधिकृत और औथेरिटी के लिए शब्द की आवश्यकता होती है तो प्राधिकरण शब्द बना लिया जाता है। इसी संदर्भ में आफिसर के लिए अधिकारी शब्द का प्रयोग भी अफसर के स्थान पर अधिक उपयोगी लगता है। यही बात कानून के क्षेत्र में प्रयोग की जाने वाली शब्दावली पर भी निर्भर है। उदाहरण के लिए विधि शब्द को लीजिए। इसका प्रयोग कानून के बदले किया जाता है। हम इसकी सहायता से उपविधि (बाइ-ला), विधायक (लेजिस्लेटर), विधायिका (लेजिस्लेचर), विधिक (लीगल), विधि-सम्मत (इन कंफर्मिटी विद ला), विधिवेत्ता (कानून का जानकार), विधिविशेषज्ञ इन ला) आदि शब्द बना सकते हैं। यह स्पष्ट है कि केवल कानून शब्द से हम इतने अधिक शब्द नहीं बना सकेंगे। इसी प्रकार विधान, वैधानिक, संविधान, वैधानिकता और संवैधानिक आदि शब्दों का उदाहरण दिया जा सकता है।

प्रशासनिक क्षेत्र में कुछ शब्द ऐसे भी प्रयोग में आते हैं जिनका अर्थ सामान्य तथा एक-सा लगता है और साधारण बोलचाल में ऐसे शब्दों के लिए हम एक ही शब्द से काम चला सकते हैं। परंतु जब कार्यालय की औपचारिकता का ध्यान रखते हुए यदि सरकारी प्रयोजनों के लिए उन शब्दों का प्रयोग किया जाए तो यह आवश्यक हो जाता है कि उनके लिए अलग-अलग शब्द प्रयोग में लाएं। उदाहरण के लिए, आदेश, निवेश, अनुदेश, अध्यादेश तथा समादेश शब्दों को लिया जा सकता है जो क्रमशः अंग्रेजी के आर्डर, डायरक्शन, इंस्ट्रक्शन, ऑर्डिनेंस और कमांड के लिए प्रयोग में आते हैं। इसी तरह यदि हम कार्यालयीय बातचीत में कहें कि आप क्या रिमार्क देंगे या आपके कमेंट्रस क्या हैं अथवा आपका ओब्जरवेशन क्या है या आपकी ओपिनियन क्या है अथवा आपके व्यूज क्या हैं तो ऐसा लगता है कि हम किसी विषय पर किसी के विचार जानना चाहते हैं और साधारणतया आपकी क्या राय है कहने से काम चल सकता है। परंतु व्यावहारिक प्रयोग में जहां कभी-कभी

ये शब्द साथ-साथ प्रयोग में आ जाएं वहां कठिनाई आती है और नए-नए शब्दों की आवश्कता होती है। परिणामस्वरूप रिमार्क के लिए टिप्पणी, कमेंट्स के लिए राय, ओब्जरवेशन के लिए मंतव्य, ओपिनियन के लिए मन और व्यू के लिए विचार शब्द का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है, जबकि सामान्य बोलचाल में हम इन सब के लिए सलाह शब्द से भी काम चला सकते हैं।

प्रशासन के क्षेत्र में हिंदी को बढ़ावा देने के लिए यह आवश्यक है कि भाषा सरल और समझ में आ सकने योग्य हो। इसके लिए प्रचलित प्रयोगों का भी अपना अलग महत्त्व है। इसीलिए प्रशासनिक भाषा में शब्द-चयन में बड़ी सर्तकता आवश्यक है, जिससे मूल सामग्री का अर्थ परिवर्तित न हो। शब्दावली के क्षेत्र में एक बात यह भी है कि किसी विशेष क्षेत्र में कार्य करने वालों को उस क्षेत्र-विशेष की शब्दावली की ही अधिक आवश्यकता पड़ती है। जैसे शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग में आने वाली शब्दावली की चिकित्सा के क्षेत्र में या न्यायालयों में काम करने वाले कर्मचारियों को उतना प्रयोग नहीं करना पड़ता है। इसके लिए उन्हें अपने दैनिक कार्य से संबंधित बुनियादी शब्दावली के ज्ञानार्जन की ही अधिक आवश्यकता रहती है।

हिंदी में मशीन, डायरी, बस, कार, मोटर, बैंक, चैक, बैंक-ड्राफ्ट, मनीआर्डर, रेडियो, सिनेमा, गैस, कार्ड, मैनेजर, कमीशन, बिल, आदि शब्द बहुत ही लोकप्रिय रूप में चल रहे हैं। इसी तरह सलाहकार बोर्ड, जिला-बोर्ड, जांच कमेटी, वार्ड-अधिकारी, जनाना वार्ड, सेमिनार-कक्ष जैसे शब्द सामान्य बोलचाल के अतिरिक्त प्रशासनिक कार्यों में भी पूरी तरह से अपना लिए गए हैं। यहां तक कि 'कल' के बदले 'मशीन' और 'सुई लगाना के बदले 'इंजेक्शन' लगाना अधिक आसान प्रतीत होने लगा है। इतना ही नहीं अंग्रेजी के एटम शब्द से एटमी, मैनेजर से मैनेजरी, इंजीनियरिंग से इंजीनियरी और डॉक्टर से डॉक्टरी आदि शब्द हिंदी की प्रकृति के अनुकूल ढाल लिए गए हैं। इसीलिए अभियांत्रिकी या चिकित्सकीय जैसे प्रयोग अधिक लोकप्रिय नहीं रहे हैं।

सरकारी कामकाज कई वर्षों से अंग्रेजी में किया जा रहा है। अतः माध्यम परिवर्तन के लिए अनुवाद का सहारा लेना पड़ता है। यह कहा गया है कि अनुवाद यदि सुंदर है तो वह ईमानदार नहीं हो सकता और ईमानदार है तो सुंदर नहीं हो सकता। इस सुंदरता का आशय उस भाषा के लालित्य तथा उसकी प्रकृति के अनुकूल होने से है जिस भाषा में अनुवाद किया गया है। इसके लिए प्रारूप तथा पत्र की रूपरेखा मूल से हिंदी में अथवा संबंधित क्षेत्रीय भाषा में तैयार करना अधिक उचित होगा।

टिकट, स्टेशन, प्लेटफार्म जैसे शब्दों के लिए यात्रा-पत्र, गाड़ी-विश्राम-स्थल, यात्री विश्राम-स्थल जैसे शब्दों का प्रयोग उचित नहीं है। कभी-कभी शब्द गढ़ने का मोह हमें मक्षिकास्थाने मक्षिका की स्थिति में ला देता है। इससे अनुवाद में अस्वाभाविकता आ जाती

है और वह अशुद्ध भी हो जाता है। जैसे 'वैल इक्विप्ड होस्पीटल' का हिंदी अनुवाद भूल से 'कुओं से सज्जित अस्पताल' किया जा सकता है, जो अशुद्ध है। अंग्रेजी में प्रचलित परिपाटी के अनुसार 'द अंडर साइंड इज डाइरेक्टिड टु से' का हिंदी अनुवाद 'निम्नहस्ताक्षरकर्ता या अधोहस्ताक्षरी को यह कहने का निदेश हुआ है' किया जाता है। यह हिंदी की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। इसी तरह 'कोल्ड ब्लड मर्डर' के लिए 'नृशंस-हत्या' न लिखकर 'शीतरुधिर हत्या' लिखना तथा 'रेफ्रीजरेटर वाटर' के लिए सरल व स्वाभाविक रूप में 'मशीन का ठंडा पानी' न लिखकर 'प्रशीतनकृत जल' लिखना कहां तक ठीक होगा, इसका स्वयं ही अनुमान लगाया जा सकता है। परंतु प्रचलन में इस तरह के कुछ विशेष शब्द हिंदी की प्रकृति के अनुकूल भी जान पड़ते हैं और उनका प्रयोग विशुद्ध रूप से शब्द के स्थान पर शब्द का अनुवाद होते हुए भी अटपटा नहीं लगता। जैसे, लालफीताशाही (रेडटेपिज्म) श्वेत-पत्र (ह्वाइट पेपर), रजत जयंती (सिलवर जुबली), ललित कला (फाइन आर्ट), शीर्षक (हैडिंग) आदि। अंग्रेजी के 'इंटर' शब्द के लिए हिंदी ने संस्कृत 'अंतर' शब्द अपना लिया है और इसके साथ अन्य शब्द जोड़कर हिंदी के अनेक शब्द बना दिए गए हैं, जो बराबर प्रयोग में आ रहे हैं। जैसे अंतर-विद्यालयीय, अंतर-राज्यीय, अंतर्राष्ट्रीय, अंतर्देशीय, अंतर-प्रांतीय, अंतर-विभागीय आदि। इसी प्रकार रिंग सर्विस के लिए मुद्रिका सेवा अथवा तीव्र मुद्रिका जैसे कठिन लगने वाले शब्द लोकप्रियता प्राप्त कर चुके हैं। इसी प्रकार मेघ-संदेश तथा आर्य-भट्ट जैसे प्रयोग भी उल्लेखनीय हैं।

आज हमें हिंदी को ऐसा स्वरूप प्रदान करना है जो हमारे देश की आशाओं और आंकाक्षाओं के अनुकूल तो हो ही अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में भी सुविधाजनक हो। इसके लिए हमें उदार दृष्टिकोण अपनाना होगा। संस्कृत का अपना महत्त्व रहा है, और है। हिंदी के विकास में उसके योगदान की बात भी महत्त्वपूर्ण है। परंतु बदलती हुई परिस्थितियों और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में असीम विकास की संभावनाओं को देखते हुए हमें हिंदी को एक ऐसी भाषा के रूप में विकसित करना है जो आज के युग में अभिव्यक्ति का सक्षम माध्यम हो। अतः केवल संस्कृतनिष्ठ भाषा की बात पर बल न देते हुए आज हमें भारत की सभी भाषाओं के लिए और विशेष कर प्रशासनिक क्षेत्र में राजभाषा तथा निजी क्षेत्र में संपर्क भाषा के रूप में हिंदी के पोषण के लिए, अपना कर्तव्य समझना चाहिए। हिंदी इस देश की भाषा है। इसका संबंध इस धरती, इस मिट्टी और यहां के जनमानस से है परंतु सभी क्षेत्रीय भाषाएं, यहां की सभ्यता व संस्कृति की पोषक हैं। क्षेत्रीय भाषाओं का विकास, प्रचार, प्रसार संपर्क भाषा हिंदी के लिए संजीवनी शक्ति है। यदि सभी भारतीय भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि अपना ली जाए, तो भाषायी एकता को बल मिलेगा और अंग्रेजी तो केवल सुविधा की भाषा कही जा सकती है। अतः इस देश में प्रत्येक नागरिक, कर्मचारी तथा अधिकारी का यह राष्ट्रीय कर्त्तव्य है कि वह अपने दैनिक कार्य-व्यवहार में इस देश

की राजभाषा हिंदी को संपर्क भाषा के रूप में प्रोत्साहित करे तथा संस्कृत के परिष्कृत, सारगर्भित एवं सहज शब्दों से इस भाषा को वह रूप दे जिससे भारतवर्ष के सभी प्रांतों में सहजगम्य सूत्र भाषा का विकास हो सके।

इस भाषायी एकता को और अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए यह भी आवश्यक है कि भाषा की क्षेत्रीय एवं आंचलिक भाषाओं के शब्दों को भी राजभाषा की तकनीकी शब्दावली में यथोचित स्थान दिया जाए। देश की विभिन्न प्रांतों की राज्य सरकारें तत्तद्देशीय शब्दों को प्रशासनिक दृष्टि से लोकप्रिय बनाने में विशेष सहायक हो सकती हैं। नागपुर और मॉरिशस में आयोजित क्रमशः प्रथम और द्वितीय विश्व हिंदी सम्मेलन में इस बात पर बल दिया गया है कि हिंदी को अंतर्राष्ट्रीय मंच पर प्रतिष्ठित किया जाए, जिससे इसको विश्व भाषा का स्वरूप प्राप्त हो सके। इस लक्ष्य तक पहुंचने के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम भारत के प्रत्येक राज्य में वहां की क्षेत्रीय भाषा को राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करें और राष्ट्रीय स्तर पर संपर्क भाषा के रूप में हिंदी को उसका अपेक्षित स्थान दिलाएं। आशा है पांचवें विश्व हिंदी सम्मेलन से इस दिशा में और अधिक सफलता मिलेगी। □

हिंदी से किसी भी भारतीय भाषा को भय नहीं है। यह सबकी सहोदर है।

—महादेवी वर्मा

ब्रिटेन में अहिंसम् भारतीय

डॉ. सुरेंद्र अरोड़ा

भारतीय उच्चायुक्त डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी द्वारा ब्रिटेन में अहिंसम् भारतीय की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रयास है। डॉ. सिंघवी के प्रयासों से ब्रिटेन में हिंदी प्रतिष्ठित हुई है। ब्रिटेन में हिंदी की इन्हीं गतिविधियों का परिचय दे रहे हैं, इन सबसे गहरे जुड़े हुए सुरेंद्र अरोड़ा।

कुछ महीने पहले की ही तो बात है कि ब्रिटेन में भारत के उच्चायुक्त डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के मुख्य संरक्षण में लंदन और मेनचेस्टर में दो विराट कवि-सम्मेलन एवं हिंदी सम्मेलन आयोजित किए गए थे। इन साहित्यिक आयोजनों के प्रेरणा स्रोत डॉ. सिंघवी उच्चायुक्त ही नहीं प्रख्यात विधिवेत्ता, संविधानशास्त्री, मानवाधिकारों के प्रखर वक्ता, भारतीय संस्कृति के उन्नायक, भाषाविद्, वरिष्ठ साहित्यकार एवं कवि भी हैं। डॉ. सिंघवी ने ही ब्रिटेन की धरती पर वर्ष 1993 में पहली बार प्रथम अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन का आयोजन करवाया जिसमें भारत के हिंदी विद्वानों के अतिरिक्त जर्मनी, हंगरी, नार्वे और ब्रिटेन के हिंदी विद्वानों ने भाग लिया। 1993 में आयोजित इस प्रथम अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन को एक सामाजिक घटना की संज्ञा देते हुए डॉ. सिंघवी ने सर्वप्रथम एक संस्था अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन एवं भारतीय भाषा परिषद् की स्थापना की घोषणा की, और इसे संक्षिप्त नाम दिया 'अहिंसम् भारतीय', जो ब्रिटेन के प्रत्येक भारतवंशी का अब जाना-पहचाना नाम बन गया है। 'अहिंसम् भारतीय' की स्थापना के पीछे डॉ. सिंघवी की वह संकल्पना थी, जो उन्होंने लगभग तीन दशक पूर्व उस समय की थी, जब वह लोक सभा के सदस्य थे। डॉ. सिंघवी

ने जब भारतीय उच्चायोग, लंदन में पदभार ग्रहण किया था, तब उनकी परिकल्पना को साकार करने का प्रयास करते हुए वर्ष 1993 में मेनचेस्टर में प्रथम 'अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन' का आयोजन किया गया जिसमें विदेशों और भारत के हिंदी विद्वानों के अतिरिक्त ब्रिटेन के भारतवंशी समाज के सदस्यों ने भी भारी संख्या में भाग लिया था। डॉ. सिंघवी द्वारा यूरोप में हिंदी तथा भारतीय साहित्य, संस्कृति, दर्शन, विचार जीवन के संप्रेषण के लिए एक केंद्र के रूप में मेन्चेस्टर में 'अहिंसम् भारतीय' की स्थापना से ब्रिटेन के भारतवंशियों में एक सांस्कृतिक चेतना जाग्रत हुई और ब्रिटेन में हिंदी एवं भारतीय भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन तथा प्रचार-प्रसार की दिशा में अनेक परियाजनाएं बनाई गई। यों तो डॉ. सिंघवी द्वारा प्रकल्पित प्रथम अंतर्राष्ट्रीय हिंदी-सम्मेलन के आयोजन के सूत्रधार थे मेन्चेस्टर इंडियन एसोसिएशन के श्री राम पाण्डे, किंतु उनके अचानक अस्वस्थ हो जाने के कारण यह दायित्व संभाला ब्रिटेन के प्रख्यात न्यूरो सर्जन डॉ. रणजीत सिंह सुमरा ने और संभवतः ब्रिटेन में भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों के इतिहास में पहली बार कोई कार्यक्रम संपूर्ण रूप से हिंदी भाषा में ही संचालित-संपादित किया गया। ब्रिटेन में लगभग तीन दशकों से रह रहे सरदार रणजीत सिंह सुमरा को हिंदी में कार्रवाई संचालित करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। ब्रिटेन में भारत के उच्चायुक्त डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी ने 'अहिंसम् भारतीय' की स्थापना को गोमुख की संज्ञा दी और कहा कि यह आगे जाकर एक बड़ी नदी बनेगा, जिससे हमें सांस्कृतिक जल मिलेगा। इसके बाद तो वस्तुतः भारतीय संस्कृति की कल-कल करती हुई नदी बह निकली। 'अहिंसम् भारतीय' की स्थापना के बाद और विगत वर्षों में हर वर्ष ईद, बैसाखी, होली, दीवाली एवं दशहरा जैसे धार्मिक उत्सवों की भांति ही साहित्यिक, सांस्कृतिक आयोजन भी किए जा रहे हैं।

डॉ. सिंघवी ने अलग-अलग संस्कृतियों के नगर मेन्चेस्टर को बांध दिया एक भाषा, हिंदी से। प्लेटो के कथनानुसार शासन तो दार्शनिक करेगा, किंतु सभ्यता आगे बढ़ेगी तो संस्कृति के माध्यम से ही। प्लेटो का यह कथन ब्रिटेन की धरती पर कितना सच होता दिखाई दे रहा है इन वार्षिक साहित्यिक आयोजनों से।

ब्रिटेन में भारतीय उच्चायुक्त डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी एवं ब्रिटेन में भारतवंशी समाज की प्रथम महिला तथा हिंदी की प्रतिष्ठित लेखिका कवयित्री श्रीमती कमला सिंघवी ने इस साहित्यिक-सांस्कृतिक नवोन्मेष की शुरुआत वर्ष 1992 में भारत के राजनेता, सांसद एवं कवि-मनीषी श्री अटल बिहारी वाजपेयी के एकल काव्य-पाठ के आयोजन से हुई। सामान्यतः भारत से आए विशिष्ट अतिथियों-राजनेताओं के सम्मान में प्रीतिभोज का आयोजन किया ही जाता है, किंतु भारत के राजदूत डॉ. सिंघवी एवं श्रीमती कमला सिंघवी ने श्री अटल बिहारी वाजपेयी के सम्मान में राजदूत निवास में प्रीति-भोज के साथ-साथ अटल जी के काव्य पाठ का आयोजन किया, जिसमें विशिष्ट अतिथियों में स्वर साम्राज्ञी लता मंगेशकर

भी उपस्थित थीं। अटल जी इतना अभिभूत हुए इस गोष्ठी से कि उन्होंने दिल्ली लौटकर डॉ. सिंघवी को लिखा कि वे विदेश मंत्री के रूप में पहले भी लंदन आए, अन्य रूपों में भी, किंतु सांस्कृतिक उन्नयन का ऐसा अपूर्व आयोजन, ऐसा साहित्यिक सम्मान लंदन में राजदूत के सरकारी निवास पर उन्हें इससे पूर्व कभी नहीं मिला।

डॉ. सिंघवी ने इस अविस्मरणीय आयोजन के बाद 'अहिंसम् भारतीय' के माध्यम से हर वर्ष साहित्यिक-सांस्कृतिक आयोजनों का दौर शुरू हो गया। इसी क्रम से वर्ष 1994 में कालजयी कृतित्व के धनी डॉ. हरिवंशराय बच्चन को समर्पित एक विराट कवि-सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें डा. सिंघवी के विशेष निमंत्रण पर हिंदी के प्रख्यात कवि श्री रमानाथ अवस्थी, श्री गोपालदास 'नीरज', डॉ. कन्हैयालाल नंदन, डॉ. गंगाप्रसाद विमल के अतिरिक्त श्री अमिताभ बच्चन ने भी भाग लिया। इस आयोजन में भारत से पधारे ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता लेखक-कवि श्री सी. नारायण रेड्डी, डॉ. वीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य को भी सम्मानित किया गया। भारतीय ज्ञानपीठ के निदेशक एवं प्रख्यात साहित्यकार डा. पण्डुरंग राव ने डॉ. सिंघवी के प्रति इस विराट आयोजन के लिए आभार प्रगट करते हुए इसे एक सांस्कृतिक 'महापर्व' की संज्ञा दी। प्रख्यात कवि डा. बच्चन जी को समर्पित इस साहित्यिक 'महापर्व' में श्री अमिताभ बच्चन ने अपने पिता श्री बच्चन जी की कविताओं का पाठ कर उपस्थित विशाल जन समुदाय को मंत्रमुग्ध कर दिया।

इसी अनुक्रम में वर्ष 1995 में हिंदी सम्मेलन एवं काव्य संध्याओं का आयोजन किया गया, जिनमें हिंदी के कालजयी कवि-मनीषी डा. शिवमंगल सिंह सुमन, वेदों को हिंदी कविता के माध्यम से प्रस्तुत करने वाले श्री बशीर अहमद मयूख, लोकप्रिय कवि-मनीषी श्री बेकल उत्साही, श्री गंगाप्रसाद विमल, श्री कन्हैयालाल नंदन, कादम्बिनी संपादक एवं प्रख्यात लेखक श्री राजेंद्र अवस्थी ने अपनी रचनाओं के प्रस्तुतीकरण से ब्रिटेन के भारतवंशी समाज को इतना भाव-विभोर कर दिया कि कुछ महीने पूर्व हुए इन साहित्यिक समारोहों में से एक समारोह से बाहर निकलते हुए भीड़ में से मेरे कानों में पड़े ये वाक्य आज भी गूंज रहे हैं, 'ऐसा हाई कमिश्नर तो पहले कभी नहीं आया। डॉ. सिंघवी ने तो ब्रिटेन में हिंदी की क्रांति ला दी है। डॉ. सिंघवी ऐसे पहले राजदूत हैं, जिन्होंने ब्रिटेन के भारतीयों में अपनी भाषा, अपनी संस्कृति अपनी अस्मिता की पहचान के प्रति ऐसी जागृति की लहर पैदा की है कि पहले हम 'इंडियंस्' लोग सिर्फ एशियन से ही जाने जाते थे अब हम 'भारतवंशीं के नाम से जाने जाते हैं। डॉ. सिंघवी ने हमें यह नाम दिया है—यह संज्ञा दी है। हमें गर्व है अपनी भाषा हिंदी पर। हमें गर्व है अपनी संस्कृति पर।' □

देवनागरी

देवीशंकर द्विवेदी

देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता एवं सर्वव्यापकता से हम परिचित हैं। उसके विभिन्न पक्षों का विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं प्रसिद्ध भाषाविद् एवं आलोचक देवीशंकर द्विवेदी।

किसी समाज में किसी विशेष भाषा को अपनाने के परिणाम वे नहीं होते जो विशेष लिपि को अपनाने के होते हैं। भाषा और लिपि अलग-अलग वस्तुएं हैं। भाषा केवल मौखिक परंपरा से भी चलती रह सकती है, उसके लिए लिपि अपनाने तक ही आवश्यकता नहीं है। दूसरी ओर, लिपि किसी विशेष भाषा से ही बंधी मानी जाए, यह आवश्यक नहीं है। एक ही लिपि का अनेक भिन्न-भिन्न भाषाओं के लिए उपयोग संभव है। यह अनिवार्य नहीं है कि हिंदी भाषा देवनागरी लिपि में ही सीखी जाए, यह किसी अन्य लिपि में भी सीखी जा सकती है और बिना लिपि के भी सीखी जा सकती है। देवनागरी का प्रयोग केवल हिंदी के लिए नहीं किया जाता, मराठी में भी किया जाता है। अन्य भाषाओं के लिए भी देवनागरी का प्रयोग किया जा सकता है। गुजराती, उड़िया आदि की लिपियां देवनागरी का ही कुछ परिवर्तित रूप हैं। वास्तव में सारी भारतीय आर्य भाषाएं देवनागरी में सहज ही लिखी जा सकती हैं। देवनागरी के अक्षरों में कुछ सामान्य परिवर्तन-परिवर्द्धन के द्वारा संसार की भाषाओं को अलग-अलग प्रयोग के लिए सहज ही लिपि प्रदान की जा सकती है। इसी परिवर्तन-परिवर्द्धन का एक आयाम यह भी होगा कि वर्तमान अक्षरों को भिन्न-भिन्न भाषाओं में मिलती-जुलती लेकिन भिन्न-भिन्न ध्वनियों के लिए काम में लाया जा सकता है।

देवनागरी को प्रायः संसार की अन्यतम वैज्ञानिक लिपि, एकमात्र वैज्ञानिक लिपि या

पूर्णतः वैज्ञानिक लिपि कहा जाता है। इस कथन की परीक्षा करनी हो तो हमारे लिए यह जानना आवश्यक होगा कि 'लिपि' से हमारा क्या अभिप्राय है, 'वैज्ञानिक' लिपि क्या होती है और संसार की 'सारी लिपियों में वैज्ञानिकता के कौन-कौन से लक्षण किस-किस मात्रा में हैं।' वस्तुतः हम इस कथन की परीक्षा इस प्रकार करते नहीं हैं।

लिपि क्या है? क्या वह कुछ अक्षरों (अर्थात् आकृतियों) का पुंज मात्र है या उसमें उन अक्षरों का भाषागत मूल्य अर्थात् उच्चारण या (चित्र लिपि में) अर्थ भी सम्मिलित है? उदाहरण लेकर कहें तो यदि हम 'कर्म' लिखें और उसे वैध रूप से लिंक पढ़ें तो क्या इसे देवनागरी लिपि कहा जाएगा? मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि भिन्न-भिन्न लोग इस प्रश्न का क्या उत्तर देंगे। पता नहीं किसी ने यह प्रश्न कभी इस आत्यन्तिक रूप में अपने समक्ष रखा भी है या नहीं। मुझे लगता है कि अधिकतर लोग इसे देवनागरी ही कहेंगे यद्यपि साथ में शायद यह भी जोड़ देंगे कि इसमें अक्षरों का ध्वनिगत मूल्य बदल गया है या बदल दिया गया है। प्रचलित उदाहरणों की परीक्षा करके देखें। अंग्रेजी का 'हैम' शब्द रोमन में लिखा हो तो रूसी-भाषी उसे 'नात' पढेंगे। रूसी का नाम 'नताशा' रूसी लिपि में लिखा हो तो अंग्रेजी भाषाभाषी उसे 'हमावा' पढ़ेंगे (इस उदाहरण में 'डब्ल्यू के अंत में ऊपर घुंडी नहीं होगी, रेखा उतरकर नीचे आएगी, लेकिन इस भेद पर शायद अंग्रेजी-समाज का ध्यान तक नहीं जाएगा), अर्थात दोनों भाषाओं में प्रचलित लिपि में इन अक्षरों में परस्पर आकृति साम्य है लेकिन इन अक्षरों से संबद्ध ध्वनियां दोनों भाषाओं में भिन्न-भिन्न हैं। अंग्रेजी की लिपि रोमन है, रूसी की लिपि का नाम सिरिलिक है। दूसरी ओर अंग्रेजी और फ्रांसीसी का उदाहरण लें तो एक ही प्रकार से लिखा हुआ शब्द अंग्रेजी में 'ट्रेन' पढ़ा जाता है, फ्रांसीसी में 'त्रें' पढ़ा जाता है। यहां भी दोनों भाषाओं में प्रचलित लिपि के अक्षरों में आकृति साम्य है लेकिन ध्वनि-साम्य नहीं है। नामकरण की स्थिति यहां भिन्न है : अंग्रेजी और फ्रांसीसी इन दोनों ही भाषाओं की लिपि का नाम रोमन है। मराठी और हिंदी में 'रेफ' की आकृति में भेद होता है, कुछ अक्षरों के ध्वनिगत मूल्य में भी कुछ स्थलों पर भेद मिलता है, लेकिन दोनों की लिपि का नाम देवनागरी है। अंग्रेजी-फ्रांसीसी और मराठी-हिंदी में लिपि के नामकरण की जो प्रवृत्ति मिलती है, उससे अंग्रेजी-रूसी की प्रवृत्ति भिन्न है। एक अंतर यह भी है कि समान आकृति वाले अक्षरों के ध्वनिगत मूल्य में परस्पर जितना अंतर अंग्रेजी और रूसी के बीच है, अन्य उदाहृत भाषाओं में उतना अधिक अंतर नहीं मिलता। दूसरे अंग्रेजी और रूसी की लिपियों में भिन्न आकृति वाले अक्षरों की संख्या अत्यल्प है। लेकिन इन दोनों लिपियों के नामकरण का भेद इन दोनों कारणों से है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। रूसी भाषा के लिए रोमन को अनुकूलित करने वाले व्यक्ति सिरिल के नाम पर उसका नामकरण कर दिया गया, यह संयोग की बात है। उतने ही यादृच्छिक रूप से उसे रोमन ही कहते रहा जा सकता था। अंतर करना होता तो

उसे 'रूसी रोमन' कहा जा सकता था।

इसका अर्थ यह हुआ कि हमें संबोधों को समझ लेना चाहिए, प्रचलित नामकरण से इस प्रक्रिया में कोई सहायता नहीं लेनी चाहिए। उपर्युक्त चर्चा के परिप्रेक्ष्य में हम अपने उपयोग के लिए निम्नलिखित शब्दावली निर्धारित कर सकते हैं।

1. **आक्षरिकी या ककहरा :** अक्षरों (लेटर्स) तथा चिह्नों (डायक्रिटिक्स) की तालिका
2. **लिपि :** अक्षरों तथा चिह्नों के संयोजन की प्रणाली
3. **लिप्युक्ति :** लिपि का भाषायी इकाइयों (उच्चारण या अर्थ आदि) से संवाद। ध्यान रहे कि साधारणतः इस अर्थ में भी 'लिपि' शब्द का प्रयोग प्रचलित है।
4. **वर्तनी :** शब्दों, वाक्यों आदि के लिए अपनाई जाने वाली लिप्युक्ति।

चूंकि देवनागरी मूलतः संस्कृत के संदर्भ में थी, इसलिए हम उसके पुराने रूप की ही चर्चा करेंगे क्योंकि उसकी वैज्ञानिकता-अवैज्ञानिकता का उचित-विवेचन उसके मूल संदर्भ में ही किया जा सकता है। उपयुक्त बात तो यह होगी कि तथाकथित सुधारों के बाद प्राप्त होने वाली उसकी विविध अवस्थाओं का द्योतक भिन्न-भिन्न नामों से नहीं तो देवनागरी-1, देवनागरी-2, आदि शीर्षकों से कराया जाए।

देवनागरी अक्षरों की तालिका को वर्णमाला कहा गया है क्योंकि संस्कृत के लिए अपनाई गई इस लिप्युक्ति का प्रत्येक अक्षर वस्तुतः एक वर्ण (सिलेबिल) होता है। स्वर तो वार्णिक होते ही हैं, प्रत्येक व्यंजनाक्षर में देवनागरी शुद्ध रूप से (केवल) एक वर्णमूलक लिपि है। 'केवल' वर्णमूलक लिपि में प्रत्येक वर्ण के लिए एक स्वतंत्र अक्षर अपेक्षित होगा, वर्णों के घटकों का साम्य खोजकर किसी एक अक्षरांश, अक्षर का चिह्न का प्रयोग उसके घटकों के लिए नहीं किया जाएगा। उदाहरणार्थ, 'क' तथा 'का' दो भिन्न-भिन्न वर्ण हैं, इसके लिए ◯ तथा □ सरीखे चिह्नों के निर्धारण करना 'शुद्ध वर्णमूलकता' होगी क्योंकि इनमें समान रूप से विद्यमान 'क' स्वनिम के लिए कोई एक अक्षरांश प्रयुक्त नहीं हुआ है। ऐसी वर्णमूलक लिपि में अक्षरों की संख्या बहुत अधिक हो जाएगी।

देवनागरी 'प्रधानतः' एक वर्णमूलक लिपि है क्योंकि उसमें आधार वर्ण को बनाया गया है यद्यपि उसके घटक स्वनिमों के साम्य-वैषम्य का भी लाभ उठाया गया है। इस साम्य-वैषम्य की उपेक्षा करना एक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक तथ्य की उपेक्षा करना होगा। स्वनिम की सत्ता स्वीकार करके अर्थ-भेदकता के स्तर पर लघुतम व्यावहारिक इकाई को पहचाना गया है। यह एक वैज्ञानिक सत्य की उपलब्धि रही है और लिपि-निर्माण में उसकी वांछित उपादेयता भी रही है। दूसरी ओर, भाषा की स्वतः उच्चारण योग्य लघुतम इकाई 'वर्ण' होती है, इसलिए लिपि क़ो वर्णमूलक आधार देना भी एक वैज्ञानिक सत्य को अंगीकार करना रहा है। इस दृष्टि से हम देवनागरी की आक्षरिकी को 'स्वनिमात्मक वर्णमाला' (फोनोमिक

सिलेबरी) कह सकते हैं। तीसरी उल्लेखनीय बात है देवनागरी के व्यंजनाक्षरों में अनिवार्य रूप से निहित मानने के लिए 'अ' गाना है। प्राचीन भारतीय विचारकों ने 'अ' को मूल स्वर माना है। आधुनिक स्वनज्ञ इसमें इ, उ, आदि की अपेक्षा कोई अन्य 'मूलता' नहीं खोज पाते रहे हैं। एक्स-रे फिल्मों से यह रहस्योद्घाटन हुआ है कि उच्चारण के पूर्व वक्ता की जिह्वा जिस स्थिति में पहुंच जाती है, वह 'अ' अक्षर की स्थिति है। इस प्रकार वाक् के प्रारंभ की अनिवार्य मूल स्थिति से उत्पन्न होने वाले स्वर को 'मूल' स्वर मानना भी वैज्ञानिक और स्वनिक तथ्य है तथा व्यंजनाक्षरों में निहित मानने के लिए उसका चयन भी स्वाभाविक है और वैज्ञानिक है। देवनागरी की वैज्ञानिकता-अवैज्ञानिकता का विवेचन करने के पूर्व हमें उस लिपि का वैज्ञानिक धरातल ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए।

जो लोग कहते हैं कि 'आ' को कहीं 'आ' तो कहीं 'T' लिखना अवैज्ञानिक है, वे देवनागरी की वैज्ञानिकता का स्वरूप नहीं समझ पाए हैं और जाने-अनजाने रोमन लिपि के सिद्धांत से प्रभावित हो गए हैं। देवनागरी के अतिरिक्त और कोई लिपि ऐसी नहीं है (उससे संबंद्ध लिपियों को छोड़कर) जो स्वनिमों के निर्देश के साथ-साथ वर्णों की संख्या और उनकी सीमाओं का भी निर्देश करती चले। 'आ' के प्रयोग से हमें ज्ञात हो जाता है कि इस वर्ण-न्यष्टि पर कोई पूर्ववर्ती व्यंजन या व्यंजनानुक्रम आश्रित नहीं है, 'T' के प्रयोग से हमें यह सूचना मिल जाती है कि इस वर्णन्यष्टि पर कोई पूर्ववर्ता व्यंजन या व्यंजनानुक्रम आश्रित है। संस्कृत में व्यंजनान्त वर्ण विरल है, इसलिए उनके निर्देश के हेतु 'अ' युक्त अंतिम व्यंजनाक्षर में 'अ' के लोप के लिए हलन्त-चिह्न लगाने से कोई झंझट नहीं बढ़ता और हलन्त-चिह्न से यह व्यक्त हो जाता है कि वह व्यंजन अपने पूर्ववर्ती वार्णिक पर आश्रित है। यह कहना भी नासमझी है कि देवनागरी में मात्राओं का दाएं-बाएं-ऊपर-नीचे लगना 'अवैज्ञानिक' है। 'वैज्ञानिकता' और 'एकरूपता' समानार्थी शब्द नहीं हैं। एक द्रव के जो लक्षण होते हैं, उससे मिलते-जुलते सारे द्रवों के वही लक्षण नहीं होते। एक मात्रा जिस स्थान पर लगती है, दूसरी मात्रा का भी उसी स्थान पर लगना आवश्यक नहीं है। संयुक्त व्यंजनों में तथा मात्राएं व अन्य चिह्न लगाने में मुख्य ध्येय होता है, वर्ण का सीमांकन। साथ-साथ इस बात का निर्देश कर दिया जाता है कि वर्ण-न्यष्टि कौन-सा स्वर है। इस निर्देश के लिए मात्रा कहां लगाई जाए, यह बात गौण है। जो लोग कहते हैं कि व्यंजनानुगामी स्वरों का निर्देश करने वाली मात्राएं अनिवार्यतः व्यंजनाक्षरों के बाद सीधी-रेखा में लिखी जानी चाहिए, वे स्वनिमात्मक विचारों से प्रभावित होते हैं। 'वर्ण मूलकता' के कारण मात्राओं का स्थान उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता।

ऊपर कहा गया है कि देवनागरी लिपि की कुछ वैज्ञानिकता उसके स्वनिक 'यथार्थ' की है। मूल स्वर 'अ' की चर्चा में इसका उदाहरण विद्यमान है। मात्राओं का निर्देश यदि स्वनिक यथार्थ की भी रक्षा करे और अनुक्रम पर ध्यान रखते हुए एक सीधी रेखा में प्राप्ति

हो तो यह बात वैज्ञानिक होगी। लेकिन सीधी रेखा में अनुक्रमिक रूप से इनका प्राप्त न होना लिपि के वर्णमूलक आधार के कारण 'अवैज्ञानिक' नहीं होने पाता, वैज्ञानिकता के धरातल की संख्या अवश्य ही एक रह जाती है। वैज्ञानिकता का यही धरातल उसका मूल धरातल है। यह अवश्य है कि मात्राओं के भिन्न-भिन्न स्थानों पर उनके होने का वैसा कोई वैज्ञानिक उद्देश्य नहीं है जैसा 'आ' और 'T' की आकृति भिन्नता का।

मात्राओं के संदर्भ में एक और बात भी उल्लेखनीय है। वर्ण में सर्वाधिक शक्तिशाली तत्त्व होता है उसकी न्यष्टि। वर्ण-न्यष्टि के लिए मात्रा का प्रयोग होने पर उसका स्थान गौण-सा हो जाता है। एक तो उसकी आकृति अपेक्षाकृत महत्त्वहीन दिखती है, दूसरे, व्यंजनाक्षर के इर्द-गिर्द उसे अपना कोई ठौर ढूंढ़ना पड़ता है। यह बात अकारण नहीं है कि विद्यार्थी मात्राओं के निर्देश में जितनी त्रुटियां करते हैं, उनकी तुलना में अक्षरों की त्रुटियां नगण्य-सी होती हैं। प्रश्न यह उठता है कि शक्तिशाली तत्त्वों को लिपि में गौण बना देना और व्यंजनाक्षरों को प्रमुख स्थान देना कहां तक तर्कसम्मत है। इसका एक उत्तर तो यह है कि लिपि में इस प्रमुखता या गौणता के प्रदर्शन की कोई तात्विक आवश्यकता नहीं है, क्योंकि संपूर्ण वर्ण को महत्त्व देने के बाद इस बात का मूल्य नहीं रहता। दूसरा सैद्धांतिक उत्तर यह है कि जिस प्रकार प्रदर्शन में नींव का महत्त्व नहीं होता, उसी प्रकार वर्ण-न्यष्टि का भी प्रमुख प्रदर्शन में नींव का महत्व नहीं होता और उसी प्रकार वर्ण न्यष्टि का भी प्रमुख महत्व न होना स्वाभाविक है। तीसरा व्यावहारिक उत्तर यह है कि मात्राएं व्यंजनों का निर्देश करतीं तो कई गुनी मात्राओं की आवश्यकता पड़ती। जब कुछ मात्राओं की आवश्यकता पड़ने पर दाएं-बाएं, ऊपर-नीचे सभी स्थानों का उपयोग करना पड़ता है, तब कई गुनी मात्राओं के लिए स्थान खोजना कितना कठिन होता, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

देवनागरी आक्षरिकी की आकृति मात्र की चर्चा की जाए तो वैज्ञानिकता-अवैज्ञानिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। सरलता और कठिनता की बात अवश्य की जा सकती है, लेकिन यह बात भी सापेक्षता की है। देवनागरी के कुछ अक्षर इसके कुछ अन्य अक्षरों की अपेक्षा सरल-कठिन हैं। इसी प्रकार, देवनागरी के अक्षरों की अपेक्षा सरल-कठिन अक्षर संभव हैं।

देवनागरी लिप्युक्ति का विवेचन करें। चूंकि स्वनिम एक व्यतिरेकी इकाई है और उसका मूल्य उसकी कार्यकारिता में होता है इसलिए उसके स्वनिक पक्ष का विवेचन तत्वतः आवश्यक नहीं है। इस दृष्टि से किसी भी स्वनिम के लिए कोई भी आकृति यादृच्छिक रूप से अपनाई जा सकती है। देवनागरी लिप्युक्ति इस दृष्टि से पूर्णतः वैज्ञानिक है। यदि हमारी आकांक्षा हो तो स्वनिक पक्ष की गौणता के बावजूद उस धरातल पर भी वैज्ञानिकता का निर्वाह किया जाए, तो देवनागरी में आमूलचूल परिवर्तन आवश्यक हो जाएगा। स्वन-तत्त्वों का निर्देश करने वाली लिपि के निर्माण की संभावना की व्यावहारिक कठिनाई का पहलू तो है ही, एक सैद्धांतिक आपत्ति यह है कि बोलकर पहचानी जाने वाली लघुतम इकाई स्वनिम

होती है, स्वनतत्त्व नहीं। ऐसी लिपि हो तो लेखन श्रम की मात्रा में भी वृद्धि हो जाएगी। इन बातों का समाधान करते हुए ऐसा अवश्य किया जा सकता है कि अक्षरों की आकृति के निर्धारण में यादृच्छिकता बरतने के बजाय स्वन-तत्त्वों की आकृति के निर्धारण में यादृच्छिकता बरती जाए और उनका नियमित संयोजन करके पूर्णाक्षर बनाए जाए तथा उनके मूल्य-निर्धारण का निर्वाह आद्योपांत किया जाए। स्पष्ट है कि देवनागरी अक्षरों का निर्माण ऐसे सिद्धांतों पर नहीं हुआ है। प-फ की आकृति का जो अंतर महाप्राणत्व के अभाव-भाव का निर्देश करता है, वह वह व-क में भी विद्यमान है, लेकिन ध्वनिगत अंतर का वह स्वरूप इस युग्म में नहीं है। भ-झ की आकृति में भी वही अंतर है लेकिन ध्वनिगत अंतर भिन्न प्रकार का है। र-व को निकट लाने से ख अक्षर बन जाता है किंतु ध्वन्यात्मक धरातल पर इस तथ्य का कोई औचित्य नहीं है। घ-ध में शिरोरेखा के अखंडित-खंडित होने से कंठय-दंत्य का अंतर निर्दिष्ट हुआ है, म-भ में शिरोरेखा का अंतर वही है लेकिन ध्वनिगत अंतर भिन्न है। सारे कंठ्य-दंत्य स्पर्शी का अंतर शिरोरेखा के अखंडित-खंडित होने से नहीं निर्दिष्ट होता, न नासिक्यों और स्वर्गीय सघोष-महाप्राणों का अंतर उससे निर्दिष्ट होता है। ड के बाद एक शून्य जोड़ने से ङ बन जाता है, लेकिन स्वनिक धरातल पर इस तथ्य का भी कोई औचित्य नहीं है। ट के अर्धवृत्त को पूर्ण वृत्त बनाकर उसका महाप्राण रूप ठ प्राप्त किया जाता है लेकिन अन्य महाप्राण रूपों के लिए यह पद्धति अन्यत्र नहीं मिलती है। ट के नीचे एक घुंडी का योग करने से उसका सघोष महाप्राण रूप ढ बन जाता है, घुंडी का वह मूल्य और कहीं नहीं मिलता। ण में र की आकृति विद्यमान है लेकिन ध्वनात्मक धरातल पर इसका कोई औचित्य नहीं है। एक खड़ी रेखा थोड़ा नीचे जाकर ढ को द बना देती है, थोड़ा ऊपर जाकर न को म बना देती है। रेखा का ध्वन्यात्मक मूल्य दोनों प्रसंगों में भिन्न-भिन्न है और इनमें से कोई भी मूल्य किसी भी अन्य प्रसंग में नहीं मिलता। प के भीतर की विभाजक रेखा उसे ष बनाकर जो ध्वन्यात्मक मूल्य अर्जित करती है, वह मूल्य व को ब बनाकर उसे प्राप्त नहीं होता। और इन दो में से किसी भी मूल्य के लिए उसका प्रयोग अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। ड को ह बनाने वाला चिह्न कोई व्यवस्थित ध्वन्यात्मक मूल्य नहीं ग्रहण करता और किसी भी ध्वन्यात्मक मूल्य के लिए कहीं अन्यत्र प्रयुक्त नहीं होता। रा को स करने वाली आड़ी रेखा भी इसी कोटि की है। मात्रा-भेद के लिए अ-आ में जो भेद मिलता है, वह इ - ई तथा उ - ऊ में नहीं मिलता। अंतिम दोनों युग्मों में भी मात्रा-भेद के लिए भिन्न-भिन्न चिह्न प्रयुक्त हुए हैं। आ - ओ - ए - ऐ में ऐसा नहीं हुआ है। आकृति से ऐसा लगता है कि अ का निर्माण उ से और अ का निर्माण प से हुआ है, ध्वन्यात्मक वास्तविकता ऐसी नहीं है। इ से झ के निर्माण का आभास होता है, किंतु ध्वन्यात्मक धरातल पर इसकी भी कोई संगति नहीं है। ड में जो चिह्न लगाकर इ बनाया जाता है, उसका ऐसा कोई संगत ध्वन्यात्मक मूल्य नहीं बन पाता, न वह अन्यत्र मिलता है। जो चिह्न इ पर

लगकर मात्रा-वृद्धि करता है, व्यंजनाक्षरों पर वही रेफ बन जाता है। प - फ में जो भेद महाप्राणत्व का समावेश करता है, उ - ऊ में वह मात्रा-वृद्धि करता है। ऐ की मात्रा ै है लेकिन स्वयं ऐ में उसका स्वरूप े है। लेकिन ये सारी असंगतियां असंगतियां नहीं रह जातीं क्योंकि देवनागरी लिपि में अक्षरों के निर्माण का आधार ध्वनि-तत्त्वों का संयोजन नहीं है।

देवनागरी वर्णमाला की एक उल्लेखनीय वैज्ञानिकता इसके अक्षरों की व्यवस्थित संयोजना है। सबसे पहले स्पर्श व्यंजन दिए गए हैं जो उच्चारण स्थान की दृष्टि से क्रमशः पीछे की ओर से आगे की ओर आते हैं। प्रत्येक वर्ग में घोष और प्राण की दृष्टि से व्यंजनों का स्थान-निर्धारित है, वर्गों के अंत में वर्ग-नासिक्य का स्थान है। स्पर्श व्यंजनों के बाद अंतस्थ और ऊष्म आते हैं। इन्हें भी पीछे की ओर से क्रमशः आगे बढ़ने के क्रम से व्यवस्थित किया गया है। स्वरों में मूल स्वर अ (तथा दीर्घ रूप आ) के पाद आद्योपांत ह्रस्व-दीर्घ के क्रम से अग्र-पश्च मूल स्वर, फिर पीछे से आगे की ओर का क्रम अपनाते हुए शेष दो मूल स्वर ऋ, लृ और अंत में अग्र-पश्च द्विस्वर दिए गए हैं। ध्यान रहे कि यह वैज्ञानिकता देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता नहीं है, केवल उसके अक्षरों की क्रमव्यवस्था की वैज्ञानिकता है।

अक्षरों तथा चिह्नों के संयोजन की प्रणाली में प्रायः जटिलता मिलती है किंतु अवैज्ञानिकता नहीं मिलती। ऊपर कहा जा चुका है कि अपने पूर्ववर्ती व्यंजन के बाद जुड़ने वाला वार्णिक उस व्यंजनाक्षर में मात्रा के रूप में जोड़ दिया जाता है। संयुक्त व्यंजन यदि सीधी रेखा में लिखे जाते हैं तो उसी क्रम से पढ़े जाते हैं जिस क्रम से वे लिखे गए हैं। यदि वे ऊपर-नीचे लिखे जाते हैं तो उन्हें पढ़ने के लिए क्रमशः ऊपर से नीचे उतारा जाता है। इस नियमितता के भीतर मिलने वाले विवरणों में असंगतियां मिलती हैं। सारे संयुक्त व्यंजनों के लिए आड़े और खड़े अक्षरों का विकल्प (क्क क्क) नहीं है, कुछ में विकल्प है, कुछ में कोई एक ही रूप प्रचलित है, व्यंजनाक्षरों में से 'अ' का लोप करने के लिए विविध पद्धतियां हैं। एक विकल्प यह है कि अक्षर का उत्तरांश न लिखा जाए, परंतु कुछ अक्षरों में (उदाहरणार्थ—ङ, छ, ट, ठ, ड, ढ, द,) यह विकल्प नहीं है। रेफ जिस अक्षर पर लगता है, उसी निर्दिष्ट वर्ण के पहले उच्चरित होता है लेकिन अनुस्वार जिस अक्षर पर लगता है, उससे द्योतित वर्ण के बाद उच्चरित होता है। यद्यपि रेफ और अनुस्वार दोनों शिरोरेखा के ऊपर लगने वाले चिह्न हैं। क + ष, त् + र् तथा ज + ञ के लिए स्वतंत्र अक्षर है जबकि अन्य संयुक्त व्यंजनों के लिए नहीं है।

देवनागरी लिप्युक्ति स्वनिमाश्रित वर्णमाला है। लिपि का नियमित मूल्य ज्ञात हो जाने के बाद संस्कृत की वर्तनी पूर्णतः वैज्ञानिक होती है, उसमें यदृच्छा के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। वर्तनी या तो उच्चारण पर आश्रित होती है या प्रसंगानुसार वैज्ञानिक गठन (उदाहरणार्थ—कायिक, भावुक) पर। यह बात कहने का भी कोई कारण नहीं दिखता कि

संस्कृत में रूपवैज्ञानिक गठन पर आश्रित वर्तनी उच्चारण पर भी आश्रित नहीं थी।

हिंदी के प्रसंग में देवनागरी लिप्युक्ति कुछ बदली है। हिंदी में फारसी तथा अंग्रेजी से आई हुई या नवविकसित ध्वनियों के लिए देवनागरी में कुछ चिह्न लगाकर उसका अनुकूलन किया गया है। वर्तनी में वैज्ञानिकता बहुत अधिक है यद्यपि उसकी व्याख्या के नियम कहीं-कहीं जटिल हैं।

ऐसा ही अनुकूलन प्रत्येक धरातल पर किसी भी भाषा के लिए देवनागरी में किया जा सकता है। एक उल्लेखनीय सुविधा यह है कि इसमें कम अक्षरों का प्रयोग करना पड़ता है। 'कमल' लिखने में देवनागरी तीन अक्षरों का प्रयोग करती है जबकि रोमन में इसके लिए पांच अक्षर बनाने पड़ते हैं। देवनागरी में एक स्पृहणीय अंतर्राष्ट्रीय लिपि के गुण हैं। अखिल भारतीय लिपि के रूप में उसका प्रयोग थोड़ा-बहुत होने लगा है। □

भारत की एकता के लिए आवश्यक है कि देश की सभी भाषाएं नागरी लिपि अपनाएं।

—विनोबा भावे

हिंदी का विश्व

शांति कुमार स्याल

शांति कुमार स्याल ने देश-विदेश में हिंदी की स्थिति को जांचा एवं परखा है। भारतीय सीमाओं में कैद न रहकर हिंदी का क्षेत्र विश्व व्यापक हुआ है। हिंदी के इसी विस्तृत विश्व का परिचय दे रहे हैं शांति कुमार स्याल।

विश्व में लगभग 2800 भाषाएं बोली जाती हैं, जिनमें बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से चीनी भाषा-भाषी एक अरब, अंग्रेजी भाषा-भाषी 44 करोड़ तथा हिंदी भाषा-भाषी 35 करोड़ हैं। युनेस्को ने हिंदी को मान्यता प्रदान की है। हिंदी अब भारत में ही नहीं दुनिया के कोने-कोने में स्कूलों, विश्वविद्यालयों तक पहुंच चुकी है। हिंदी कार्यशालाएं, हिंदी दिवस, हिंदी सम्मेलन, हिंदी कक्षाओं का प्रचलन शुरू हो गया है। विदेशों में हिंदी की पत्र-पत्रिकाएं भी प्रकाशित हो रही हैं। वहां के रेडियो, टेलीविजन पर हिंदी कार्यक्रम प्रसारित होते हैं।

देश में जहां राजभाषा हिंदी के प्रयोग में वृद्धि हुई है वहां अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी हिंदी अध्ययन-अध्यापन कार्यक्रम द्रुतगति से आगे बढ़ रहा है।

रूस में हिंदी प्रचार-प्रसार के ठोस कार्य किए गए हैं। यहां हिंदी लेखकों के रूसी अनुवाद, हिंदी भाषा के व्याकरण तथा साहित्य पर उच्च स्तरीय शोधपरक कार्य हो रहा है।

फीजी सरकार के कार्यों में हिंदी का प्रयोग अंग्रेजी के साथ आवश्यक है। वहां हिंदी की पत्र-पत्रिकाएं पिछले 50 वर्षों से प्रकाशित होती रही हैं। फीजी सरकार के सूचना विभाग द्वारा जारी कृषि एवं मौसम संबंधी सूचनाएं, पोस्टर और समाचार-पत्र भी हिंदी में निकलते हैं।

अमेरिका में भी भारतीय भाषाओं, संस्कृति तथा राजनैतिक चिंतन के साथ-साथ हिंदी

के प्रति दिलचस्पी बढ़नी शुरू हुई। 1947 में सबसे पहले पेंसिलवेनिया में हिंदी के अध्यापन की व्यवस्था की जाने लगी। आज लगभग 27 विश्वविद्यालयों में हिंदी शोध स्तर पर पढ़ाई जाती है। वर्जीनिया तथा एरिजोना विश्वविद्यालयों में हिंदी विद्यार्थियों को भाषाई परिवेश उपलब्ध कराने की दृष्टि से भाषाई प्रयोगशालाओं द्वारा हिंदी का गहन अध्ययन कराया जाता है। आज कई भारतीय अध्यापक अमेरिकी विश्वविद्यालयों में पढ़ा रहे हैं। अमेरिकी विद्यार्थियों की हिंदी भाषा में ही रुचि नहीं बल्कि वे दर्शन, संस्कृति, समाज विज्ञान आदि विषयों का विशेष अध्ययन कर रहे हैं।

आज अमेरिका में भारतीय, पाकिस्तानी, बंगलादेशी, लंकाई एवं कुछ सीमा तक अफगानिस्तानी लोगों की आपसी बोलचाल की भाषा हिंदी ही बन गई है। हिंदी का प्रवेश विश्वविद्यालयों में हुआ है। सामान्य विषयों में आधे ग्रेड्स का प्रश्न-पत्र प्रायः हिंदी का होता है। छात्रों को हिंदी पढ़ना और लिखना सीखने के लिए जोर दिया जाता है। आकाशवाणी व दूरदर्शन में 50% से ज्यादा कार्यक्रम हिंदी में होते हैं।

अमेरिकी टीवी का अधिकांश समय जो फिल्मी गीतों को समर्पित होता है वह ज्यादातर हिंदी में ही होता है। प्रायः हिंदी की फिल्में दिखाई जाती हैं।

'भारत-समाचार' साप्ताहिक हिंदी पत्रिका न्यूयार्क से 26 जनवरी 1985 से प्रकाशित हो रही है। जनवरी 1984 से 'भारत-भारती' द्वैमासिक हिंदी पत्रिका का प्रकाशन इलिनॉय राज्य के प्रसिद्ध नगर शिकागो से हो रहा है। जिन नगरों में भारतीयों की संख्या अधिक है वहां पुस्तकालयों में हिंदी पुस्तकों का विशाल संग्रह है।

चीन में हिंदी की पढ़ाई सबसे पहले 1942 में एक प्रांत के पूर्वी भाषा महाविद्यालय में शुरू हुई। 1949 के बाद पेइचिंङ विश्वविद्यालय में पूर्वी भाषा व साहित्य विभाग कायम किया गया। इस विभाग में एक हिंदी अनुभाग भी कायम किया गया है जहां हिंदी भाषा व साहित्य के अध्ययन-अध्यापन का कार्य सुचारू रूप से आरंभ हो गया है। संस्कृत विद्वान डॉ. चिनखूम को इस विभाग का अध्यक्ष बनाया गया है। आज भी यह विश्वविद्यालय चीन में हिंदी का अध्ययन-अध्यापन करने वाला एक महत्वपूर्ण उच्च-शिक्षा संस्थान है। इस विश्वविद्यालय और सामाजिक विज्ञान अकादमी के अधीन दक्षिण एशिया अध्ययन संस्थान में भी हिंदी साहित्य का अध्ययन-अनुसंधान किया जाता है। 1959 में प्रथम हिंदी-चीनी शब्दकोश बनाया गया था। हाल में ही चीनी-हिंदी मुहावरा कोश प्रकाशित हुआ है।

'चीन सचित्र' चीन से हिंदी में निकलने वाली एकमात्र पत्रिका है, जिसका पहला अंक 1957 में प्रकाशित हुआ है।

रेडियो पेइचिंङ से भारतीय श्रोताओं के लिए प्रतिदिन एक-एक घंटे के दो कार्यक्रम हिंदी भाषा में प्रसारित किए जाते हैं।

जापान में लगभंग 15 विश्वविद्यालयों में हिंदी सिखाई जाती है। यहां से एक हिंदी

मासिक भी प्रकाशित होता है। इसके लेखक और संपादक सभी जापानी हैं।

पाकिस्तान में विभाजन से पूर्व पंजाब विश्वविद्यालय में हिंदी और संस्कृत के विभाग मौजूद थे। पाकिस्तान बनने के बाद ये दोनों विभाग समाप्त हो गए। 1985 में डॉ. शाहिदा हबीब को लाहौर विश्वविद्यालय का अध्यक्ष बनाया गया। उन्होंने अन्य साहित्यकारों की सहायता से लाहौर विश्वविद्यालय में हिंदी का पठन-पाठन पुनः प्रारंभ करवाया। हिंदी प्रचार के लिए वहां डिप्लोमा कोर्स व सर्टीफिकेट कक्षाएं भी शुरू हो गई हैं। डॉ. शाहिदा ने लाहौर में 'हिंदी लिटरेरी सोसाइटी' की स्थापना की है।

कनाडा में टोरंटो, बैंकवूर, विंडसर तथा मैकगिल विश्वविद्यालयों में हिंदी शिक्षण की व्यवस्था है। वैंकूवर तथा विंडसर विश्वविद्यालयों में मध्यकालीन तथा आधुनिक हिंदी साहित्य के पाठ्यक्रम चलाए जाते हैं। मैकगिल विश्वविद्यालयों में उर्दू तथा हिंदी का मिला-जुला पाठ्यक्रम चलता है। यहां से 'विश्वभारतीय' पाक्षिक प्रकाशित होती है।

नार्वे में प्राथमिक विद्यालय से विश्वविद्यालय स्तर तक हिंदी पढ़ाने की व्यवस्था की गई है। ओस्लो विश्वविद्यालय में इसके लिए अलग से विभाग है। पिछले 10 वर्षों में यहां हिंदी का प्रयोग बढ़ा है। भारतीय फिल्में तथा रेडियो खासकर हिंदी गीत-संगीत सुनाई देते हैं। यहां लगभग पांच हजार भारतीय हैं।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् के तत्वावधान में रूमानिया, बुल्गारिया, पूर्वी जर्मनी और क्यूबा में कुछ हिंदी प्रोफेसर हिंदी पढ़ा रहे हैं। अन्य समाजवादी देशों में हिंदी अध्यापन का कार्य वहीं के अध्यापकों द्वारा किया जा रहा है। इन देशों में हिंदी का अध्यापन कार्य संबंधित देश की सरकार की प्राथमिकताओं एवं आवश्यकताओं के अनुसार विश्वविद्यालय स्तर तक चलता है।

चेकोस्लोवाकिया के विश्वविद्यालयों में हिंदी पाठ्यक्रम का उद्देश्य विद्यार्थियों को हिंदी भाषा, साहित्य तथा भारतीय अध्ययन के विभिन्न क्षेत्रों में व्यापक एवं व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करना है। यहां भाषा का सामान्य पाठ्यक्रम भी चलता है, जिससे भारत के प्रति जिज्ञासा रखने वाले विद्यार्थी अल्पकालिक पाठ्यक्रम के रूप में हिंदी सीखते हैं। चार्ल्स विश्वविद्यालय 'प्राहा' में सन् 1949 से हिंदी पाठ्यक्रम चलाए जा रहे हैं। वहां विदेशी भाषा संस्थान में भी हिंदी शिक्षण कार्य चलता है। यहां द्विर्षीय वैकल्पिक पाठ्यक्रम के अंतर्गत 'सामान्य हिंदी' का कार्यक्रम चलाया जा रहा है।

हंगरी के दो विश्वविद्यालयों में हिंदी का प्रारंभिक पाठ्यक्रम चलाया जाता है। यहां विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आधुनिक हिंदी साहित्यकारों की रचनाओं के हंगरी अनुवाद प्रकाशित होने वाले हैं।

रोमानिया में 1965 से हिंदी आ अध्यापन का कार्य प्रारंभ हुआ। 1971 से नियमित रूप से बुखारेस्त विश्वविद्यालय में हिंदी का चतुर्वर्षीय पाठ्यक्रम शुरू किया गया है।

हिंदी-रोमानिया तथा रोमानियन-हिंदी कोश भी डॉ. विद्या सागर दयाल ने तैयार किया है।

बुल्गारिया में 1971 से हिंदी अध्यापन की व्यवस्था की गई। तब से यहां हिंदी वैकल्पिक विषय के रूप में द्विवर्षीय पाठ्यक्रम के अंर्तगत सोफिया विश्वविद्यालय में पढ़ाई जा रही है। डॉ. विमलेश कांति वर्मा के प्रयासों से हिंदी-बुल्गारिया कोश भी प्रकाशित हुआ है।

मॉरिशस में भारत के पश्चात् हिंदी संसार में सबसे अधिक बोली जाती है। पद्मश्री डॉ. लक्ष्मी नारायण दुबे के अनुसार मॉरिशस के पूर्व प्रधानमंत्री शिवसागर राम गुलाम को हिंदी को विश्व मान्यता दिलाने में अग्रणी बनने का श्रेय प्राप्त है। यहां तुलसीदास द्वार और महर्षि दयानंद सरस्वती द्वार का निर्माण करके हिंदी की दो महान विभूतियों को अपना नमन प्रस्तुत किया। यहां राजभाषा के रूप में अंग्रेजी, फ्रांस की भाषा फ्रेंच, बाजार की भाषा क्रिओल तथा घरेलू भाषा भोजपुरी है। हिंदी भाषा और संस्कृति के संरक्षण में यहां पुरुषों की अपेक्षा नारियों ने अधिक योगदान किया है।

यहां भारतीय भाषाओं और संस्कृति को लेकर अनेक अंतर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक सम्मेलन हो चुक हैं।

ट्रिनिडाड-टुबैगो की राजधानी पोर्ट ऑफ स्पेन में 1992 में अंतर्राष्ट्रीय हिंदी-सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन में भारत की ओर से संसद सदस्य श्री शंकरदयाल सिंह के नेतृत्व में एक पांच सदस्यीय प्रतिनिधि मंडल सर्वश्री बच्चू प्रसाद सिंह, यशपाल जैन, राजेंद्र अवस्थी एवं श्रीमती माजदा असद ने भाग लिया। यहां के प्रधानमंत्री ने अपने उद्घाटन भाषण में ट्रिनिडाड और टुबैगो के स्कूलों में हिंदी की पढ़ाई ऐच्छिक रूप से शुरू करने की बात कही थी। इस अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन का शुभारंभ ट्रिनिडाड के राष्ट्रपति श्री नूर हसन अली ने किया।

काहिरा, भूटान, बैंकाक तथा सूरीनाम में स्थित भारतीय राजदूतावास और भारतीय सांस्कृतिक केंद्रों द्वारा सरकारी कामकाज में आने वाली शब्दावली का परिचय, हिंदी में मूलरूप से टिप्पणियां, पत्रों के प्रारूप आदि तैयार करने के उद्देश्य से हिंदी कार्यशालाओं का आयोजन किया जा रहा है। □

सुध परदेसिया की

डॉ. विद्याविंदु सिंह

हमारा अत्यधिक सशक्त साहित्य हिंदी की बोलियों में छिपा हुआ है। डॉ. विद्याविंदु सिंह का निरंतर प्रयास रहा है कि ऐसा रचनात्मक साहित्य पाठकों के सामने लाया जाए। अप्रवासी भारतीयों के अंतर्मन को कैसे मोहित करता है यह साहित्य, पढें डॉ. विद्याविंदु सिंह की कलम से।

भारतीय 'प्रवासी' जिन परिस्थितियों में देश को छोड़कर परदेश जाने को विवश हुए और अपने पीछे छोड़ गए रोता कलपता घर-संसार, परिवार, जिसकी व्यथा की अनुभूति लोकगीतों में फूट पड़ी। आज भी उन विरहिणियों के उच्छ्वास मन को आर्द्र कर जाते हैं। उस उच्छवास में आंसुओं के साथ ही आक्रोश की ज्वाला भी है जो विवशता का लाभ उठाने वाले शोषकों के प्रति मन में जगती है। यहां दो गीत उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत हैं :

लादे जहजिया पिया के चली जाय
जौने सहरवा म मोर हरि नौकर
लागे अगिनियाँ सहर जरि जाय
जीने सहबवा के मोर हरि नौकर
आवै बिमरिया साहेब मरि जाय
जोनी तिरियवा के मोर पिया राखे
डसै नगिनियां सवति मरि जाय।।

(जहाज मेरे प्रिय को लादकर चली जा रही है। जिस शहर ने मेरे प्रिय को नौकर बनाया उस शहर में आग लगे और वह शहर जल जाए। जिस 'साहब' ने मेरे हरि को नौकर

बनाया है उस साहब को बीमारी लगे और वह मर जाए। जिस स्त्री को मेरे प्रिय ने अपने पास रखा है उसे नागिन डस ले और मेरी सौत मर जाए।)

दूसरा अत्यधिक प्रचलित गीत है—

पुरवा से रेलिया आवै पछुवाँ से जहजिया
पिया के लादी लैवौ ना
रेलिया बैरिन मोरी सवतिया,
उहे जहजिया मोरी सवतिया
पिया के लादी लेगे ना।
सेर भर गोहुआँ बरिस भरि खाबै
पिया के जाये न देबों ना।।
रखबौ अँखिया के हजुरवॉ
पिया के जाये न देबौं ना
कोटि जतन किह्यों, कहना न माने,
पिया परदेशी भइलै ना।
लाख जतन करौं जियरा न मानै
हमका मोहिया लागै ना
सोचि कै पिया के सुरतिया
हमकाँ मोहिया लागै ना।
कैसे जियरा समझावौं
हमकाँ मोहिया लागै ना।।

(पूर्व से रेल आई और पश्चिम से जहाज आया पिया को लादकर ले गया। यह रेल, यह जहाज तो मेरी सौत बन गई। मैं तो सेर भर गेहूँ में पूरा वर्ष खाकर काट लेना चाहती हूं पर प्रिय को अपने से दूर नहीं जाने देना चाहती, अपनी आंख के समक्ष रखना चाहती हूं। पर मेरा लाख यत्न व्यर्थ गया। प्रिय नहीं माने वे चले गये, परदेशी हो गए। मुझे उनकी याद आती है, मोह लगता है। मैं कैसे अपने मन को समझाऊं)

एक गीत की पंक्तियां हैं—

सुधि परदेसिया
दीया के टेम बरै छतिया

(परदेशी प्रिय की सुध दीपक की लौ के समान ह्रदय में जलती रहती हैं)

इन गीतों की करुणा आज भी आंख भिगो जाती है। □

ग्रामवासियों की बात

ओदोलेन स्मेकल

भारत में चेक गणराज्य के राजदूत डॉ. ओदोलेन स्मेकल भारतीयों के लिए एक परिचित नाम है। उनके अनेक काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

कितनी प्रिय है चांदनी रात
जब हलधरों की सुनाती है
गांव-गांव
सुख-दुःख की बात!

जिस प्रकार दुःखों की राम-मड़ैया
बन जाती
सुखों की ताल-तलैया
महाप्रभुजी जिस प्रकार
गाय-गाय चराते—अंगूर की बेल लगाते
चक्की चलाते—रोटी पकाते
फली तोड़ते—बाजरा कूटते
माटी की कोठरी लिपाते
आंगन में घी की बाती अंत में जलाते
गांव-गांव

महेश्वर जी जिस प्रकार
खेतों में धान रोपते—घासपात खोंटते
बैलों को चारा डालते—आटी पीसते
आंगन-आंगन बुहारते—चिलम में तम्बाकू भरते
गांव-गांव

महाकेवट जी जिस प्रकार दिन पर दिन
उनकी नाव खेकर पार लगाते
और फिर ढेरों सारे तेली, हलधर, कुंभकार
आपस में जिस प्रकार सुख-दुःख बांटते
गांव-गांव
और नीम तले पलंग पर लेटकर
सो जाते नींद भर

एक न मानी वसंत ने

वसंत ने मेरी एक न मानी
बरबस ही फूट पड़ा वह
दिशा-दिशा में बनकर दानी

फिर गली-गली में किया प्रवेश
मुरली मनोहर-सा ब्रजेश
और प्राणी-प्राणी के गले में
डालकर पुष्पहार
आम्रतरु पर
गाता रहा मंगल गीत
लुटाते हुए अपना हृदय उदार
अपनी प्रीत

आज एक न मानी वसंत ने
फूट ही पड़ा वह
दिशा-दिशा में बनकर दानी! □

अनकही व्यथा की चीख

अभिमन्यु अनत

अनेक सम्मानों से सम्मानित अभिमन्यु अनत भारतवासियों के लिए नया नाम नहीं है। वे मॉरिशस के महत्त्वपूर्ण कथाकार और कवि हैं। उनके अनेक कहानी और कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

मेरे देश के खुशहाल लोगों उधर भी तो देखो
पहाड़ों की आड़ में चन्द झोंपड़ियां भी हैं
शहर की गगनचुम्बी इमारतों के पीछे देखो
कुछ बच्चे आज भी नंगे हैं सपने आज भी गिरवी।

यह कैसी रीत है मेरे देश की बता दे मेरे दोस्त
कि किसी की दूकानों से माल उठा ही नहीं रहे
और कुछ लोग दिन-रात बेचते ही चले जा रहे
वे बेशुमार माल जो उनकी दुकानों में है ही नहीं।

आज हर शहर हर गांव हर चौराहे पर
हर आदमी भीतर से इतना डरा हुआ क्यों है
उधर की बोझिल और डरावनी खामोशी पर
आज हर आदमी पहाड़ों से सवाल क्या कर रहा।

मैं देख रहा हूँ कई दिनों से इधर अचम्भे में
मेरे आंगन के फूलों के पौधे सहमे सहमे से हैं
कली अंकुरा कर भी फूल खिल नहीं पा रहे उनमें
तितलियां छटपटा रही हैं नागफनी के कांटों पर।

तुम्हारे यहां की शरबत पीने के बाद से
मेरा यह दोस्त अब चांद को सूरज कहने लगा है
तुम्हारे यहां से प्रसाद बांटता फिरता मेरा यह दोस्त
अब मातमपुर्सी पर भी लोगों को हंसाने लगा है।

मेरी कविताएं उन अनकही व्यथाओं की चीख है
जो खुली हवाओं की कैद में अकुलाती रही
उन जल-प्रपातों का नाद है मेरा यह कसैला स्वर
जो तेरी दी सजा काटे आँखों से अविरल बहे थे।

मेरे देश की विधान सभा के सामने की मूर्ति
न जाने क्यों इधर कुछ दिनों से रोने लगी है
शहर तो जिन्दा है, देश जिन्दा है, जिन्दा हैं नेता सारे
तो फिर यह सफेद मूर्ति क्यों रो रही यह काली रोदन?

बाजार के बीच किसी ने मकई के दाने बिखेरे
मंदिर, गिरजाघर और मस्जिद की छतों से
फड़फड़ा कर उड़ गये सभी कबूतर दाने चुगने को
और उनके वे डेरे अब सन्नाटे में बेजान बेभगवान लगने लगे हैं।

अपने भीतर की गूंगी छटपटाहट से थककर
बैठ गया हूं मैं बीच सफर निपाती पेड़ के नीचे
रात भी थककर मेरी बगल में आ बैठी है
पर सूरज के गुप्तचरों के डर से बातें नहीं कर रही मुझसे।

तू अपने अपमानित बालों को खोले रख पांचाली
चीरहरण समाप्त नहीं हुए तू बालों को बांध मत
अपने प्रतिशोध के प्रतीक बालों को अभी रंग मत
अभी भी द्रोपदियां जिंदा जलायी जा रही हैं।

कुछ लोग औरों के बनाये रास्ते पर सिर झुकाये चलते हैं
दूसरे ऐसा नहीं कर सकते इसलिए अपना रास्ता खुद बना रहे हैं
कुछ लोग जीते रहते हैं अपनी जिन्दगी का बोझ ढोने के लिए
दूसरे ऐसा नहीं कर सकते इसलिए ढोने दो उन्हें औरों के बोझ।

धधक उठता है गुलमोहर सूरज किरणों से
नीचे बैठे राही को मगर साये की ठंडक देता है
पर आज यहां यह क्या होने लग गया है मेरे दोस्त
कि रक्षक कहलाने वाले अपने ही लोग भक्षक बने हुए।

ये कौन हैं, आदमी आदमी के बीच दरारें पैदा करने वाले
सफर के रास्ते से किनारों-नदियों को चुरा ले जाने वाले
इन खाली मुट्ठियों में ये बबूल के जंगल किसने उगा दिये
किसने कर दी आदमी के भीतर की फूलवारी की नीलामी।

धूप में किसी नगीने की चमक की तरह मैं
अपनी प्यास को आंखों में संजोये चल रहा हूं
वर्षा का कोई आसार आसमान पर दिखाई नहीं दे रहा
पुलों के नीचे लेकिन मेंढक टर्राते चले जा रहे हैं।

मैं हूं कि अपने एकाकीपन को दोस्त बनाये बैठा हूं
दोस्ता ऐसा कि पल भर भी साथ नहीं छोड़ता मेरा
उधर वह जिसे अपनी सांसों में बसाये हुए हूं मैं
मिलने आ ही नहीं रही मेरी बगल में मेरा एकाकीपन है इसलिए।

इस भारी ठंड में बड़े घरों में बदनों से कंबल गरम हो रहे
इधर बुझे चिराग से मैं सिकुड़े बदन को सेंके जा रहा
चिराग बुझाये सूरज की वापसी का इंतजार कर रहा मैं
वे लोग अंधेरे की चादर को ताने ही चले जा रहे हैं।

दादी की कहानियों में गद्दी पर बैठे राजा मूर्ख हुआ करते थे
देश का राज-काज चलाते थे उनके चतुर महामंत्री
क्यों ओढ़े रहते थे देश भर में काले धंधे सफेद चादर
कौन दे जवाब दादी की कहानियों में तो राजा गूंगे होते थे। □

गिरमिट के समय

पं. कमलाप्रसाद मिश्र

भारत सरकार के विश्व हिंदी पुरस्कार से सम्मानित कमलाप्रसाद मिश्र फीजी के जाने-माने कवि हैं। वे 'जय फीजी' पत्रिका के संपादक भी हैं।

दीन दुखी मज़दूरों को लेकर था जिस वक्त जहाज सिधारा
चीख पड़े नर नारी, लगी बहने नयनों से विदा-जल-धारा
भारत देश रहा छूट अब मिलेगा इन्हें कहीं और सहारा
फीजी में आये तो बोल उठे सब आज से है यह देश हमारा

गिरमिट शर्त के नीचे उन्हें करना जो पड़ा वह काम कड़ा था
मंगल था लहराने लगा जहां जंगल ही सब ओर खड़ा था
जीवन घातक कोठरी में करना हर निवास पड़ा था
मौत से जूझ गये ये बहादुर साहस खूब था जोश बड़ा था

कोई रामायण बाँच रहा कोई लेकर सत्यनारायण आया
खूब किया उसका सम्मान कोई अनजान जो आँगन आया।
गिरमिट वालों के साथ था मौसम रंग जमा लिया जो मन आया
खून बहाये तो फागुन आया जो आंसू बहाये तो सावन आया

खून पसीना बहाकर भी ये सभी दुख दर्द को भूल गये थे
एक दवा थी कि लेकर ये निज भारत भूमि की धूल गये थे
किंतु कभी अपमान हुआ तो ये धर्म ही के अनुकूल गये थे
माँ-बहनों की बचाने को इज्ज़त सैकड़ों फाँसी पे झूल गये थे। □

सात सागर पार

जोगिंद्र सिंह कंवल

जोगिंद्र सिंह कमल फीजी के प्रमुख कवि और उपन्यास लेखक हैं। वे फीजी में खालसा कॉलेज बा के प्रधानाचार्य हैं।

सात सागर पार करके भी ठिकाना न मिला
सौ साल प्यार करके भी निभाना न मिला

कई जनमों से तो बिछड़े थे एक मां से हम
दूसरी मां के आंचल में भी सिर छिपाना न मिला

पीढ़ियां खेली हैं ऐ देश तेरी गोद में
फिर भी तेरी ममता का हमें नज़राना न मिला

हम ने बंजर धरती में खिला दिए रंगीन फूल
तेरी पूजा के लिये दो फूल चढ़ाना न मिला

खून पसीने से बनाया था ज़न्नत का चमन
इस की किसी डाल पर भी आशियाना न मिला

हम तो पागल हो गये मंज़िलों की खोज़ में
इतनी भटकन के बाद भी कोई ठिकाना न मिला

हम ने क्या पाप किया समझ में आता नहीं
वर्षों की लगन का हमें, कोई इवज़ाना न मिला

□

माटी की सुबह

पूजानंद नेमा

मॉरिशस की युवा पीढ़ी के प्रमुख कवि पूजानंद नेमा की कविताओं में मॉरिशस की मिट्टी की गंध मौजूद है। 'चुप्पी की आवाज' उनका चर्चित कविता-संग्रह है।

सुबह शाम नहीं
इसलिए वह अपने आप नहीं आती
वह मेरी-तेरी या आप की तरह नहीं
उसे तो जगा लाते हैं तपस्वी किसान
घर में छोड़ कभी नवल सिंदूर
और बाकी लोग / बाद में जागते हैं सुबह देखकर।

सुबह तब तक नहीं होती है
जब तक उघड़ता नहीं है मजदूरों का कम्बल
और जब धरती पर पड़ते हैं उनके कदम
तब हटती है रात की चादर / और आती है सुबह।

सुबह शाम नहीं
जो आप आ जाय
उसे तो जगा लाते हैं तपस्वी किसान
जो सुबह का कभी इंतजार नहीं करते / बाकी लोग ...
तो जागते हैं सुबह देखकर औरों की तरह
या जब आंखें खुल जाती हैं अनायास।

□

आकाश-गंगा

कु. कुआ थोंग

कु. कुआ थोंग चीन की प्रतिभाशाली कथाकार हैं। उनकी रचनाएं चीनी संस्कृति की आत्मीयता से सराबोर हैं।

बहुत समय पहले की बात है। चीन के एक गांव में एक लड़का रहता था। उसका नाम ज्यू लांग था। वह अनाथ था, एकदम अकेला। माता-पिता, भाई-बहन, मामा-मामी, चाचा-चाची, ताऊ-ताई कोई भी तो नहीं था उसका। लोगों की गाएं चराकर जैसे-तैसे अपना पेट पालता था। लोगों ने उसके काम से खुश होकर उसे एक गाय दे दी थी। यह गाय ही उसकी सबसे अच्छी दोस्त थी। वह अपनी इस गाय से खुद बातें करता। उसे बांसुरी बजाकर सुनाता। गाय भी उसकी बातें बहुत ध्यान से सुनती जैसे वह सब समझ रही हो।

उन दिनों आकाश में एक रानी शासन करती थी। उसकी सात बेटियां थीं। वे अपनी मां के साथ आनंद से रहती थीं। सातों बेटियां सुंदर होने के साथ-साथ परोपकारी भी थीं। इनमें सबसे छोटी बेटी सबसे ज्यादा खूबसूरत और बुद्धिमान थी। बुनाई करने में उसे कमाल हासिल था। वह अपने हाथों से बादल बुनती थी। आसमान में रहने के कारण लोग इन राजकुमारियों को परियां कहते थे। एक दिन ये सातों परियां आकाश से एक साथ पृथ्वी पर उतरीं। उनके धरती पर उतरने का कारण यह था कि आकाश में उनकी मां उन पर रोब जमाती थी। इसलिए एक दिन वे चुपके से भाग कर पृथ्वी पर आ गईं। उन्हें स्वतंत्र जीवन बिताना पसंद था। यहां वे बेरोक-टोक खेलती रहीं, चारों ओर के मनमोहक दृश्य देखती रहीं। इसी समय ज्यू लांग भी अपनी गाय चराते हुए वहां पहुंच गया।

लड़के को देखते ही छह परियां तो जल्दी से उड़ गयीं, सिर्फ सबसे छोटी परी वहां रह गयी। उसका नाम चि जुयो था। ज्यू लांग को देखते ही चि जुयो का मन उस पर रीझ

गया। वह इसलिए अपनी बहनों के साथ आकाश में नहीं गई। ज्यु लांग भी चि जुयो को देखते ही उससे प्यार करने लग गया था। दोनों ने एक-दूसरे को अपनी जीवन-कथा सुनाई। जब चि जुयो को यह पता लगा कि ज्यू लांग अनाथ था तो उसने सदा के लिए पृथ्वी पर रहने का फैसला कर लिया। उसने ज्यू लांग के साथ विवाह कर लिया।

शादी करने के बाद दोनों ने मिलकर एक छोटा-सा घर बनाया। ज्यू लांग ने खेतीबाड़ी शुरू कर दी। चि जुयो ने बुनाई। दोनों खुशी-खुशी जीवन बिताने लगे।

एक साल के बाद परी ने दो जुड़वां बेटों को जन्म दिया। अब ज्यू लांग, चि जुयो, अपने दोनों बेटों, और अपनी प्यारी गाय के साथ रहते हुए आराम से जीवन बिताने लगे।

जब चि जुयो की मां को यह खबर मिली तब उसे बहुत गुस्सा आया। पहले तो उसने यह सोचा कि चि जुयो से ऐसा गरीब जीवन बिताया नहीं जाएगा और वह एक दिन ज़रूर वापस लौट आएगी। पर जब साल भर बीतने के बाद भी चि जुयो वापस नहीं लौटी तब वह अपना धीरज खो बैठी। उसने फैसला किया कि वह चि जुयो को उसकी इच्छा के बावजूद धरती से आकाश में ले जाएगी। एक दिन उसने ऐसा ही किया। जब ज्यु लांग घर वापस गया तो उसने देखा कि उसकी पत्नी गायब हो गयी। घर में सिर्फ दो रोते हुए बच्चे हैं। वह घबरा गया। उसने दुःखी मुद्रा में गाय की ओर देखा। गाय उससे बात करने लगी। गाय ने पत्नी के गायब होने का रहस्य बता दिया। साथ ही यह सलाह भी दी कि उसे अपनी पत्नी को ढूंढने के लिए आकाश में जाना चाहिए। ज्यू लांग अपने दो बच्चों के साथ आकाश में पहुंचा। चि जुयो को यह खबर मिल गई। वह महल के दरवाजे पर आ गई। फिर अपने पति और बच्चों को पुकारते हुए उनकी ओर दौड़ी। यह देखकर रानी का चेहरा गुस्से से लाल हो गया। उसने अपनी अलौकिक शक्ति और जादू का सहारा लेते हुए ज्यू लांग तथा चि जुयी के बीच एक नदी बना दी। यही नदी आज आकाशगंगा कहलाती है। ज्यू लांग और बच्चे एक किनारे पर खड़े होकर मां को ताकते रहे। दूसरे किनारे पर चि जुयी खड़ी आंसू बहाती रही। बहुत दिनों तक पृथ्वी पर रहने के कारण वह जादू भूल गई थी।

कितने दुःख की बात थी चि जुयी अपने पति तथा बच्चों को देख तो सकती थी किंतु उनसे मिल नहीं सकती थी। आकाश में उड़ते हुए नीलकंठों ने यह हालत देखी तो उनका मन भी दुखित हो गया। उन्होंने अपने को एक-दूसरे से जोड़ते हुए तुरंत एक पुल बनाया। चि जुयो उस पुल से होकर अपने बच्चों तथा पति के पास पहुंच गई। कहते हैं कि हर साल उसी दिन नीलकंठ वैसा ही पुल बनाते हैं। आकाश में चमकने वाले चार तारे ही ज्यू लांग, चि नुयी तथा उनके दो बच्चे हैं। उन्हें देखते ही हमारे मन में उनके प्रति सहानुभूति का भाव उमड़ पड़ता है। हमारी आंखों में आंसू बहने लगते हैं। □

भूगोल और इतिहास

प्रो. त्रिलोचन पाण्डेय

हिंदी के प्रबल समर्थक एवं चिंतक त्रिलोचन प्रो. पाण्डेय, रानी दुर्गावती महाविद्यालय जबलपुर के भूतपूर्व अध्यक्ष रह चुके हैं। तीन वर्ष तक ट्रिनिडाड में विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में कार्य करते हुए उन्होंने वहां की साहित्यिक, संस्कृति, भौगोलिक तथा ऐतिहासिक स्थितियों को समझने में रुचि ली है।

ट्रिनिडाड-टुबैगो गणतंत्र में दो द्वीप सम्मिलित हैं। ट्रिनिडाड का क्षेत्रफल 1864 वर्गमील और टुबैगो का क्षेत्रफल 116 वर्गमील है। दोनों के बीच 19 मील चौड़ा जल मार्ग है। दक्षिण-पश्चिम की 'पारिया' नामक खाड़ी इसे दक्षिणी अमेरिका से अलग करती है। इसके पूर्व में अटलांटिक तथा उत्तर में कैरेबियन सागर है।

इस प्रकार चारों ओर समुद्र से घिरे होने के कारण यहां आर्द्र जलवायु है। उत्तर से दक्षिण की ओर उभरती हुई तीन पर्वत श्रृंखलाएं इसकी स्थलाकृति (टॉपोग्राफी) का निर्धारण करती हैं। उत्तर के पहाड़ लगभग 3085 फीट ऊंचे हैं। बीच का भूभाग समतल और मैदानी है। दक्षिण की ओर ऊंचा-नीचा प्रदेश होने के कारण ग्रीष्म ऋतु में पानी की कठिनाई रहती है।

प्राकृतिक संपदा की दृष्टि से ट्रिनिडाड बड़ा संपन्न देश है। चारों ओर जंगलों में शाल, चीड़, नारियल के वृक्षों की अनंत श्रृंखला चली गई है। पूर्वी और दक्षिणी समुद्र तट में मीलों तक नारियल के वृक्षों की अनंत श्रृंखला चली गई है। दक्षिण की ओर लंबे-चौड़े चरागाहों में गाय-भैंस चरती दिखाई देती हैं। वर्ष भर हरियाली बनी रहती है। घास बढ़ने पर उसे जब खेतों में ही जलाते हैं तो भारतीय गांवों का जैसा दृश्य दिखाई देता है।

यहां दो ही ऋतुएं होती हैं—शुष्क ऋतु और वर्षा ऋतु। जनवरी से जून तक मौसम सूखा रहता है। जुलाई से दिसंबर तक वर्षा होती रहती है। सितंबर में वर्षा के उपरांत थोड़ा

सूखा मौसम रहता है जिसे बोलचाल में 'पैटी कैरीम' कहते हैं।

इस भौगोलिक स्थिति के कारण निवासियों को भारतीय छह ऋतुओं का परिचय कराना कठिन होता है क्योंकि यहां केवल दो ऋतुएं होती हैं। वसंत, शिशिर, हेमंत, और शरद ऋतु का वे नाम भर जान सकते हैं। यहां दिन और रात के तापमान में विशेष अंतर नहीं पड़ता। दिन का तापमान लगभग 82 फा. तथा रात्रि का तापमान प्रायः 74 फा. रहता है।

प्रकृति ने स्थानीय जलवायु, पशु-पक्षी, फल-फूल, नदी-पहाड़ सभी को प्रभावित किया है। इसने एक ओर सुंदर, आकर्षक समुद्र तट बनाए हैं, दूसरी ओर जन-जीवन का निर्धारण किया है। स्थानीय निवासी चाहे अफ्रीकी मूल के हों, अथवा यूरोपीय मूल के, वे चाहे भारतीय मूल के हों—उनका संपूर्ण रहन-सहन, खान-पान, वस्त्र-आभूषण—यहां तक कि उनका जीवन चिंतन सभी कुछ इसी स्थिति के अनुसार ढला हुआ है।

देश का भूगोल उसके इतिहास का निर्माण किस प्रकार करता है—इसे ट्रिनिडाड आकर अच्छी तरह समझा जा सकता है। यहां की विभिन्न जातियां ट्रिनिडाड की मूल निवासी नहीं हैं। उनके पूर्वज भिन्न-भिन्न देशों से आकर बसते रहे हैं। वे अपने साथ-साथ अपनी परंपराएं, लोक-विश्वास तथा जीवन प्रणाली लेकर आए। उन सभी के न केवल धर्म भिन्न थे, बल्कि आचार-विचार भी भिन्न थे। यहां आकर साथ-साथ रहने पर उन्हें एक दूसरे को जानने का अवसर मिला।

इसके फलस्वरूप एक समन्वित विचारधारा विकसित हुई जिसने निवासियों के सामाजिक गठन और सांस्कृतिक भावना को नवीन दिशा प्रदान की। भूगोल इतिहास को तो प्रभावित करता ही है, वह देश-विदेश के समाज तथा उनकी संस्कृतियों का रूप भी निर्धारित करता है।

सन् 1974 के पश्चात् ट्रिनिडाड सारे कैरेबियन देशों में सबसे अधिक धनी हो गया। कारण यह था कि विश्वव्यापी स्तर पर पेट्रोल की मांग बढ़ी और यहां प्राकृतिक गैस, पेट्रोलियम तथा अस्फाल्ट के प्रचुर भंडार थे। सन् 1974-1983 का दशक यहां 'आयल-बूम' का युग कहलाता है। उस समय एक उक्ति प्रचलित हो गई थी—"यहां धन की समस्या नहीं है" (मनी इज नो प्रबलम)।

अस्फाल्ट के उत्पादन में यह देश अभी तक विश्व का प्रमुख वितरक है। दक्षिण ट्रिनिडाड की 'पिच लेक' इसी कारण विश्व प्रसिद्ध हो गई है। यहां से पेट्रोलियम चीनी, कोको, साइट्रस फल निर्यात किए जाते थे।

यहां असंख्य प्रकार की मछलियां हैं जिनका निर्यात किया जाता है। टुबैगो में ही बीस-तीस प्रकार की मछलियां हैं जो एक सौ ग्राम से लेकर बीस किलो तक भारी होती हैं। आकार-प्रकार तथा स्वाद की दृष्टि से इनमें निर्यात विविधता मिलती है। इस देश के प्रत्येक घर में मछली खाई जाती है, वैसे अपवाद हो सकते हैं।

टुबैगो की प्रमुख मछलियों के नाम हैं—'समोन', 'डालफिन', 'मकाइल', 'बोनिटो', 'किंग फिश', 'अरबाको', 'पैरट फिश', 'ग्रूपा', 'स्नैपर' , 'जैक्स', 'फ्लाइंग फिश', 'मून शाइन' आदि। इन मछलियों के रूप-रंग, आकार-प्रकार, स्वाद-गंध आदि सभी भिन्न होते हैं।

टुबैगो के समुद्री तट पर यदि आप 'स्टोर के बीच' से आगे चलकर 'बुको रीफ' नामक स्थान की यात्रा करें तो मूंगे की प्रसिद्ध चट्टानें (कोरल रीफ) पाई जाती है। ये चट्टानें काले, हरे, भूरे, अनेक रंगों की हैं। इनके नीचे काली, नीली, पीली, हरी अनेक रंगों की छोटी-बड़ी मछलियां तैरती रहती हैं।

एक पीले रंग की छोटी-सी मछली होती है जिसे 'जयार्जी' कहते हैं। इसके शरीर पर हल्की और पतली, नीली धारियां बनी रहती हैं। पूरी नीली एक और छोटी-सी मछली 'ब्लू पागी' कही जाती है। कुछ बड़े आकार वाली हरे रंग की एक मछली होती है। जिसकी आंखें गोलाकर होती हैं। इसे 'चब' मछली कहते हैं।

ट्रिनिडाड की प्रिय मछलियों में 'कासकाडू', 'ग्वाबीन', 'गुप्पी' तथा 'यसारो' प्रमुख हैं जिनका स्वाद भिन्न-भिन्न होता है। अन्य मछलियों के नाम हैं—'कवाली', 'कारिट', 'रेडफिश', 'तिलापिया', 'स्नैपर', 'स्नूक', 'ब्रोची', 'मिलियन', 'बेलीफिश', 'सारडीन', 'कैस', 'कैरब', 'कटलास-फिश' आदि।

'कासकाडू' मछली को 'कास काडूरा' भी कहते हैं। इसके विषय में सामान्य लोक विश्वास है कि इसे एक बार खाने वाला व्यक्ति अपने अंतिम समय में ट्रिनिडाड अवश्य लौटेगा। 'कासकाडू' काली तथा भूरी दो प्रकार की होती है। स्वाद के लिए काले रंग वाली अच्छी मानी जाती है। इसका सिर गोलाकार या काला चपटा होता है। दूसरी मछलियों की अपेक्षा मंहगी होने के कारण इसे अवसर विशेष पर ही बनाया जाता है। अन्य मछलियां तौल-तौल कर बेची जाती हैं, जबकि 'कासकाडू' गिन-गिन कर बेची जाती है।

ट्रिनिडाड में लगभग 600 प्रकार की तितलियां, 400 प्रकार के पक्षी, 200 प्रकार के फूल, और 100 प्रकार के पशु पाए जाते हैं। सांप और छिपकलियां भी लगभग 70 प्रकार की हैं। मछली खाने वाला चमगादड़ और सुनहरा मेंढ़क पहाड़ियों पर मिलते हैं। 'अगूती' एक़ प्रकार का जंगली हिरन है जिसका शिकार किया जाता है। 'पाका', 'टायरा' 'ईगुआना' नामक जंगली पशु शिकार के लिए प्रसिद्ध हैं।

दो प्रकार के बंदर 'हाउलर' तथा 'कापूचिन' संख्या में कम हो गए हैं, इसलिए उनका शिकार खेलना प्रतिबंधित है। यहां दो राष्ट्रीय पक्षी (नेशनल बर्ड) हैं—'स्कारलेट आइबिस' तथा 'हामिंग बर्ड'।

कैरोनी नदी में सांयकाल पांच-साढ़े पांच बजे सूर्यास्त के समय दूर-दूर से लाल पक्षी आकर वृक्षों पर बैठने लगते हैं। यहीं 'स्कारलेट आइबिस' है। ये पंक्तिबद्ध होकर उड़ते हैं। जब वृक्षों पर बैठ जाते हैं तो ऐसा लगता है मानो लाल गुलाब के गुच्छे यहां से वहां

तक लटक रहे हों। प्रातःकाल होते ही ये वेनेज्वेला की ओर उड़ जाते हैं। इसके अतिरिक्त ट्रिनिडाड में 'पैलीकन', 'हैरन', 'सैंड पाइपर', 'स्पूनबिल', 'रेल्स' जैसे पक्षी भी प्रसिद्ध हैं।

पशु-पक्षियों की रक्षा करने के लिए शासन की ओर से दस-बारह स्थानों पर 'अभयारण्य' (सैंक्चुअरी) बनाए गए हैं। सैकड़ों एकड़ जमीन को घेरकर वृक्षों से घेर दिया गया है। कैरोनी बर्ड सैंक्चुअरी केवल पक्षियों के लिए सुरक्षित है। 'नारीमा' क्षेत्र में चीखने वाले लाल बंदर, चार आंखों वाली मछलियां, नारंगी पंख वाले तोते, पीली कलगी वाले काले पक्षी देखने लायक हैं। 'मकाया' नामक तोते की पूंछ लंबी और पेट लाल होता है।

टुबैगो की 'ग्राफटन स्टेट' को पक्षियों का विचरण-स्थल बनाया गया है। वहां का राष्ट्रीय पक्षी 'कैकरीको' है जिसकी क्रिक-क्रिक आवाज पहाड़ों के एकांत को गुंजाती है। वहां 'बुश मास्टर', 'चिपचिप', 'पुई-पुई', 'टाइगर कैट', 'वुड डाग', 'फीदर फिन', 'इगुआना' आदि पशु मुख्य हैं।

ऐसी ही विविधता वनस्पतियों, फल-फूलों में दिखाई देती है। फलों में आम, पपीता, अनार, जामुन, संतरा, नारंगी, केला, अमरूद, अनानास, चेरी, तरबूज, खरबूजा, शहतूत, प्लम, नारियल, आदि पर्याप्त मात्रा में होते हैं। भारतीय 'नारंगी' को यहां 'पोर्चुगाल' कहते हैं। हमारा 'चकोतरा' यहां ग्रेपफुट कहा जाता है। यहां का संतरा अर्थात् 'आरेंज' हमारा संतरा न होकर मुसम्मी है।

केले के अनेक नाम हैं जो आकार और स्वाद पर आधारित हैं। कुछ नाम देखिए—'बनाना', 'प्लान्टेन', 'सिकियो', 'चिकिटो', 'मैनकिलर', 'सिलफिंग', 'माटाबूरो', 'गामूशैल', 'लाकोटांग' आदि। छीलकर खाया जाने वाला केला 'बनाना' है। यह भारतीय केले जैसा ही है। इसे केवल खाते हैं और किसी प्रयोग में नहीं लाते। उबालकर अथवा पकाकर खाये जाने वाले केले 'प्लान्टेन' कहे जाते हैं। आकार में बहुत छोटे केले जिन्हें भारत में कहीं पर 'चीनियां केला' कहते हैं, यहां 'सिकियो' कहे जाते हैं। पूर्वी समुद्र तट पर यही केले 'चिकिटो' कहलाते हैं जो शायद चार इंच लंबे होंगे। 'सिलफिंग' का छिलका पतला और पीला होता है। 'माटाबूरो' का छिलका मोटा और काला होता है। 'गामूशैल' का छिलका काला-लाल रहता है और मोटाई अधिक होती है।

यहां आम तो लगभग बीस प्रकार के होंगे जिनमें 'जूली' आम सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसका स्वाद भारत के 'लंगड़ा' आम जैसा होता है, गुठली बहुत पतली रहती है। 'कटलास' नामक आम दो सेर तक भारी होता है। आकार में यह टेढ़े चाकू सा दिखाई देता है। 'कटलास' यहां मोटे हंसिये को कहते हैं। 'लाब्रे गर्ल नामक' आम गोलाकार और चित्तीदार होता है। इसका स्वाद खटमिट्ठा होता है। दक्षिणी ट्रिनिडाड में 'लाब्रे' नामक स्थान पर पैदा होने के कारण यह नाम पड़ा। यूरोपीय लोगों की बस्ती होने के कारण संभवतः इन निवासियों का रूप-रंग भी आकर्षक रहा, इसलिए आम को 'ला ब्रेगर्ल' कहा गया।

दूसरे आम हैं—'कालाबाश', 'दूदूस' 'हाग', 'डंकी स्टोन', 'ग्रेहाम', 'लौंग', 'टीन मैंगो' आदि जो स्वाद तथा आकार-प्रकार से पहचाने जाते हैं। ट्रिनिडाड में आमों का मौसम मार्च/अप्रैल से लेकर अगस्त/सितम्बर तक रहता है।

साग-सब्जी प्रायः सभी भारतीय मूल की हैं जिनके नाम थोड़े बहुत बदल गए हैं, कुछ नाम ज्यों के त्यों हैं। 'चुकन्दर' यहां 'बीटरूट' कहा जाता है, 'बैंगन' को 'बैंजनियां' कहते हैं। इसका स्थानीय नाम 'मेलोन्जैनी' भी है। भारत की धारीदार तरोई 'झिंगी' कही जाती है। भिण्डी को 'ओकरो' कहते हैं। 'सलाद' को 'लेट्स', 'पालक' को 'भाजी' अथवा 'स्पिनाक' कहते हैं।

भारत का शकरकंद यहां 'स्वीट पोटेटो' हो गया है और साधारण आलू 'आलू' ही कहा जाता है। कुछ समुदाय उसे 'पोटेटो' मात्र कहते हैं। 'आलू' और 'प्याज' जैसे शब्द स्थानीय बोलचाल 'क्रिओल' के अंग बन गए हैं। पत्तागोभी 'कैबेज' कही जाती है, फूलगोभी 'कॉलीफ्लार' कहते हैं।

टमाटर, प्याज, लहसुन, सेमफली, इमली, मकई, कद्दू, मटर, मूली यहां प्रिय खाद्य पदार्थ हैं। 'टमाटर' को बोलचाल में 'डमाडोल' भी कहा जाता है। मूली 'मुरई' हो जाती है। पका कद्दू (पंपकिन्) इतना व्यापक है कि प्रत्येक विवाह में इसकी सब्जी पकाना अनिवार्य है। जिस प्रकार विवाह के समय वर-वधू दोनों की उपस्थिति अनिवार्य है, उसी प्रकार 'पंपकिन' के बिना विवाह-भोज पूरा नहीं होता।

कटहल को यहां 'शटाइन' कहते हैं। इसकी सब्जी बनाई जाती है। इससे मिलता जुलता 'कोया' केवल खाया जाता है। अन्य स्थानीय सब्जियों के कुछ नाम हैं : 'याम', 'सेपोडिला', 'चेनेट', 'सोर सोप', 'आवोकाडो', 'पाटचौई' आदि। 'याम' भारतीय 'रतालू' की जाति का एक कंद है जो जमीन के भीतर फैलता है।

वनस्पतियों की जैसी विविधता वृक्षों-लताओं के नाम में भी लक्षित होगी। ताड़ वृक्षों का एक समूह 'अनारी पाम' कहा जाता है। दूसरा समूह 'कोकोराइट पाम' कहा जाता है। इसी ताड़ का तीसरा समूह 'मॉरिशी पाम' कहा जाता है और चौथा समूह 'रायल पाम' कहा जाता है। 'शकोनिया' राष्ट्रीय फूल है जिसका रंग गहरा लाल होता है। इसका वृक्ष भी 'शकोनिया' ही कहा जाता है। एक पौधे का नाम 'परपुल हार्ट' है, दूसरे पौधे का नाम 'स्वीट लाइम' है।

रंग की विविधता एक पौधे के दो नाम रखने का आधार बनती है—'ब्लैक पाई' और 'यलो पाई'। 'मोरा मनक', 'सीडार', 'कैनल बाल', 'ब्लैक स्टिक', 'क्रेथो', 'सिल्क काटन', 'सी साइड ग्रेप', 'सन डयू' नामक इतने पौधे हैं कि इन पर पूरी पुस्तक लिखी जा सकती है। जीव-जंतुओं का दर्शन करने के लिए पोर्ट ऑफ स्पेन के 'इंपरर वैली जू' की यात्रा करनी चाहिए जहां शनिवार-इतवार को मेला-सा लगा रहता है।

सभुद्री जीव-जंतुओं का संसार अलग है। अनेक प्रकार के कछुए, केकड़े, जेली मछलियां, झींगी, साल्ट फिश हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। अपने आकार-प्रकार अथवा रंग भेद के आधार पर केकड़े सात-आठ प्रकार के होंगे—'नीले केकड़े' (ब्लूक्रैब), 'गाने वाले केकड़े', (फिडिल क्रैब), भुतहा केकड़े (घोस्ट क्रेब) समुद्री किनारों पर घूमते-फिरते दिखाई देते हैं। 'इंगुआना', नामक छिपकली छह फीट तक लंबी होती है और मांस नहीं खाती।

एक सांप मूंगिया (कोरल स्नेक) होता है जिसके शरीर पर लाल, सफेद, काली गोलाकार रेखाएं बनी होती हैं। कड़ी छाल का हरा कछुआ 'टरटल' दो गज लंबा होता है। समुद्र में ज्वार आने पर यह किनारे पर चला आता है और सूखी रेत पर अंडे देता है। मार्च से सितंबर तक प्रायः चार बार अंडे देकर वह फिर गहरे समुद्र में खिसक जाता है।

इस रूप-रंग की विविधता से ट्रिनिडाड की भौगोलिक स्थिति का महत्त्व स्पष्ट होने लगता है। प्रकृति तथा वनस्पति की यह अनेकरूपता भौगोलिक कारणों से उत्पन्न हुई जो सारे देश को अजायब घर जैसा बना देती है। भूतत्त्ववेत्ता (जियालाजिस्ट) बतलाते हैं कि पांच-छह हजार वर्ष पूर्व ट्रिनिडाड दक्षिणी अमेरिका का एक खंड था। यहां की लगभग तीन हजार फीट तक ऊंची पहाडियां वहीं का भौगोलिक विस्तार है। उत्तरी ट्रिनिडाड में जो पर्वत श्रृंखला फैली है (नार्दन रेंज) उसका सर्वोच्च शिखर 'ओरिपी' 3085 फीट ऊंचा है। यही स्थानीय पहाड़ों की ऊंचाई है।

टुबैगो में पहाड़ों की ऊंचाई लगभग 1500 फीट से अधिक नहीं है। यही कारण है कि वेनेजुला की अधिकांश प्राकृतिक विशेषताएं यहां दिखाई पड़ती हैं। भारत में उत्तर प्रदेश तथा बिहार के मैदानी क्षेत्र से अथवा बम्बई की जलवायु से स्थानीय विशेषताओं का अनुमान किया जा सकता है।

इस भूगोल ने यहां का इतिहास बनाया। पहले 'टुबैगो' की चर्चा करें जो इस देश का उपद्वीप है। यह 19वीं शताब्दी के अंत में ट्रिनिडाड का अंग बना। बहुत पहले यहां के मूल निवासी अमेरिडियन तम्बाकू की खेती करते थे। इस कारण देश का नाम ('टुबैको' = टुबैगो) पड़ गया। यहां क्रमशः डच, फ्रांसीसी, स्पेनी और ब्रिटिश लोगों का आगमन हुआ क्योंकि ये सभी यूरोपीय जातियां कैरोबियन क्षेत्र पर अपना सामरिक प्रभुत्व स्थापित करना चाहती थीं।

विगत शताब्दी के अंत तक टुबैगो पूर्णतः ब्रिटिश कॉलोनी बन चुका था। सन् 1889 में अंशतः और सन् 1899 में पूर्णतः ट्रिनिडाड का अंग हो गया। इसी कारण देश का नाम 'ट्रिनिडाड और टुबैगो' रखा गया है। ट्रिनिडाड में अभी स्पेनी प्रभुत्व के साथ ब्रिटिश शासन का वर्चस्व था जिसे हटाने में पर्याप्त समय लगा। सन् 1962 में ये द्वीप ब्रिटिश शासन से मुक्त हो गए। इसलिए ट्रिनिडाड तथा टुबैगो में अभी तक एकता के साथ विविधता विद्यमान है।

टुबैगो अपेक्षाकृत शांत द्वीप है। वहां अफ्रीकी लोगों की प्रधानता है। यूरोपीय लोग

कम दिखाई देते हैं। जीवन की आपाधापी नहीं है। वहां अधिक सुंदर, शांत तथा विस्तृत समुद्री किनारे हैं। कहीं घास फूंस के पुराने 'अजोपा' भी दिखाई देते हैं। जीविका यापन के लिए मछली और नारियल पर्याप्त है। छल-कपट से लोग दूर रहकर एकांत जीवन बिताते हैं। ट्रिनिडाड के निवासी अपना सप्ताहांत (वीक एंड) मनाने के लिए प्रायः टुबैगो चले जाते हैं।

ट्रिनिडाड में स्पेन, फ्रांस और ब्रिटेन के निवासी प्रायः साथ-साथ जीवन बिताते रहे। शासन की बागडोर स्पेन वालों से भले ही अंग्रेजों ने संभाली, फिर भी स्पेनी लोग यहां बने रहे। उनके साथ फ्रांसीसी भी यहां आकर बस गए थे और चीनी कोको का उत्पादन करते थे। यहां उत्पन्न पदार्थों का वे निर्यात करते थे जिनकी यूरोप में आवश्यकता बनी रहती थी।

अपनी जागीरों (स्टेट्स) में काम करने के लिए उन्होंने पहले अफ्रीकी दासों का उपयोग किया। समय-समय पर अफ्रीका से यहां दास पकड़कर लाए गए। इनके साथ स्पेन, फ्रांस, इंग्लैण्ड के कैदी मजदूर बनाकर लाए गए। जब इन दासों से अधिक परिश्रम नहीं हुआ तो अन्यान्य कैरेबियन द्वीपों से दासों को बुलाया गया। सन् 1834 में गुलामी की प्रथा समाप्त करने पर 'सुगर स्टेटस' को जीवित रखने का प्रश्न उठा। इसी परिस्थिति में भारत से मजदूर लाने की योजना तैयार हुई।

उस समय भारत में अंग्रेजों का राज्य था। ट्रिनिडाड-टुबैगो में भी अंग्रेजों का ही राज्य था। अंग्रेजों को खेतों में काम करने के लिए यहां मजदूरों की आवश्यकता थी ही, अन्य द्वीपों में भी थी। अतः योजना बनाने में कठिनाई नहीं हुई।

इस योजना का, मजदूर भर्ती करने की नियमावली एक एक स्वतंत्र और रोमांचक इतिहास है। किस प्रकार अंग्रेजी शासन के ठेकेदार प्रलोभन देकर, गांव-गांव में जाकर अनपढ़ लोगों से हस्ताक्षर कराते थे, किस प्रकार उन्हें भेड़-बकरियों की तरह जहाजों में ठूंसकर यहां भेजते थे, किस प्रकार यात्रा की कठिनाइयां झेलकर आधे मजदूर यहां तक पहुंचते थे—उसका वृतांत मात्र पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

सन् 1845 के पश्चात् ट्रिनिडाड में भारतीय मजदूरों का आगमन प्रारंभ हुआ। ऐसा माना जाता है कि सन् 1845-1917 के बीच लगभग 1,44,000 भारतीय लोग इस प्रकार यहां आए। इसी रूप में उन्हें मॉरीशस, फिजी, श्रीलंका, गयाना, सूरीनाम देशों में भी भेजा गया था। उनके साथ चार-पांच देशों का अनुबंध (एग्रीमेंट) किया जाता था। अतः ये सब गिरमिटिया मजदूर कहलाए। 'एग्रीमेंट' शब्द उनकी बोलचाल में 'गिरमिटिया' बन गया। अपना अनुबंध समाप्त होने पर वे चाहें तो स्वदेश लौट सकते थे और चाहें तो यहां जमीन लेकर रह सकते थे।

प्रारंभ में वे लोग मुख्यतः वर्तमान पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार से आए। फिर कुछ लोग पंजाब, बंगाल आदि स्थानों से आए। कलकत्ता बंदरगाह से उन्हें जहाज पर चढ़ाया जाता था। अनेक लोग समुद्री यात्रा की कठिनाइयां नहीं झेल सकने के कारण मार्ग में ही

काल कवलित हो गए। आने वाले लोग अधिकांश हिंदू थे। कुछ मुसलमान भी थे। उन्हीं के परिश्रम से ट्रिनिडाड चीनी उत्पादन का प्रमुख केंद्र बना रहा।

अनुबंध समाप्त होने पर कुछ भारतीय वापस लौट गए, कुछ यहीं बस गए। प्रारंभ में उनकी इच्छा यहां रहने की नहीं थी। फिर सुविधाएं मिलने पर प्रायः सन् 1870 के पश्चात् वे यहां जमीन लेकर रहने लगे। अंग्रेजों ने उन्हें दस एकड़ जमीन देकर ट्रिनिडाड के मध्यवर्ती तथा दक्षिणवर्ती स्थानों में रहने की अनुमति प्रदान की।

इसके फलस्वरूप वे भारतीय चीनी उत्पादन क्षेत्रों के आसपास मकान बनाकर रहने लगे। फिर उन्होंने छोटी-मोटी दुकानें खोलीं और कोको, चावल का व्यापार करने लगे। पारिवारिक संगठन एवं श्रमशीलता के कारण धीरे-धीरे यहां उनकी जड़ें गहरी होती गईं। अन्य जातियों ने अफ्रीकी-यूरोपीय समुदाओं ने उनका सामाजिक महत्त्व स्वीकार नहीं किया। फिर भी वे अपने धर्म, अपनी सामुदायिक भावना के कारण जीवित रहे।

आगे चलकर उन भारतीयों को ईसाई बनाने का प्रयत्न किया गया। कैनेडियन पादरियों ने धर्म और भाषा के द्वारा उनके निकट आने में कुछ सफलता प्राप्त की। सन् 1890 के आसपास वे अपने धर्मप्रचार के लिए भारतीय हिंदुओं की सहायता लेने लगे थे। हिंदू समुदाय में उन लोगों ने स्कूल खोले, बाइबिल का हिंदी अनुवाद किया। हिंदी में गीत माला तैयार की। हिंदू जनता इसके प्रति धीरे-धीरे आकर्षित हुई और उन्होंने धर्म-परिवर्तन स्वीकार किया। ईसाई बन जाने पर उन्हें नौकरियां दी जाती थीं। किंतु इसकी गति शिथिल ही रही।

कुछ हिंदुओं ने पद-मर्यादा बढ़ाने के लिए प्रेसबिटेरियन धर्म स्वीकार कर लिया किंतु भीतर से वे हिंदू बने रहे। आज भी वे स्थानीय जातियों से विवाह नहीं करते। अफ्रीकी घरों के भीतर भारतीय महिला की उपस्थिति अथवा भारतीय घरों के भीतर अफ्रीकी महिला की उपस्थिति अभी तक अपवाद ही मानी जाती है।

आवश्यक होने पर यहां अन्य स्थानों से भी मजदूर बुलाए गए। चीन, मध्यपूर्व, पुर्तगाल, कोर्सिका, सीरिया के लोग इसी कारण दिखाई देते हैं। ये लोग अल्पसंख्यक हैं, कुल जनखंख्या के लगभग पंद्रह-बीस प्रतिशत होंगे। अफ्रीकी मूल के निवासी 40% होंगे और भारतीय मूल के निवासी अब 44% से अधिक हो चले हैं। धार्मिक दृष्टि से टुबैगो में सर्वाधिक लोग कैथोलिक हैं, ट्रिनिडाड की भी यही स्थिति है। उनके पश्चात् हिंदुओं की अधिकता है।

सन् 1962 में यह देश ब्रिटिश शासन से मुक्त हुआ और सन् 1976 में गणतंत्र घोषित किया गया। इस समय यूनाइटेड नेशंस (यू.एन.) का सदस्य है और 'कैरीकॉम' का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है।

इतिहास ने इस प्रकार यहां पर तीन प्रकार के जातीय मिश्रण को जन्म दिया जिसे ट्रिनिडाड की समन्वित संस्कृति कह सकते हैं। एक ओर स्पेनी, फ्रांसीसी, ब्रिटिश लोग

स्थानीय व्यवस्था में अपनी पहचान बनाए हुए हैं। वे अफ्रीकी अथवा भारतीय जातियों से संपर्क तो रखते हैं, किंतु ये संपर्क अभी तक घनिष्ठ तथा आंतरिक नहीं हो पाए हैं। शासक और शासित की मानसिकता उनकी दूरी बनाए हुए है। धर्मान्तरित भारतीयों (प्रेस बिटेरियन) के कारण यह दूरी अवश्य कम हुई, फिर भी यूरोपीय लोगों ने अलगाव बनाए रखा है। अफ्रीकी जाति के लोग प्रशासन संभालने के कारण महत्त्व रखते हैं। इस देश का शासन ब्रिटिश साम्राज्य के पश्चात् वे ही चला रहे हैं।

भारतीय जाति के लोग धन-संपन्न होने पर भी द्वितीय श्रेणी के नागरिक जैसे हैं। देश की अर्थव्यवस्था, व्यापार उन्हीं के हाथ में हैं, किंतु राजनीति में उनका वर्चस्व नहीं है। वे देश के भीतर धार्मिक, सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित करके संतुष्ट रहते हैं। भारतीय लोगों ने अपनी संस्थाओं के द्वारा जनजागरण का प्रयत्न किया है। इस कारण वे निरंतर भारत से प्रेरणा लेना चाहते हैं। अपने मूल स्रोतों को जानना उनका मुहावरा बन गया है। अफ्रीकी लोगों की अपेक्षा वे अधिक शांतिप्रिय हैं।

सन् 1976 में गणतंत्र घोषित होने पर एलिस क्लार्क यहां सर्वप्रथम राष्ट्रपति बनाए गए। इसके पूर्व वे ट्रिनिडाड के गर्वनर जनरल थे। नए संविधान के अनुसार देश का शासन पार्लमेंट चलाती है जिसके दो सदन हैं। उच्च सदन 'सीनेट' कहलाता है, इसमें सदस्य मनोनीत किए जाते हैं। निम्न सदन 'हाउस ऑव रेप्रेजेंन्टेटिव्स' कहलाता है जिसमें सदस्य जनता के द्वारा चुने जाते हैं। देश की वास्तविक पार्लमेंट यही है।

प्रति पांच वर्षों में यहां चुनाव कराने की प्रणाली बनाई गई है। चुनाव कराने के लिए सारा देश लगभग 36 मतदान क्षेत्रों में बांटा गया है। सन् 1962 में डॉ. इरिक विलियम्स प्रधानमंत्री बने। वे अपनी मृत्यु तक (सन् 1981) इस पद पर बने रहे। फिर जार्ज चैंबर्स प्रधानमंत्री नियुक्त हुए। सन् 1986 के चुनावों में दूसरी पार्टी (एन. ए. आर.) ने शासन सत्ता संभाली। अतः उसके नेता ए. एन. आर. रॉबिंस ने देश की बागडोर पकड़ ली।

इस बीच दो-तीन छोटे दल और स्थापित किए गए। सन् 1975 के आसपास यू. एल. एफ. अर्थात् 'यूनाइटेड लेबर फ्रंट' दल की स्थापना हुई जिसमें भारतीय मूल के सदस्य प्रमुख थे। सन् 1981 में दूसरा दल ओ. एन. आर. अर्थात् 'ऑरगेनिजेशन फॉर नेशनल रिकॉस्ट्रक्शन' बनाया गया। वर्ष 1989 में एक नए दल की घोषणा की गई है जिसे यू. एन. सी. अर्थात् 'यूनाइटेड नेशनल कांग्रेस' कहा गया है। माना जाता है कि अगले चुनावों तक यह दल प्रमुख विरोधी दल बन जाएगा क्योंकि एन. ए. आर. के अनेक रुष्ट नेता त्यागपत्र देकर इसमें सम्मिलित हो गए हैं।

यू. एन. सी. में भी भारतीय मूल के सदस्य अधिक हैं। इतिहास ने यह स्पष्ट किया है कि यहां भारतीय मूल के लोग जिधर झुकते हैं, उधर पलड़ा भारी हो जाता है। पी. एन. एम. के समय अफ्रीकी लोगों का वर्चस्व था। चीनी, सीरियन, यूरोपीय लोग उसका सर्मथन

करते थे, कुछ भारतीय लुके-छिपे उनका साथ देते थे। सन् 1986 में सत्ता दल अर्थात् एन. ए. आर. भारतीयों के बहुत समर्थन से विजयी हुआ। मंत्रीमंडल में एकाधिक मंत्री भारतीय समुदाय से लिए गए। फिर क्रमशः उसका भारतीय आधार कमजोर होने लगा। यही कारण है कि असंतुष्ट भारतीयों ने एक नया दल संगठित किया और यू. एन. सी. का जन्म हुआ। सन् 1991 में पी.एन. एम. पार्टी फिर से सत्ता में आ गयी और श्री पैट्रिक मैनिंग प्रधानमंत्री बने। सन् 1995 में हुए आम चुनावों में भारतमूल के श्री वासदेव पांडे की पार्टी यू. एन. सी. सत्ता में आ गयी और वे इस समय ट्रिनिडाड एवं टुबैगो के प्रधानमंत्री हैं।

स्थानीय इतिहास के साथ आर्थिक विकास जुड़ा हुआ है। 19वीं शताब्दी में यह कृषि प्रधान देश था। यहां चीनी, कोको, कॉफी, तथा 'साइट्रस' फलों का मुख्य उत्पादन किया जाता था। इनके बदले बाहर से अन्य वस्तुओं का आयात किया जाता था। सन् 1956 के पश्चात् डॉ. इरिक विलियम्स ने देश की प्रगति को औद्योगिक विकास के साथ जोड़ दिया। अब प्राकृतिक गैस तथा पैट्रोलियम की खोज की जाने लगी क्योंकि मशीनें चलाने के लिए यही पदार्थ आवश्यक थे।

सन् 1970 के आसपास तेल का मूल्य एकाएक बढ़ जाने के कारण त्रिनीदाद की कायापलट हो गई। आज विश्व प्रसिद्ध 'ट्रिनटॉक' (ट्रिनीडाट एंड टुबैगो आइल कम्पनी) इस उद्योग का प्रतिनिधित्व करती है। इसका मुख्य कार्यालय 'पाइंट-ए-पियरे' नामक स्थान पर है।

सन् 1987 के पश्चात् आर्थिक साधन सीमित होने लगे तो अनेक वस्तुओं का आयात बंद कर दिया गया। अब बाजार में सेव, आलू, नाशपाती जैसे फल तक नहीं मिलते। महंगाई निरंतर बढ़ने लगी है। गत वर्ष स्थानीय मुद्रा का अवमूल्यन किया गया ताकि धन संतुलन बना रहे और विदेशी मुद्रा-विनिमय (फॉरेन एकस्चेंज) का संकट उत्पन्न न हो। नौकरीपेशा लोगों (पब्लिक सर्विसेज) के वेतन में 10% कमी घोषित किए जाने के कारण असंतोष फैल रहा है। मजदूर संघ, अध्यापक संघ द्वारा हड़ताल करने की धमकियां दी जाने लगी हैं। कनाड़ा, अमेरिका के दूतावास अपने यहां वीसा देने पर रोक लगा रहे हैं क्योंकि ट्रिनिडाड के जनसाधारण बाहर चले जाते हैं।

फिर भी अन्य कैरेबियन द्वीपों की अपेक्षा यहां बेरोजगारी बहुत कम है। सामान्य रूप से जनता सुखी जीवन व्यतीत करती है। लोग लड़ना-झगड़ना पसंद नहीं करते। दैनिक कामकाज पूरा हो जाने पर वे अपने घर रहना पसंद करते हैं। सभी लोगों के पास रेडियो तथा टी.वी. हैं, आवागमन के लिए वाहन हैं, आवास-भोजन की सुविधाएं प्राप्त हैं। जीवन प्रणाली पाश्चात्य ढंग की होने के कारण लोगों का अधिकांश समय दौड़-धूप में बीत जाता है। ॠतु परिवर्तन प्रायः नहीं होता। इसलिए ट्रिनिडाड में लगभग बारहों महीने एक-सा मौसम दिखाई देता है।

स्वाभाविक है कि स्थानीय भूगोल और इतिहास ने जनजीवन को विशेष प्रकार से प्रभावित किया है। चूंकि यहां ठंड नहीं पड़ती है, अतः लोग हल्के और खुले हुए वस्त्र धारण करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव है कि आधी बुशर्ट और आधी पेंट पहनकर पूरा वर्ष व्यतीत किया जा सकता है। स्थानीय लोग सूट भी पहनते हैं, किंतु कोट, पैंट, टाई आदि विशेष अवसरों पर धारण किए जाते हैं। कार्यालयों में कर्मचारी 'जैकसूट' पहने मिलेंगे जिसे 'सफारी' कहते हैं। घरों में लोग बनियान, जांघिया पहने बैठे रहते हैं और प्रायः बनियान भी उतार देते हैं। आधी पेंट पहनकर वे आने-जाने वालों का स्वागत भी कर लेते हैं।

स्थानीय महिलाएं पश्चिमी ढंग के वस्त्र पहनती हैं। यही वस्त्र स्थानीय जलवायु के अनुकूल हैं। स्कर्ट, फ्राक का सामान्य प्रचलन है। विभिन्न डिजाइनों की अनुसार इन वस्त्रों के नाम बदल जाते हैं। प्रायः महिलाएं 'जीन्स' पहने मिलेंगी जिनसे बाहर-भीतर आते-जाते हुए सुविधा रहती है। भारतीय महिलाएं विवाह जैसे अवसरों पर साड़ी पहने दिखाई देती हैं। साड़ी पहनने का शौक इतना अधिक है कि वे भारत से नयी-नयी साड़ियां मंगाती हैं। इधर कुर्ता-सलवार और चुन्नी-दुपट्टा का प्रचलन बढ़ गया है। पुरुष धार्मिक अवसरों पर कुर्त्ता-पाजामा-धोती पहने दिखाई देते हैं। पंडित और पुरोहित हमेशा टोपी, कुर्ता, धोती धारण करते हैं। गले में तुलसी या रुद्राक्ष की माला और चंदन का टीका उनकी विशेष पहचान है। कपड़ा लेकर बाजार में दर्जी से वस्त्र सिलाना बहुत मंहगा है अतः सिले-सिलाए (रेडीमेड) वस्त्र पहनने की प्रथा सामान्य है।

इसी भूगोल और इतिहास ने न केवल स्थानीय खान-पान, रहन-सहन को प्रभावित किया बल्कि जीवन चिंतन को भी प्रभावित किया है। यहां के आमोद-प्रमोद, विचारधारा, सामाजिक संगठन सभी इस परिवेश के अनुसार ढले हुए हैं।

बात यह है कि किसी देश का समाज तथा उसकी संस्कृति मूलतः स्थानीय भूगोल से निर्धारित होते हैं। इतिहास समय-समय पर उनमें संशोधन, परिवर्धन करता है। समाज और संस्कृति एक गतिशील धारा की भांति प्रवाहित होते हैं। इसमें सब कुछ न तो भूगोल का दिया हुआ पुराना होता है, और न इतिहास का दिया हुआ सभी कुछ नया होता है। पुराना और नया अर्थात् भूगोल और इतिहास दोनों मिलकर उसके विकास का स्वरूप निर्धारित करते हैं।

इसलिए समाज अथवा संस्कृति के अध्येता को इतिहास की गहराई में जाना आवश्यक होता है। और इतिहास की गहराई में जाने के लिए भूगोल की पहचान अवश्य होनी चाहिए। यह बात विशेष रूप से ट्रिनिडाड के संदर्भ में लागू होती है। □

फॅटेल रोजॉक से दीवाली नगर तक

नरसलू रमाया

ट्रिनिडाड के प्रसिद्ध वायलन वादक, उत्कृष्ट संगीतकार, नाट्यकर्मी तथा संस्कृतकर्मी नरसूल रमाया की प्रतिभा से सभी परिचित हैं। उनकी बहुमुखी प्रतिभा की झलक प्रस्तुत आलेख में दृष्टिगत होती है।

सन् 1845 में जब फॅटेल रोजॉक बंगाल की खाड़ी में कलकत्ता बंदरगाह से अपनी ऐतिहासिक यात्रा पर निकला और पारिया की खाड़ी की ओर चल पड़ा और अपने 220 यात्रियों सहित पोर्ट ऑफ स्पेन के बंदरगाह में पहुंचा, उस समय भारतीय प्रवासियों के मुखमंडल विस्मय और आश्चर्य से दमक रहे थे। "क्या यह वही देश है जिसके बारे में हमें कई अच्छी और मोहक कहानियां सुनाई गई थीं?" उस समय वे निःसंदेह बहुत खुश हुए होंगे। वे एक नयी मंजिल की दहलीज पर खड़े, उस वातावरण से मुग्ध तथा आसपास के लोगों की नजर में किंकर्तव्यविमूढ़-से लग रहे थे और ऐसी असाधारण परिस्थितियों में घूम रहे थे जो उन्हें इतनी दूर ले आई थी। भारत के लोगों के लिए थोड़े समय के लिए अपना घर छोड़कर धन कमाने के लिए जाना और धन कमाकर अपने घर लौटना कोई असामान्य बात नहीं थी। परंतु उन्होंने ऐसा कभी नहीं सोचा था कि वे अपने घर से दूर सैकड़ों मील समुद्र पार कर संसार के इस कोने में आएंगे।

यह यात्रा उनकी कल्पना से पूर्णतः अलग थी। वे यह सोचकर और भयभीत हुए कि वे 'ब्लैक वाटर' या काला पानी को पार कर चुके हैं जो उन्हें उनके परिवार से काटकर उन पर बिरादरी से बाहर होने की मोहर लगा देगा। इस विदेशी भूमि पर अपनी स्थिति का आभास होते ही उनका सिर भारी होने लगा। लेकिन समय बीतने के साथ-साथ उनके कई जख्म भरने लगे और उनके रवैये और भावनाओं में परिवर्तन होने लगा। जिन्होंने इस नए वातावरण के अनुरूप अपने को ढाल लिया और नए जीवन की चुनौतियों को स्वीकार कर

लिया, उनके लिए वापस जाना संभव न था। अपने घर को पुनः न देख पाने के दुख से उनका मन पीड़ा से भर जाता था और इस पीड़ा को उन्होंने चुपचाप सह लिया और अंततः अपने जीवन को त्याग दिया।

मेरे माता-पिता भी मानसिक आघात के एक ऐसे ही दौर से गुजरे। हजारों लोगों की तरह उनका यहां आना भी उत्साह और दृढ़ निश्चय की एक कहानी थी और उन्हें इस बात की पूर्ण आशा थी कि एक दिन वे अपने देश में लौट जाएंगे। कई लोग ठेका और औद्योगिक आवास की अवधि समाप्त होने पर वापस चले गए। अन्य लोगों ने विवाह किया और परिवार सहित वहीं बस गए। धीरे-धीरे उन्होंने नए माहौल के अनुसार अपने को ढाल लिया और उन्होंने इस प्रकार ट्रिनिडाड के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ दिया क्योंकि उन्होंने देश की सामाजिक संस्कृति और आर्थिक विकास में सहयोग दिया। उन्होंने ट्रिनिडाड की सांस्कृतिक परिवेश में अपनी छाप छोड़ी और आज 150 वर्षों के बाद उनकी संस्कृति, संगीत और नृत्य, उनके रीति-रिवाज, उनके त्यौहार और उत्सव सांस्कृतिक वातावरण का एक अभिन्न अंग बन गए और हमारे सांस्कृतिक वैविध्य में नवीन आयाम जोड़ते हुए अपने देश की छवि निखारी और इस पर वे प्रवासियों से उपनिवेशी, कुलियों से प्रवासी भारतीय बन गए।

उस समय बागान मालिकों ने भारतीयों के कल्याण के लिए अथवा उनके रीति रिवाजों के प्रति थोड़ी-सी भी रुचि नहीं दिखाई। उन्होंने भारतीय परिवार को एक आर्थिक ईकाई माना और कार्य के प्रति उनके रवैये से उन्हें पहचाना, मनुष्य के रूप में उनके अन्य क्रियाकलापों को महत्त्व नहीं दिया। यहां तक कि उनके बच्चों की शिक्षा के मामले में भी यह महसूस किया गया कि जैसे ही बच्चा फावड़ा और चाबुक बोलने लगे उसे फावड़ा हाथ में देकर और उसके पीछे चाबुक लेकर उसे खेत में भेज दिया जाए।

नए जीवन के अनुरूप ढलते हुए ट्रिनिडाड में पहले पहल जाने वाले भारतीय अपनी संस्कृति को नहीं भूले।

वे अपने घरों और गांव को, संगीत को, अपने त्योहारों और धार्मिक अनुष्ठानों के गीतों—प्राचीन धरोहर के प्राचीन रीति-रिवाजों को अपने साथ लाए। इन लोगों ने समय के आघात का डटकर मुकाबला किया। पश्चिमी सभ्यता का थोड़ा-सा असर भारतीय रिवाजों पर भी पड़ा। भारत के कुछ अन्य लोगों के यहां से भाषा, खानपान, वेशभूषा तथा मान्यताओं, जिन पर असर पड़ सकता था, को नया बल मिला ताकि 1917 तक जब भारतीयों की अंतिम खेप यहां पहुंचे, अपनी संस्कृति से संपर्क बना रहे। यहां आने वाला अंतिम जहाज 'गंगा' था। परंतु यहां आने वाले पहले जहाज का नाम 'फॅटेल रोजॉक' था, जिसे पूर्वी भारतीयों के साथ-साथ मई फ्लावर के बारे में याद था। परंतु जहां मई फ्लावर धार्मिक पूर्वोपायों से बचाने के लिए अंग्रेजी तीर्थयात्रियों को लाया था वहां 'फटेल रोजाक' आर्थिक वंचना से बचाने के लिए भारतीय प्रवासियों को यहां लाया।

धीरे-धीरे नए माहौल के अनुरूप वे लोग ढल रहे थे। लेकिन उनका जीवन इतना आरामदेह न था। निश्चय ही उनका जीवन युद्ध के मैदान की तरह था। अपने कठोर जीवन के बीच उन्होंने यह महसूस किया कि उनकी संस्कृति की प्रथम गूढ़ अभिव्यक्ति-रामायण में ही सुख है।

रामायण से उनमें विश्वास और उत्साह का संचार हुआ। आत्मिक पुष्टि का यही एक साधन था क्योंकि वे एस्टेट की बैरकों में बैठकर छोटे-छोटे समूहों में मशाल या टिन के छोटे-छोटे लैंपों की टिमटिमाती रोशनी में रामायण के पद्य, दोहा या चौपाइयां गाते थे।

वे फाग, दिवाली और होसे के त्यौहार भी मनाते थे। होसे का त्यौहार सर्वप्रथम 1856 में फिलीपीन एस्टेट में मनाया गया। इन त्यौहारों से उन्हें बागानों में कोल्हू के बैल की तरह काम करने की दिनचर्या से राहत मिलती थी। उस एस्टेट में हिंदू विवाह के समय लोग अत्यंत आनंदित होते थे और इस समय वे परंपरागत रूप से संगीत और नृत्य का आयोजन करते थे। विवाह के बाद नववधू को अपनी मां की गोद में बैठाकर बाहों और छाती पर गोदने की भी प्रथा प्रचलित थी। यह कार्य घूमते हुए फेरीवाले करते थे और गोदते समय वे गीत और प्राचीन कथाएं सुनाते थे।

पहले पहल यहां आकर बसे भारतीय लोकगीत शैली में संगीत का आनंद उठाते थे। वे कज़री या चावल के खेतों के गीत और बैशाखी गीत गाते थे, जातां या चक्की में अनाज कूटते समय महिलाएं पिसोवनी गीत गाती थीं। पानी भरते समय पनिहारी गीत और कुम्हारों के कोहर गीत गाए जाते थे। जिन महिलाओं के पति यहां नहीं थे वे अकेली महिलाएं झूमर और लावनी गीत गाकर संतोष का अनुभव करती थीं, परंतु शाम को अपने बच्चों को सुलाते समय वे पूरी या लोरी गाती थीं। विवाह के समारोह में अलग-अलग मौके पर विवाह गीत गाए जाते थे। छठी के समय नर्सरी या सोहर गीत गाए जाते थे और बच्चे के जन्म पर बरानी उत्सव मनाया जाता था।

शुरुआती लोक परंपरा में ऐसे सैलानी पर्यटक होते थे जो खेतों व गांवों में से गुजरते हुए अपनी सेवाएं बेचते थे। वे कथाकार, मसखरे, गोदना बनाने वाले, और रिश्ते जोड़ने वाले होते थे। ये परंपराएं एक प्रकार से भारत में प्रचलित परंपराओं का ही प्रतीक थीं जहां कुम्हार और बुनकर दोनों मिलकर ऐसी जाति समूह का स्वरूप बनाते हैं जिन्हें भांड, नक्काल और मिरासी आदि अनेक नामों से पुकारते हैं। ये लोग भारतीय किसानों के घरों पर विवाह, जन्म और अन्य उत्सवों पर जाते थे तथा वहां पर उपस्थित दर्शकों का चुटकलों, गानों, नृत्य और संगीत के द्वारा मनोरंजन करते थे और इसके लिए उन्हें बदले में पैसा मिलता था।

शाम को खेतों पर भी बैरकों में रहने वाले लोग काम करते-करते किस्सा और कहानियां सुनने के लिए इकट्ठे होते थे और बैरक की छाया में अथवा बड़े पेड़ के नीचे अथवा चांदनी रातों में तारे भरे आकाश के तले अपनी गठरियों पर बैठ जाते। कथाकार

तोता-मैना, राजा विक्रम जी अथा सत्तुली की कहानियां सुनाते। ऐसी खूबसूरत रातों में बच्चे कबड्डी, पकड़ा-पकड़ी, चोर-सिपाही और हुल्ला जैसे खेल खेलते।

शताब्दी की शुरुआत में प्रथम विश्वयुद्ध से ठीक पहले भारतीयों गवैय्यों और संगीतकारों ने हमें वास्तव में पहली बार ऐसे गीत सुनाये जिन्हें आजकल शास्त्रीय गीत संगीत कहा जाता है। उनमें ध्रुपद, तिलाना, ठुमरी, गजल, होरी, दादरा, मारफत, बिहाग और भैरवी शामिल होते थे। वे सभी शास्त्रीय संगीत पटल के संपूर्ण दायरे में शास्त्रीय स्वरूप कहलाते हैं जो कि भारत से आनेवाले गवैय्यों द्वारा गाए जाते थे। उस वक्त जो वाद्ययंत्र बजाए जाते थे वे सारंगी, सितार, ढोलक, धनताल और मजीरा होते थे। तब तक हारमोनियम दृश्य पटल पर नहीं आया था। इस प्रकार का गायन 1920 एवं 1930 के दशकों में अपनी बुलंदियों को छूने लगा जब फिरामत, अलीजान, बेल बगाई और फकीर मोहम्मद जैसे गायक और इमामी धर्म गोसाई, रहीमुल्ला एवं झबवा जैसे संगीतकारों ने पूरे देश को सुंदर-सुंदर ठुमरी, गजल, होरी और भैरवी से झंकृत कर दिया। रात्रि में गायन कार्यक्रमों को सुनने के लिए लोग अपने गांवों से काफी दूर-दूर खच्चर गाड़ी, साइकिल से पैदल जाते थे। जब वे लोग इन गायकों और संगीतकारों, जिन्हें ट्रिनिडाड में भारतीय संगीत के पथप्रदर्शक एवं उनकी नींव रखने वाले व्यक्तियों के रूप में याद किया जाएगा, के गीतों और संगीत को सुनकर स्वयं को रोमांचित महसूस करते थे उस समय उन्हें संतोष की गहन अनुभूति होती थी।

उस समय नृत्य नाटक भी होते थे जो कि बहुत लोकप्रिय थे। उनमें इंद्रसभा, राजा हरिश्चंद्र, पितृभक्त श्रवण और गोपीचंद जैसे नाटक शामिल थे। इन नाटकों में गीत और नृत्य की भरमार होती थी। इन नाटकों द्वारा भगवान, राजाओं, साधु-संतों, परियों, राजकुमारों और भारतीय साहित्य के महान नायकों से संबंधित कहानियों का मंचन किया जाता था। इन नृत्यनाटिकाओं को प्रस्तुत करने वाले व्यक्तियों में सरजुद्दीन बेचन लल्ला और बेजोड़ अलीस जान जैसे लोगों के नाम आते हैं जिनके कथा सौंदर्य के बारे में इतिहास के पृष्ठ रंगे रहेंगे।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति ने एकाकी और अस्थिर माहौल में अपना अनिश्चित अस्तित्व बनाए रखा जिसका अपने मूलस्रोत से कोई संपर्क न था। पंडित बैनर्जी, मौलवी मुहम्मद हसन, एम. जैमिनी और अयोध्या प्रसाद जैसे प्रचारकों को यदा-कदा की गई यात्राओं के द्वारा संपर्क को बनाए रखने में सफलता मिली, यद्यपि वे पश्चिम भारतीय परंपराओं का प्रभाव पड़ने से रोक नहीं सके जैसा कि एक हिंदू देवी का अवतार मानी जाने वाली सुपारी माई की दंतकथा में प्रोद्भूत पुनर्व्यवस्था एवं समन्यवाद या होसे के मुहर्रम के त्यौहार में हुए मूलभूत परिवर्तन, जिसके अनुसार 1930 में एक समाचार की रिपोर्ट में वर्णन किया गया कि ताजिया ब्रह्माण्ड का प्रतीक है जिसमें राजा व शासक निवास करते हैं और आकृतियां तीन राजाओं मेल्कोर, गास्पर एवं बल्याज की हैं अथवा दीवाली महोत्सव, जिसके बारे में दूसरे समाचार-पत्र ने उस समय रिपोर्ट दी थी कि यह ईसाइयों के आल-सैन्टस उत्सव जैसा

ही एक दीपोत्सव है जिनमें सिर्फ यही अंतर है कि हिंदू अपना समारोह कब्रिस्तान की बजाए अपने घरों पर मनाते हैं अथवा होली उत्सव जिसे इंडियन कार्निवल बताया गया।

तीसरे दशक के मध्य में एक प्रवृत्ति पनपी और एक निश्चित दिशा बनने लगी। ट्रिनिडाड में पहली संपूर्ण भारतीय फिल्म 'बाला जीवन' का प्रदर्शन ऐतिहासिक घटना रही। यह भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक विभाजक बिंदु या जहां से एक नए युग और बदली हुई सांस्कृतिक परिस्थितियों की शुरुआत हुई। इसके बाद से तो ट्रिनिडाड में भारतीय फिल्मों की बाढ़-सी आ गई जिन्हें सजग सिने दर्शकों ने संरक्षण दिया।

फिल्मी गीतों एवं नृत्यों ने जनसमूह को झकझोर दिया और उन्हें भावविभोर कर दिया। फिल्मों के द्वारा उत्साही नवयुवकों को अपनी सुषुप्त प्रतिभा को निखारने की प्रेरणा मिली। इससे भारतीय संगीत को एक नया आयाम मिला, यह न तो लोक संगीत ही था और न शास्त्रीय ही, बल्कि यह एक प्रकार का नवोन्मेष था—आधुनिक संगीत था। इसने युवकों और वृद्धों को आकर्षित किया। नये गायक उभरे और जगह-जगह छोटी-छोटी संगीत मंडलियां पैदा होने लगीं। यह युग तारन प्रसाद और चम्पा देवी, भोला प्रसाद और हेनरी तुलूम दीनदयाल, सईद मोहम्मद और ईसाक यंकारण का युग था। यह नजीर मोहम्मद, एम.एम. अजीज, जीत सी. सहाय, एन. रमैय्या और अहमद खान जैसे संगीतकारों तथा सलीमुल्ला, बॉव वोकई, सुखराम एवं सोनी, चांदी जैसे ड्रम बजाने वालों का स्वर्णकाल था।

शनैः शनैः भारतीय संगीत पर पश्चिम का प्रभाव पड़ना आरंभ हुआ। लातिन अमरीकी ध्वनियों एवं लय ने आधुनिक भारतीय आर्केस्टा संगीत में अपनी घुसपैठ करनी शुरू कर दी। किंतु यह प्रक्रिया यहीं आकर नहीं ठहरी है, परिवर्तन की गति ने भारतीय संगीत के विकास को इतना तीव्र कर दिया है कि आज भारतीय आर्केस्टा ने एक और कदम आगे बढ़ाया है, क्योंकि आधुनिक काल के रॉक एंड रोल संगीतज्ञों के पॉप और डिस्को संगीत को बजाने के अतिरिक्त, उन्होंने भारतीय संगीत को कैलिप्सो और सोका धुनों के साथ गूंथ दिया है और इसके गीतों को हिंदी एवं अंग्रेजी शब्दों के मिश्रण से ओतप्रोत कर दिया है।

भारतीय गीतों की स्थानीय धुन संयोजन से इस स्वरूप का पता चलता है। ऐसी धुनें भारतीय शादी-ब्याह जैसे विशिष्ट अवसरों पर बजाई जाती हैं जहां पर सर्वकालीन ढोल तासे के अलावा, आधुनिक भारतीय आर्केस्टा भी लाउडस्पीकर पर अपनी धुनें जोर शोर से बिखरेते हैं और उपस्थित जन समुदाय उसका आनंद उठाते हैं।

भारतीय संगीत विश्व के किसी भी संगीत से अलग किस्म का है। इसकी जड़ें धर्म एवं दर्शन में छिपी हैं। भारतीय संगीत की मौजूदगी मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा सभ्यता की प्राक्-आर्य द्रविड संस्कृतियों के प्राचीन एवं समृद्ध अतीत में खोजी गयी हैं।

हजारों वर्ष गुजर गए हैं और बदलाव आए हैं जिसके चलते सांस्कृतिक स्वरूप बदल गए हैं और संगीत भी सैकड़ों वर्षों से मंदिरों के नादों से होता हुआ लोक संगीत तथा फिर

शास्त्रीय रूप ले चुका है। इस प्रकार से ट्रिनिडाड में संगीत का आगमन हुआ, उसमें लोक संगीत एवं कुछ शास्त्रीय संगीत का मिश्रण है।

ट्रिनिडाड में पूर्वी भारतीय संस्कृति का प्रभाव मुख्य रूप से अनेक उत्सवों और समारोहों तथा उनके गीत-संगीत एवं नृत्य में झलकती है। यूं तो उनकी सांस्कृतिक परंपराओं ने वर्षों से अपना अस्तित्व बनाए रखा है, फिर भी हमारे माहौल का भारतीय संस्कृति के कुछ पहलुओं पर अवश्य प्रभाव पड़ा है। किंतु यह कोई अलग-अलग पड़ जाने वाला विषय नहीं है। अनेक बहु सांस्कृतिक समुदायों में परस्पर सांस्कृतिक संवाद तो बराबर और धीरे-धीरे होते ही रहे हैं। ऐसी गतिविधियां और परिवर्तन जैसा कि आज ट्रिनिडाड में हो रहा है, दवाब के तहत नहीं होने चाहिए। उन्हें तो स्वयं ही उनकी दिशा में प्रवाहित और विकसित होने देना चाहिए।

भारतीय संस्कृति ने पिछली शताब्दी के मध्य से लेकर आज तक एक लंबा रास्ता तय किया है। लोगों ने जिस प्रकार से दीवाली नगर के प्रति अपना उत्साह दर्ज किया है, उससे प्रतीत होता है कि इस देश के सभी लोगों पर भारतीय संस्कृति का कितना जबरदस्त असर है। हमारे इतिहास में ऐसा कभी नहीं हुआ है कि कुंभ मेले में होने वाली जबरदस्त भीड़ के समान ही लोग-बाग इतने उत्साह एवं जोश के साथ किसी सांस्कृतिक अवसर पर उमड़े हों और इतने जबरदस्त ढंग से पूरे दृश्य को निहार रहे हों और आत्मसात कर रहे हों। दीवाली नगर एक सांस्कृतिक तीर्थ था जहां पर लोगों की आकांक्षाएं एवं लालसाओं ने मूर्त रूप लिया। इस अवसर पर भारतीय संस्कृति के प्रत्येक पहलू को उजागर किया गया जिसमें श्रीराम भारतीय कलाकेंद्र के कलाकारों द्वारा प्रस्तुत रामायण नृत्य नाटिका का प्रदर्शन एक शानदार उपलब्धि थी जिसने हजारों लोगों को भावविभोर कर दिया।

मैं अपनी बात दीवाली नगर के बारे में इन शब्दों का उल्लेख करते हुए करना चाहूंगा जिन्हें 'बार्ड ऑफ एवन' ने अमर बना दिया है। ये वे राष्ट्र भक्ति की पंक्तियां हैं जिन्हें 'बार्ड ऑफ एवन' के रिचर्ड II में जॉन ऑफ गाउंट ने कहा है। मैंने इन पंक्तियों को कुछ संशोधन के साथ रूपांतरित किया है :

यह है अयोध्या का राज सिंहासन
यह है राज भूमि
राम का सिंहासन, यह है राजा की पृथ्वी,
यहां है दूसरा ईडन, स्वर्ग की भांति,
इस धरा का यह पुण्य स्थल,
आशीर्वचनों से झंकृत यह नगर,
जहां निवास है अच्छाई का और आनंदित है मानवता।

□

ट्रिनिडाड में भारतीय संगीत

मनशाद मोहम्मद

संगीत-साहित्य और कला देश की सीमाओं को नहीं मानते हैं। ट्रिनिडाड के संगीत-क्षेत्र में प्रख्यात मनशाद मोहम्मद भारतीय संगीत को वहां के परिवेश में देख रहे हैं।

भारत से कैरेबियन में पहली-पहल भारतीयों को लाने वाले जहाज के आगमन के साथ ही महान सांस्कृतिक युग का उदय हुआ।

इन प्रवासी भारतीयों ने खेतों में काम करते हुए और सब्जियों के बागों में खेती करते हुए खेतिहरों के रूप में अपना जीवन सादगी से बिताया। उन्होंने अपने आर्थिक विकास के लिए निरंतर संघर्ष किया पर उनके पास अत्यंत अल्पधन ही बचत रूप में मौजूद था। उनमें से कई लोगों ने वापस आने की योजना बनाई परंतु पैसों की कमी के कारण वे कैरेबियन में ही बस जाने के लिए विवश थे।

मुख्यतः बिहार, उत्तर प्रदेश, बंगाल और मद्रास के अतिरिक्त भारत के कई भाषा क्षेत्रों से आए भारतीय विभिन्न प्रकार की बोलियां बोलते थे परंतु उनके बीच सूचना व परस्पर विचारों के आदान-प्रदान और संगीत की सामान्य भाषा हिंदी ही थी। विभिन्न स्थानों पर भाषा और संगीत का महत्व भी अलग-अलग था। उन्होंने विभिन्न प्रकार के गीत गाए जिनमें फसल काटने, लोक विचार एवं धार्मिक विषयों पर बल दिया जाता था। डेढ़ लाख से अधिक लोग ट्रिनिडाड, गुयाना और सूरीनाम में जाकर बस गए। कुछ प्रवासी भारतीय बारबोडोस, बेलीज, क्यूबा, डोमिनिक फ्रेंच गयाना, ग्रेनेडा, ग्वाडलूप, जमैका, मार्टिनिक, सेंट किट्स, सेंट लूसिया, सेंट विंसेंट और यू.एस. विर्जिन आइलेंड्स में भी बसे हुए हैं। आज लोग इन स्थानों से यूनाइटेड स्टेट्स, कनाडा, यूरोप आदि देशों में जाकर भी बस गए हैं।

इनमें से कई प्रवासी अपनी मातृभाषा को भूल चुके हैं परंतु इसके बावजूद आज भी उनकी भारत के विभिन्न प्रांतों में संगीत, गीत और नृत्यों में अत्यधिक रुचि है।

इन वर्षों में उनकी रुचियां कैसी रहीं यह वस्तुतः एक दिलचस्प प्रश्न है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ही पूर्वी भारत की फिल्मों की लोकप्रियता से 'थिएटर गीतों' की प्रधानता बढ़ी। मौहम्मद रफी, लता मंगेशकर, मुकेश, हेमन्त कुमार, आशा भौंसले जैसे गायक और अन्य निपुण गायकों के मेजबान स्थानीय रेडियो स्टेशनों के द्वारा इनके गीतों से अपना तथा अन्य साथियों का मनोरंजन करते रहे। 'दुलारी', 'नागिन', 'दीदार,' 'मदर इंडिया', 'अंदाज' आदि फिल्मों ने यादगार गीत दिए जो आज भी निरंतर लोकप्रिय हैं।

संगीतात्मक परिदृश्य की गूंज और मिठास केवल सुनहरे पर्दे और वीडियो तक सीमित नहीं रही। यद्यपि इनकी चमक शास्त्रीय संगीत के संरक्षण और कृतित्व में भी पाई जाती है। शादी ब्याह के मौके पर और खास तौर पर शादी से पहले की रात जिसे कुकिंग नाइट कहते हैं, शास्त्रीय संगीत के द्वारा और परंपरागत संगीत का आनंद उठाते हैं। कई वर्षों तक स्मृति मात्र से ये लोग शास्त्रीय संगीत का गायन करते रहे। ये गायक हारमोनियम, ढोलक और धनताल लेकर सारी-सारी रात बिना किसी पारिश्रमिक के गाते रहते थे। स्थानीय गायक दादरा, मारफत, तिलाना, भैरवी, होरी, विहाग, ठुमरी, द्रुपद और गजलें गाते रहे। ये गीत सोलहवीं शताब्दी के अकबर के दरबार से शुरू हुए थे जब उर्दू और हिंदी, संस्कृत का स्थान ले चुकी थी।

इसमें कोई अचरज नहीं कि कई वर्षों से हिंदू अथवा मुस्लिम पृष्ठभूमि वाले गायकों ने अपने-अपने धर्म गीतों पर बहुत कम ध्यान दिया अथवा वे केवल अपने धर्म-गीतों तक सीमित नहीं रहे। वास्तव में संगीत ने ही लोगों को मिलकर रहना सिखाया। रेडियो कार्यक्रम की शुरुआत से गुयाना के ईसरी सिंह और अयूब हमीद तथा ट्रिनिडाड के मोहम्मद बंधु (कमाल और मोइन) एवं फरजान अली, पैट मथुरा और हंस हनुमान सिंह जैसे पथ प्रदर्शकों ने भारतीय संगीत में अत्यधिक रुचि दिखाई। परंतु अभी सर्वोत्कृष्ट समय नहीं आया था। ट्रिनिडाड में 'मस्ताना बहार' नामक टेलीविजन कार्यक्रम ने बिजली की तरह इस द्वीप का संगीताकाश प्रकाशित कर दिया। देश के हर कोने से कलाकार आये और उन्होंने न केवल फिल्मी और शास्त्रीय गीत गाए अपितु उन्होंने भारतीय संगीत को विभिन्न आधुनिक इलेक्ट्रिकल उपकरणों पर भी प्रस्तुत किया। इससे निश्चय ही युवा लोग आकर्षित हुए और परंपरागत संगीतात्मक रंग पटल में भी सुखद परिवर्तन हुआ। इस नवीन स्थापित रुचि से, नए संयोजन में सृजनात्मकता और अधिक सुस्पष्टता आई, कुछ नए गीतों में पूर्वी भारतीय राग, केलिप्सो और सोका बीट की लयात्मक ध्वनियों सहित हिंदी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं को संयुक्त रूप से शामिल किया गया। गीत और संगीत में परिवर्तन की जागरूकता इतनी नाटकीय ढंग से हुई कि भारतीय शास्त्रीय संगीत की 'शुद्धता' के बारे में चर्चा होने लगी क्योंकि इनमें कई गीत स्थानीय रूप से ही रचे गए थे और अनेक लोग इसके भविष्य के प्रति आशंकित

होने लगे। तथापि वहां सभी के लिए वे पर्याप्त वैविध्यपूर्ण संगीत था जिसका सभी ने आनंद उठाया और जिसका भविष्य बहुत आशा जनक ही नहीं, अपितु उज्जवल है।

परंपरागत रूप से हिंदू विवाह समारोह अत्यंत धूमधाम से मनाये जाते हैं। महिलाओं द्वारा धार्मिक अनुष्ठान के विभिन्न अवसरों पर उपयुक्त गीत गाना समारोहों का अभिन्न अंग बन गया है। बारात आने और डोली जाने के समय भारतीय गीत लाउड स्पीकर से गाए जाते हैं। "दुल्हनियां ले जायेंगे" जैसे गीत उन्हें अब भी याद हैं। "रामायण यज्ञ" करने और पवित्र रामायण पढ़ते समय भी गीत और संगीत का आश्रय लिया जाता है। मुस्लिम समुदाय में भी कुछ मुसलमान गायक "माउ शरीफ" गाने के लिए एकत्रित होते हैं। हर कोई यह जानकर हैरान हो जाएगा कि फिल्मों सहित विभिन्न समारोहों पर कई श्रोता पूरी तरह से हिंदी और उर्दू समझ न पाने पर भी इन गीतों का आनंद उठाते हैं। यदि हिंदी और उर्दू बोलकर व लिखकर इस भारतीय संस्कृति के रूप में बनाये रखना है तो कोई भी प्रवासी भारतीयों की इस आवश्यकता को समझ सकता है। कई गीतों के गूढ़ अर्थों को समझने के लिए भाषा का ज्ञान आवश्यक है। संगीत और काव्य (अर्थात् गजलों) में भी भाषा के बढ़ते हुए प्रसार और विवेचनात्मक विश्लेषण से अपनी संस्कृति और वस्तुतः भाषा को बचाए रखना और भी अधिक अर्थपूर्ण तथा महत्व का हो जाता है।

साधारण लोगों ने जिन्हें संगीत की औपचारिक रूप से शिक्षा प्राप्त नहीं की है और जिन्होंने संगीत कला के लिए अपना संपूर्ण जीवन लगा दिया है, भारतीय कैरेबियन संगीत की दुनिया के लिए अपनी पैतृक संपत्ति तक छोड़ दी है। लेखन और परंपरागत रूप से संगीत द्वारा इस विरासत को समृद्ध बनाना हमारे लिए आवश्यक है। शुद्ध शास्त्रीय परंपरागत तथा देशीय उपकरणों का निरंतर उपयोग करने की आवश्यकता के महत्व को भी कम नहीं आंका जा सकता। आर्केस्ट्रा में विविध प्रकार के असली उपकरणों—जैसे वीणा, सितार, बांसुरी, संतूर, सुरमंडल के स्थान पर पश्चिमी और इलैक्ट्रोनिक उपकरणों का उपयोग भी खूब हो रहा है। हम परिवर्तन के युग में जी रहे हैं। और यह स्पष्ट है कि विभिन्न क्षेत्रों में परिवर्तन हो रहे हैं। हम जितने सृजनशील होंगे उतने ही अर्थपूर्ण एवं परंपरागत गीत हिंदू और मुस्लिम संस्कृति पर आधारित होंगे।

वर्षों से लिखे और गाए गए विभिन्न गीत रामायण और भगवद् गीता का संदेश देते हैं। मुस्लिम कथाओं और घटनाओं पर आधारित गजलें, कव्वालियां और काव्यात्मक और रोमांटिक गीत किसी से कम नहीं हैं।

विशेषतः सूरीनाम, गुयाना और ट्रिनिडाड में उत्पन्न संगीत का अत्युत्तम मानक कई वर्षों से बरकरार है। समय-समय पर द्वीपव्यापी शास्त्रीय गायन प्रतियोगिता इस आंदोलन को गतिशील बनाते हैं। ग्रामवासियों द्वारा चौताल, तासा ड्रमिंग नृत्य एवं 'टेन्ट गायन' से सबकी रुचि इनमें बढ़ती जा रही है और इस प्रकार हमारी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत बुलंदियों तक पहुंचने के लिए निरंतर प्रयासरत है। □

ट्रिनिडाड में हिंदी—1845 से आज तक

रामचन्द महाराज

रामचंद महाराज तथा ट्रिनिडाड में हिंदी के विकास को पर्याय माना जाता है। वहां की समस्त गतिविधियों से गहरे जुड़े कर्मठ हिंदी सेवी, समाजशास्त्री तथा रंगकर्मी रामचंद महाराज ट्रिनिडाड में सन् 1845 से आज तक की हिंदी विकास यात्रा से हमें परिचित करा रहे हैं।

इस वर्ष दीवाली नगर का आदर्श वाक्य "जहाजी—एक यात्रा" है और इसी के अनुरूप, हिंदी भाषा के अस्तित्व की स्थिति में मूल्यांकन का प्रयास किया जाएगा जो भारतीय गिरमिटिया मजदूरों के साथ यहां पहुंची थी। सर्वप्रथम, ब्रिटिश सरकार ने अनेक अन्य देशों अर्थात् चीन, माड़िया, सीयरा-लियोन और यहां तक कि ब्रिटेन से भी शर्तबंद मजदूरों को यहां लाने का प्रयास किया। भारत सरकार इसके लिए इच्छुक नहीं थी, लेकिन 1845 में ब्रिटेन ने अंततः भारत सरकार को आप्रवासन तथा शर्तबंद मजदूर प्रणाली को सहमति प्रदान करने के लिए राजी कर लिया।

प्रवासी भारतीयों में से अधिकांश पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बिहार से आए। उनमें से अनेक, पूर्वोत्तर भारत की भाषा भोजपुरी की विभिन्न बोलियां बोलते थे। भारतीय भोजपुरी भाषा ग्रामीण बोलियों का अर्द्धसाहित्यिक स्वरूप है, जो शैलीगत ढंग में हिंदी से अलग होने के बावजूद शाब्दिक संरचना में काफी हद तक हिंदी के अनुरूप है। प्रवासी भारतीयों द्वारा लाई गई भोजपुरी भाषा मानक हिंदी के विकृत रूप में केवल बोली ही रह गई न कि अपने आप में एक भाषा। वेस्टइंडीज में लाई गई अन्य देशीय भाषाएं थीं पंजाबी, बंगला, तमिल, गुजराती, तेलुगु तथा इनकी बोलियां। लेकिन, "ट्रिनीडाड के भारतीयों के बीच प्रमुख भाषाएं रहीं—ब्रजभाषा (पश्चिमी हिंदी), अवधी (पूर्वी हिंदी) और भोजपुरी।

ट्रिनीडाड के बचे हुए पुराने भारतीयों में भोजपुरी सर्वाधिक प्रचलित बोली रही।"

वर्ष 1917 में शर्तबंदी की अवधि के समाप्त होने तक कम-से-कम 143,000 प्रवासी भारतीय कैरेबियन आ चुके थे जिनमें से अधिकांश गयाना और ट्रिनीडाड में बस गए। यहां भारतीयों का उत्साहपूर्वक स्वागत नहीं किया गया अपितु उनके प्रति अत्यधिक विरोध प्रकट किया गया। दास प्रथा के अंतर्गत आए पूर्ववर्ती गुलाम उनसे अप्रसन्न थे और इन भारतीयों को अपनी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिरता के लिए खतरा समझते थे। उनमें से अधिकांश गुलामों ने बागान छोड़ने का विकल्प दिया। यदि सस्ती दरों पर श्रमिक उपलब्ध नहीं होते थे तो बागान-मालिकों को मजबूरन उन्हें अर्थात् पूर्ववर्ती गुलामों को उच्च वेतन देना पड़ता था। भारतीय प्रवासियों ने सस्ती दरों पर श्रमिक उपलब्ध कराए और "वास्तविकता तो यह है कि अफ्रीकी लोग भारतीयों को नए गुलामों के रूप में तिरस्कृत भाव से देखते थे।"

शुरू में भारतीयों को अन्य लोगों के बराबर का दर्जा नहीं दिया गया। आमतौर पर, केवल सामाजिक संपर्क के अलावा सरकारी सीमाओं के बाहर समाज के वर्गों के साथ उनका कोई संपर्क नहीं रहता था और उन्हें अकेले उनके हाल पर छोड़ दिया जाता था। उनके लिए सरकार की ओर से प्रदान करने का शिक्षा कार्यक्रम नहीं बनाया जाता था जिसके परिणामस्वरूप अंग्रेजी सीखने के लिए उनमें थोड़ा-सा उत्साह जागृत हुआ और उसकी जरूरत महसूस हुई। भारतीय जनसमूह में हुए परिवर्तनों को समझने में तथा यह मानने में कि भारतीय यहां रहने के लिए आए हैं, ट्रिनीडाड समाज को काफी समय लगा। उन्होंने भारतीयों के प्रति बिल्कुल विद्वेषपूर्ण वातावरण बना दिया था और जैसे-जैसे समय बीतता गया तथा यह स्पष्ट हो गया कि वे वहां के अभिन्न अंग बन जाएंगे, समाज की सद्भावना उनके प्रति कम होती गई। विभिन्न समुदाओं के बीच बहुत कम संपर्क था और भारतीयों को निम्नतम सामाजिक-आर्थिक स्तर पर रखा गया था। यह एक अनिवार्यतः महत्त्वपूर्ण पक्ष था जिसके कुछ कारणों का उल्लेख नीचे किया गया है।

प्रारंभ में, शर्तबंद भारतीय मजदूरों को अपमानजनक स्थितियों में रहने के लिए बाध्य किया गया जिससे वे निम्न श्रेणी के दीन-हीन प्राणी प्रतीत होते थे। अनेक कानून बनाकर उनके कार्यों तथा गतिविधियों को प्रतिबंधित किया जाता था। वे अपनी अनुबंधित अवधि के अंत तक, कम वेतन पाने वाले खेतिहर मजदूर बने रहे। 1884 से गन्ने के बागानों की स्थिति खराब होने पर उनमें से अनेक शहरों में आ गए जहां उन्होंने बहुत कम वेतन वाले, निम्न समझे जाने वाले जैसे सफाई कर्मचारियों और पोर्टर का काम किया।

बागान मालिकों द्वारा उपलब्ध कराई गई बैरकों में अस्वास्थ्यकर वातावरण था और निवासियों की संख्या बहुत अधिक थी जिसकी वजह से महामारियां, विशेष रूप से मलेरिया और पेट के कीड़ों जैसी बीमारियां फैल गईं। "संक्षेप में, बल प्रयोग—शर्तबंद मजदूरी,

भारतीय जनसमूह का कानूनी अलगाव, उनकी जटिल आर्थिक स्थितियां, उनके द्वारा किए जाने वाले निम्न स्तर के कार्य, इन सब कारणों से ट्रिनीडाड-समाज के सभी वर्ग उन्हें दीन-हीन मानने लगे।" ट्रिनीडाड में भारतीयों के इतिहास में उनके विरुद्ध कार्य कर रही सामाजिक शक्तियों को पूर्णतया समझने के लिए इन बातों को जानना बहुत जरूरी है। आश्चर्य की बात तो यह है कि इन तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद उनका पूर्ण विसंस्कृतिकरण नहीं हुआ। भारतीयों की धार्मिक एवं सांस्कृतिक धारणा की क्षति से उनकी भाषा भी नष्ट हो गई होती। ट्रिनीडाड में इस्लाम तथा हिंदुत्व के प्रति सरकारी दृष्टिकोण से उनका तिरस्कारपूर्ण रवैया झलकता था। सरकारी तौर पर भारतीयों का उल्लेख 'हमारा गंवार जनसमूह' के रूप में किया जाता था। सरकारी अनुदान केवल ईसाई संप्रदाय के लिए ही दिए जाते थे, मुस्लिम और हिंदू विवाहों को 1945 तक कानूनी मान्यता नहीं दी गई थी, जिसका परिणाम यह था कि अधिकांश भारतीय जनसंख्या तकनीकी रूप से अवैध मानी जाती थी।

मिशनरियों द्वारा दी गई पश्चिमी शिक्षा का भारतीयों ने लाभ उठाया, लेकिन धर्म परिवर्तन की गति धीमी थी। हिंदू इस बात को स्वीकार करते थे कि उन्हें तथा अन्य धर्म के लोगों, दोनों को ही पूजा की समान आवश्यकता थी और इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए अन्य धर्मों द्वारा अपनाए गए तरीके का वे सम्मान करते थे। लेकिन हिंदू जिस बात से नाराज थे वह थी ईसाई धर्म की आक्रमणशील प्रवृत्ति और इनके द्वारा गैर-ईसाई पंथों की निंदा।

हिंदू पुरोहितों (पंडितों) ने भी इस अपने धर्म को जीवित रखने में काफी हद तक मदद की। भारतीय संप्रदाय के विभिन्न समूहों ने कुटिया और सभाएं बनाईं और नियमित मासिक कथाएं (प्रवचन) आयोजित कीं तथा बच्चों को भी उनमें भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया गया। इन समूहों ने हिंदी में कक्षाएं भी आयोजित करनी शुरू कीं, यद्यपि इनमें विद्यार्थियों की संख्या कम होती थी। अनेक संगठनों की शुरुआत की गई जिनमें कुछ धार्मिक थे और कुछ सांस्कृतिक। सनातन धर्म महासभा ने स्कूलों का निर्माण करना शुरू किया और देश के आसपास हिंदू मंदिरों के क्रियाकलापों को समन्वित किया। यद्यपि इन स्कूलों को हिंदू स्कूल कहा जाता है और सनातन धर्म महासभा को देश में हिंदुओं की प्रतिसंस्था के रूप में सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त है, लेकिन यह सर्वविदित है कि देश के अनेक हिंदुओं में हिंदी, हिंदुत्व और संस्कृति की प्रगति में सनातन धर्म महासभा का योगदान नगण्य रहा है।

आर्य प्रतिनिधि सभा, जिसे आर्य समाज के रूप में ज्यादा जाना जाता है, ने अपने सदस्यों के बीच हिंदुत्व को अमर बनाए रखा। एक अन्य धार्मिक समूह डिवाइन लाइफ सोसाइटी की भी समग्र देश में कई शाखाएं हैं। यह हिंदुओं के धर्म को बढ़ावा देता है। भारतीय विद्या संस्थान एक ऐसा संगठन है जिसने ट्रिनीडाड में भारतीय संस्कृति को आगे

बढ़ाने के लिए काफी कार्य किया। भारतीय गीत और संगीत के कार्यक्रम भी रेडियो पर आने शुरू हो गए। अनेक गीत-भजन प्रतियोगिताओं ने संस्कृति को जीवित रखा। हाल ही में, गायकों से अनुरोध किया गया है कि वे अपने गीतों का अंग्रेजी में अनुवाद करें। इससे निःसंदेह हिंदी के प्रसार में सहायता मिलेगी चाहे वह केवल थोड़ी-सी हो। हिंदी निधि ट्रिनीडाड और टुबैगो का मुख्य उद्देश्य समूचे राष्ट्र में हिंदी शिक्षण को बढ़ावा देना है। राष्ट्रीय उच्च शिक्षा संस्थान (अनुसंधान, विज्ञान और प्रौद्योगिकी) निहरस्ट ने भी शिक्षकों के लिए हिंदी में एक गहन कार्यक्रम शुरू किया। भारतीय उच्चायोग में भी हिंदी में कक्षाएं चलाई जाती हैं।

अनेक हिंदी शब्द और मुहावरे समाज में आमतौर पर इस्तेमाल किए जाते हैं। खाद्य, उत्सव और धार्मिक मदों आदि के नाम आम हो गए हैं। इनमें से कुछ हैं—रोटी, भाजी, बैंगन, आलू, कढ़ी, दीवाली, होसे, फगवा, दीया, दूल्हा, कूर्मा, चना, पूजा, नाना और हलाल। यदि इन शब्दों का इस्तेमाल भारतीयों द्वारा किया जाता है तो इसमें उन्हें कुछ झिझक होती है अथवा वक्ता महसूस करता है कि श्रोताओं को उसका अर्थ समझना होगा।

इन सब क्रियाकलापों से, जिसमें हिंदी और सामान्यतः भारतीय संस्कृति शामिल हैं, देश में भाषा के अंतिम रूप से लुप्त हो जाने का विचार कठिन है। हिंदी के अस्तित्व को सुनश्चित करना होगा। इसे करने का एकमात्र तरीका है कि भारतीय समुदाय इसके अस्तित्व को सुनिश्चित करने के लिए स्वयं उपाय करें। 1845 से उनका इतिहास इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि अपने मामलों की देखभाल उन्हें स्वयं करनी होगी और उन्हें इस बात की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए कि न्याय एवं समानता में विश्वास रखने वाली सरकार उनकी संस्कृति एवं भाषा की रक्षा के लिए कार्य करेगी। □

कैरेबियन में भारतीय संस्कृति

देव करनहन एवं हैरी प्रसाद

आज से 150 वर्ष पूर्व से अधिक जब हिंदुस्तानी जहाज त्रिनिडाड के किनारों पर आ रुका था तो भारतीय संस्कृति की गंध को भी साथ ले गया था। वर्तमान में उसी गंध का परिचय दे रहे हैं ट्रिनिडाड के प्रसिद्ध चिंतक एवं संस्कृति कर्मी देव करनहन तथा हैरी प्रसाद।

मानव की एकमात्र विशेषता उसकी सभ्यता है। इस प्रकार प्रत्येक सभ्यता में विचार और अनुभव के जटिल स्वरूपों के अंर्तगत विश्वास और मूल्यों के रूप में व्यक्त उद्भावों का उचित भाग समाहित है। यह सभ्यता ही है जिसके द्वारा मानव अर्थपूर्ण घटनाओं रूपी परंपराओं के अविरत क्रम के रूप में अतीत के बारे में संक्षेप में बताने, वर्तमान को समझने तथा भावी योजनाएं बनाने में समर्थ हुआ है।

हम भारतीय-कैरेबियन पृष्ठभूमि वाले लोगों का अपना एक अतीत है जो कैरेबियन से परे सुदूर प्राची भारतीय उप महाद्वीप में चला जाता है। परंतु इतिहास में इस समय हमारा ध्यान इस तथ्य पर केंद्रित रहा है कि अपनी क्षमता का संरक्षण किया जाए, नवीन एवं समयोचित व्यवहारिक ढांचे को अपनी सभ्यता में नया रूप दिया जाए तथा उसे आत्मसात किया जाए जिससे हमारा जीवन एकमात्र रूप से शांत एवं संपूर्ण हो जाएगा।

वस्तुतः यह हमारा सौभाग्य है कि हम दो विशेष संस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इससे (पूर्वी और पश्चिमी) हम सर्वोत्तम स्थान पाने तथा दोनों के बदतर स्वरूप को अलग फेंक देने की स्थिति में आ जाते हैं। यही कारण है कि भारतीय कैरेबियन सभ्यता

मूलभूत रूप से इस क्षेत्र में एक मात्र है, मोनो-केसुएल्टी और नियतिवाद की संकीर्णताओं से मुक्त है।

इस उप महाद्वीप की कई भाषाएं हैं जिन्हें कैरेबियन में भारतीयों द्वारा उपयोग में लाया जाता था, अब लुप्त हो चुकी हैं। हिंदू और मुस्लिम नवीन विचारों के साथ-साथ पुरानी विचारधाराओं को अपनाते हुए अब कैरेबियन भारतीय के रूप में जाने जाते हैं। पंडित और मौलवियों को भाषा वैज्ञानिक तथा दर्शन वैज्ञानिक रूप से प्रशिक्षित किया गया है ताकि वे अतीत को जानने के इच्छुक लोगों को अतीत के बोध-वचनों से अवगत करा सकें। परम गहन अवधारणाओं और उदात्त विचारों की व्याख्या कर उसे उनकी भाषा में समझा सकें।

दुर्भाग्य से इनके कुछ मूल अर्थ अनुवाद में गुम हो गए हैं परंतु आशावादी तत्व के रूप में नवीन विचारों का उदय हुआ जिससे प्राचीन विचारधाराएं समृद्ध हुई तथा जिनसे सांस्कृतिक विस्तार की संभावनाएं और इनका संयोजन अप्रत्यक्ष रूप से अपरिमित हुआ है। अर्थात विद्यमान परिस्थितियों में हमारे सांस्कृतिक विकास और चिर जीवन की कोई सीमा नहीं है। हमारे पूर्वज निश्चय ही इसे तब समझ गए होंगे जब उन्होंने मानव जीवन में व्याप्त विचारों की कई मुक्त पद्धतियां विकसित कीं। उदाहरणार्थ एक हिंदू की नजरों में, एक अच्छा ईसाई या एक अच्छा मुसलमान स्वतः ही एक अच्छा हिंदू है। उनमें से प्रत्येक का सत्य के सागर में जाने के लिए अलग-अलग रास्ता है। एक विख्यात भारतीय नेता तथा ट्रिनिडाड के विचारक एफ. ई. एन. हुसैन ने कहा है, 'मैं मुस्लिम पैदा हुआ, आवश्यकता से मैं एक ईसाई बना और अब मैं हिंदू के रूप में मरूंगा।'

भारतीय कैरेबियन स्वरूप का अनिवार्य संघटक तत्व पांडित्य पूर्णव्यवहार को समायोजित करने की इसकी क्षमता है न कि सांस्कृतिक वैविध्य को जरा भी अस्त-व्यस्त करना। अतीत में जब कभी उन्हें अपनी संस्कृति की भागीदारी करने का अवसर मिला, भारतीय कैरेबियन ने परिवर्तन के उत्साह से नहीं, अपितु मानव अनुभव के विस्तार के लिए ऐसा किया। यही भारतीय और विशेषतः हिंदू ज्ञान शास्त्र को विश्व की अन्य सभी धारणाओं से पृथक करती है और हम कैरेबियन भारतीय ऐसे ही जीवन दृष्टिकोण के उत्तराधिकारी हैं।

भारतीय-कैरेबियन सभ्यता अपने विकास काल में जब बौराने लगी, तब ऐसी स्थिति में मानव व्यवहार की विविधता से मानव व्यक्तित्व में भावी अन्वेषकों के लिए परिस्थितियां बनीं। परिणामस्वरूप अशांति के दौर में मानव मन की सहनशीलता परम शांति के लिए जिम्मेदार है जो इसका प्रसार करती है। एक मुसलमान अल्लाह में शांति महसूस करता है, एक हिंदू ईश्वर में ही राहत महसूस होती है। आत्म-सम्मान और मर्यादा दोनों में स्व और समाज के रूपांतरण की आवश्यकता के लिए कार्य किया है।

क्यों हम भारतीय कैरेबियन समूह के लोगों ने मुख्य समाज से कटकर तथा जबरदस्त प्रतिरोध की लागत पर अपनी संस्कृति को बनाए रखने का रास्ता चुना है जो भूगोल,

जनसांख्यिकीय तथा पारिस्थतिकीय से संबंधित तथ्यों को उजागर करता है। ऐसे क्षेत्र, जहां पर्याप्त संख्या में भारतीय रहते हैं—गयाना, ट्रिनिडाड और सूरीनाम और जहां भारतीयों, हिंदू-मुसलमानों की सभ्यताओं से मिलती-जुलती जीवन शैली को पूरा करने वाला नैसर्गिक परिवेश फला-फूला। जमैका, मार्टिनिक, ग्वाह लूप सेंट विन्सेंट जहां परिस्थितियां प्रतिकूल थीं, ऐसे प्रदेशों में भारतीय संस्कृति अधिक से अधिक राष्ट्रीय विकास में सीमांतक और नगण्य रही।

यहां यह भी प्रश्न उठता है कि कैरेबियन क्षेत्र में 150 वर्षों से सांस्कृतिक और सामाजिक रूप से दफन होने पर कैरेबियन क्षेत्र में सामूहिक रूप से उन्हें क्या मिला? लोगों के रूप में उन्होंने सांस्कृतिक और आर्थिक परिपक्तवता के लिए प्रयास किए परंतु उन्हें मूलतः अब भी सामाजिक और राजनैतिक जागरूकता की प्रारंभिक अवस्था में वर्गीकृत किया गया है। यह कैरेबियन राज्य की सत्ता के स्वरूप से पर्याप्त स्पष्ट है।

समग्रतः इस क्षेत्र की जनसंख्या के अनुपात में प्रवासी भारतीयों का हिस्सा राजनैतिक प्राधिकारों के वितरण में नगण्य है अतः सामाजिक परिवर्तनों की नीतियों और कार्यक्रमों के कार्यान्वयन में उनका प्रभावी दखल नहीं है। कैरेबियन में मुख्य समाज से और कट जाने से हाल के वर्षों में बौद्धिक सफलता के बावजूद प्रवासी भारतीयों के आत्मविश्वास में कमी आई है। इस क्षेत्र के अन्य समूह के लोगों के समान अपने व्यक्तित्व को पुनः अक्षुण बनाए रखने के लिए इस रोग को दूर करने के संयुक्त प्रयास किए जाने चाहिए।

इस क्षेत्र को विद्यमान और आसन्न मानव जातीय संघर्ष को देखते हुए कैरेबियन भारतीयों का भविष्य क्या होगा?

ऐसी स्थिति में जहां लोग अपने समाज को जानने और उसमें हिस्सा बटाने के इच्छुक हैं, इस महान परंपरा के लचीलेपन की कठोर परीक्षा होगी। पुरानी पीढ़ी को एक गौरवपूर्ण अतीत और चुनौतीपूर्ण एवं जटिल भविष्य के बारे में अपनी बुद्धिमतापूर्ण विचारों के बारे में नई पीढ़ी को अवगत कराना होगा। □

ट्रिनिडाड में भारतीय शास्त्रीय संगीत : अतीत और वर्तमान

रिचर्ड रामलखन सिंह

ट्रिनिडाड के प्रसिद्ध समाजसेवी, हिंदी प्रेमी तथा शास्त्रीय संगीत के अद्‌भुत विद्वान रिचर्ड रामलखन सिंह के हृदय में भारतीय संगीत के प्रति अप्रतिम लगाव है। ट्रिनिडाड के संगीतमय परिवेश में शोस्त्रीय संगीत के महत्व को रेखांकित कर रहे हैं रिचर्ड रामलखन सिंह।

> "न तो मेरा स्वर्ग में निवास है और न योगियों के हृदय में, हे नारद मैं तो केवल वहीं रहता और रमता हूं, जहां बैठकर मेरे भक्त भजन गाते हैं।" (नारद संहिता, 1.7)

भारतीय संगीत सदैव एक विशेष भावना पर केंद्रित रहता है और अपने स्वर एवं सुरों के माध्यम से संगीतकार उसी भाव को विकसित, व्याख्यायित एवं संपोषित करता है। यह प्रक्रिया उस समय तक चलती है जब तक श्रोता उस भाव के प्रति पूर्व तादत्म्य स्थापित न कर ले। वास्तविकता तो यह है कि श्रोताओं का मन उन स्वरों से झंकृत हुए बिना नहीं रह सकता है। ऐसी स्थिति में एक प्रतिभावान संगीतज्ञ, सुरों के जादू से अपने श्रोताओं को इतना भाव-विभोर कर सकता है जिसकी अन्य विधाओं में कल्पना तक भी नहीं की जा सकती है।

इस लेख के संदर्भ में भारतीय संगीत से हमारा तात्पर्य भारतीय शास्त्रीय गायन से

है जो कि कला का ऐसा रूप है जिसे 150 वर्ष पूर्व हमारे पुरखे यहां लाए थे। अपने घरों और परिवारों को छोड़कर इस भूभाग में आने के पश्चात् भी उन्होंने अपने मन में बहुत कुछ संजो कर रखा। अपने हृदय एवं स्मृतियों में वे अपनी परंपराओं एवं प्रथाओं, धर्म व त्योहार तथा अपने गीत और संगीत को साथ लेकर आए थे। विशेष रूप से धर्म एकमात्र सबको जोड़ने वाली महान् शक्ति थी जिससे हमारे लोगों की अब तक एकात्मकता कायम है। इसी ने उस समय के दुष्कर एवं कठिन समय में गन्ने के खेतों में कठोर श्रम करने पर भी हमें जीने की शक्ति, सांत्वना और साहस प्रदान किया। जहां तक संगीत का प्रश्न है, हमारे पुरखों ने अपनी स्मृतियों में जिन गीतों को सुरक्षित रखा था, उन्हें आनेवाली पीढ़ियों को मौखिक रूप से विरासत में दे दिया। रामायण पाठ के अलावा किस्से सुनने/सुनाने की प्रथा आप्रवासियों के बीच विभिन्न प्रकार के गीतों के रूप में प्रचलित रही जो मुख्यतया पुराने गायकों से उन्हें विरासत में मिले थे।

प्रारंभ में शास्त्रीय गायन तथा संगीत को फिरामत, बेलबगाई, अलीजान, इमामी, रामचरण, धर्म गोसाईं, रहीमुल्ला, बहादुरसीने, फकीर मोहम्मद तथा अन्य लोगों ने लोकप्रिय बनाया और इन्हीं लोगों ने पूरे देश में ठुमरी, ध्रुपद एवं गजल की लोकप्रियता बढ़ाई। यद्यपि ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम थी फिर भी उन्होंने यह सुनिश्चित किया कि भारतीय संस्कृति का झंडा हमेशा शान और सम्मान के साथ फहराता रहे। अनेक अथक प्रयासों के फलस्वरूप शास्त्रीय गायन को भारतीय संस्कृति की मुख्यधारा में विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ तथा वह उस समय भी जीवित और लोकप्रिय रहा जब तत्कालीन सरकार भारतीय संस्कृति एवं संगीत के प्रति दिलचस्पी नहीं रखती थी। संगीत कला ने विगत चार दशकों में न केवल अपनी जड़ें जमाईं बल्कि यह विकसित भी हुई है। जब हमारे देश में इस कला के उन्नायक नहीं रहे तो जिन लोगों ने इस परंपरा को जीवंत रखा उनमें झगड़ू कंवल, रामधनी शर्मा, रामचरित्तर, हेनरी ट्लूम दीनदयाल, इसाक यांकरन, जेम्स रामसेवक, के.बी. सिंह जैसे अनेक संगीतकार प्रमुख हैं। अनेक वर्षों तक वे तिल्लाना, डोरी, चैती व विहाग एवं शास्त्रीय तथा लोकगीत दोनों द्वारा भारतीय संगीत के प्रेमियों को मंत्र-मुग्ध करते रहे। पचास व साठ के दशकों में गीत-संगीत प्रतियोगिताओं का दौर आरंभ हुआ और अनेक विख्यात कलाकारों ने एक मंच पर अपने कार्यक्रम प्रस्तुत करके दर्शकों की वाहवाही लूटी। यद्यपि उनमें से अनेक उस्ताद अब हमारे बीच नहीं हैं लेकिन रेडियो पर अब भी उन्हें सुना जाता है और इस तरह वे भारतीय संगीत की शमा जलाए हुए हैं। शास्त्रीय गीतों के प्रेमियों के दिलों में अब भी ये कलाकार बसे हुए हैं और उनके नाम धरोहर के रूप में चिरस्मरणीय रहेंगे। इस संबंध में यह भी उल्लेखनीय है कि नेशनल काउंसिल ऑफ इंडियन कल्चर सन् 1964 से प्रतिवर्ष शास्त्रीय गायन का आयोजन करता है।

नेशनल काउंसिल ऑफ इंडियन कल्चर (एन.सी.आई.सी.) के इस प्रयास से पूर्व

शास्त्रीय गीतों की ओर ज्यादा गायक आकर्षित नहीं हुए थे। एक स्तर के दो से अधिक गायक नहीं थे तथा शास्त्रीय संगीत के लिए आयोजित प्रतियोगिताओं में मुश्किल से आधा दर्जन गायक हिस्सा ले पाते थे। इसका मुख्य कारण यह था कि उस समय प्रतिष्ठित गायकों का सर्वथा अभाव रहा। एन.सी.आई.सी. की स्थापना तथा कुछ प्रमुख प्रतियोगिताओं के बीच खुला मुकाबला आरंभ होने से अधिक-से-अधिक गायकों ने कला की इस विधा को अपनाना आरंभ किया। मुझे अच्छी तरह याद है जब मैंने इस प्रकार के कार्यक्रम के आयोजक के रूप में प्रवेश किया था तो महज 10-12 प्रतियोगियों ने इस प्रतियोगिता में भाग लिया था। इसी संयोजन समिति का मैं अध्यक्ष भी था। लेकिन हाल ही में आयोजित संगीत प्रतियोगिता के प्राथमिक दौर में प्रतियोगियों की संख्या साठ थी। देश में शास्त्रीय संगीतकारों की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है। शादी-ब्याह के अवसर पर परंपरागत हिंदू विवाहों से पूर्व शनिवार की रात को गाने के अलावा ऐसे अन्य उत्सवों तथा प्रसिद्ध समारोहों में कार्यक्रम प्रस्तुत करने के लिए उन्हें सर्वदा आमंत्रित किया जाता है जहां पर श्रोता अपने पसंदीदा गायकों को पूर्ण मनोयोग से सुनते हैं और शास्त्रीय गायन का लुत्फ उठाते हैं।

कुछ पुराने प्रसिद्ध गायकों के अलावा शास्त्रीय गायकों की एक ऐसी पीढ़ी उभरकर सामने आई है, जिनके कलाकारों ने किसी से भी संगीत की शिक्षा प्राप्त नहीं की है। इनमें से कुछ ही ऐसे हैं जिन्हें भारतीय संगीत का औपचारिक ज्ञान है। शास्त्रीय संगीत की संरचना तथा गायकी में काफी लंबे समय से कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, अलबत्ता कुछ नए सर्जनशील व उत्साही गायकों ने गायन-पद्धति में मामूली परिवर्तन अवश्य किया है। इस समय के शास्त्रीय गायकों को निजी व्यक्तियों तथा उत्साही समर्थकों द्वारा प्रोत्साहित किया जा रहा है। वास्तव में प्रतियोगी तथा गैर-प्रतियोगी दोनों ही संगीत समारोहों में दर्शकों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई है।

भारतीय संस्कृति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में शास्त्रीय गायन एक महत्त्वपूर्ण घटक है जिसका श्रेय सभी संस्कृतिप्रेमियों तथा संगीत-समारोहों के प्रवर्तकों को है। ट्रिनीडाड और टोबैगो में भारतीय संस्कृति के संरक्षक के रूप में एन.सी.आई.सी. ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है तथा भारतीय शास्त्रीय गायन सहित कला की अन्य विधाओं के विकास तथा संरक्षण के लिए यह भविष्य में भी सक्रिय रहेगा।

हिमालय क्लब, सान वांन में 1987 में आयोजित 'चैम्पियन ऑफ चैम्पियंस' शास्त्रीय गायन प्रतियोगिता में 1975 से 1986 के बीच की प्रतियोगिताओं में विजयी सात कलाकारों ने भाग लिया। प्रत्येक ने छह-छह गीत गाकर अपनी गायन कला का उत्कृष्ट परिचय दिया, जिसके लिए उन्हें विशिष्ट ट्रॉफी तथा नकद पुरस्कार भी दिए गए। प्रतियोगियों में जिन कलाकारों ने भाग लिया उनमें सूर गायक विदूर, युसुफ खान, सेवेम बुधराम, केवल महाराज, के.बी. सिंह, सैमसन राधेय तथा जमीर हुसैन प्रमुख थे। हनीफ मोहम्मद भी इस प्रतियोगिता

में भाग लेने वाले थे किंतु दुर्भाग्यवश अस्वस्थ रहने के कारण उन्हें अस्पताल में भर्ती होना पड़ा और वह इसमें शामिल नहीं हो सके। प्रत्येक गायक को ध्रुपद, तिल्लाना, ठुमरी, गजल, होरी तथा अन्य पसंदीदा शास्त्रीय पद्धति के गीत गाने थे। गायन उच्च कोटि का था और गायकों के बीच कड़ी प्रतियोगिता थी। हमारे संगीत प्रेमी श्रोताओं ने मंत्र मुग्ध होकर पूर्ण तल्लीनता के साथ इन कलाकारों के श्रेष्ठ एवं मधुर संगीत का भरपूर आनंद उठाया और हार्दिक प्रशंसा की। □

यदि हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के विरुद्ध अंग्रेजी के षड्यंत्र को विफल न किया गया तो जनतंत्र एक मखौल बन कर रह जाएगा

—श्रीनारायण चतुर्वेदी

सात समंदर पार का ब्योरा

सुरेश ऋतुपर्ण

ट्रिनिडाड में हिंदी का समुचित परिवेश बनाने के लिए प्रतिष्ठित कवि तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदु कॉलेज में हिंदी के रीडर सुरेश ऋतुपर्ण का नाम ट्रिनिडाड वासियों की नस-नस में बसा हुआ है। पूर्ण निष्ठा के साथ हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए जो श्रम सुरेश ऋतुपर्ण ने किया है, उसे विस्मृत करना कठिन है।

कभी-कभी यह विश्वास ही नहीं होता कि भारत से हजारों-हजार मील दूर कहीं कोई देश भारत जैसा भी हो सकता है। ट्रिनीडाड आकर एक क्षण को कुछ ऐसा ही लगता है जैसे हम केरल की हरियाली से निकल कर गोवा के समुद्र तट की सुनहली रेत पर चहलकदमी कर रहे हों। ट्रिनीडाड और टुबैगो दो द्वीपों का एक देश है जो पश्चिमी गोलार्द्ध में दक्षिण अमेरिका के देश वेनुजुएला के बिल्कुल पास कैरेबियन सागर की उत्ताल लहरों में इठलाता-झूमता है। एक ऐसा सदाबहार देश जिसे प्रकृति ने भरपूर नैसर्गिक सौंदर्य दिया है और जिसके कारण यहां आने वाला हर व्यक्ति मंत्रमुग्ध होकर इसके प्रेम-पाश में बंध जाता है।

लेकिन यह कहना कि इसका सौंदर्य इसके प्राकृतिक परिवेश के कारण है —पूरा सच नहीं है, क्योंकि इसे खूबसूरत बनाने का श्रेय तो यहां रहने वाले विभिन्न धर्मों एवं जातियों के लोगों और उनकी सांस्कृतिक विविधता को जाता है। यही सांस्कृतिक विविधता ट्रिनीडाड को 'इंद्रधनुषी संस्कृति' का देश बनाती है।

ट्रिनीडाड की इस 'इंद्रधनुषी संस्कृति' का सबसे गहरा और चटक रंग भारतीय संस्कृति का है, जिसे यहां तक लाने का श्रेय उन साहसी भारतीय श्रमिकों को जाता है, जो आज से 150 वर्ष पहले अंग्रेजी सरकार द्वारा शर्तबंदी प्रथा के अंतर्गत गन्ने के खेतों में काम करने के लिए भेजे गए थे। इनमें से अधिकांश श्रमिक पूर्वी उत्तरप्रदेश तथा बिहार प्रांत से

गए थे और उन्हीं कर्मठ किसानों की संतानें आज भी अपनी उस सांस्कृतिक विरासत को पूरी तरह बचाये हुए हैं, जो उनके पुरखे भारत से सात समंदर पार तक ले आए थे।

इनकी इस सांस्कृतिक विरासत की एक मनोहारी फलक ट्रिनीडाड में मनाई जाने वाली होली में देखी जा सकती है, जिसे ये लोग 'फगवा' कहते हैं। होली का त्यौहार फाल्गुन के महीने में आता है, इसलिए आज भी पूर्वी भारत में 'फगुआ' शब्द का प्रयोग मिलता है। यही 'फगुआ' ट्रिनीडाड में 'फगवा' हो गया है।

यहां एक मजेदार तथ्य भी जान लेना जरूरी है। ट्रिनीडाड में होली उसी दिन मनाई जाए, जिस दिन भारत में मनाई जाती है, यह जरूरी नहीं है, क्योंकि ट्रिनीडाड में होली के लिए कोई राष्ट्रीय अवकाश नहीं है। अतः यहां होली के एकदम करीब पड़ने वाले रविवार को ही होली मनाने की परंपरा है।

यों तो फगवा पूरे ड्रिनीडाड में ही मनाया जाता है, लेकिन ट्रिनीडाड के मध्य एवं दक्षिणी भाग में भारतवंशियों की संख्या सर्वाधिक होने के कारण इन क्षेत्रों में फगवा का उत्साह पूरे यौवन पर होता है।

ट्रिनीडाड के एकदम दक्षिण में 'देवे', 'पीनाल', 'सिपरियां, 'फैजाबाद' जैसे अनेक गांव हैं, जहां फागुन आते ही मंदिरों और घरों के बाहर बनी 'बैठका' में हर शाम 'चौताल' के स्वर गूंजने लगते हैं। ट्रिनीडाड में 'फगवा' मनाने का अंदाज ही कुछ अलग है। हमारे भारत में जिस तरह होली आने से पहले ही रंगों की पिचकारियां चलने लगती हैं, ऐसा ट्रिनीडाड में नहीं होता है। पर हां, लगभग एक-दो सप्ताह पहले से ही फगवा से जुड़े लोकगीतों के गायन की प्रतियोगिताएं होने लगती हैं, जिन्हें यहां 'चौताल सिंगिंग' कहा जाता है। हारमोनियम, मंजीरा, घनताल और ढोलक की थाप पर अपार जनसमूह झूमते हुए गाते हैं—'आज अवध में होली खेलें रे रघुवीरा', या फिर 'अरे होली खेलत पवन कुमार अंजनी के वारें'।

यहां एक बात ध्यान देने की है। यों तो सारे भारत में ही होली मनाई जाती है, लेकिन उसका केंद्र 'ब्रजप्रदेश' ही माना जाता है—'आज बिरज में होली रे रसिया', या फिर 'होली खेलत नंदलाल, बिरज में होली खेलत नंदलाल' लेकिन ट्रिनीडाड में जो लोकगीत प्रचलित हैं उनमें होली खेलने वाले नायक 'नंदलाल' न होकर 'रघुवीर' हैं और होली ब्रज में नहीं, अवध में खेली जा रही है।

ट्रिनीडाड में होली की पूर्व संध्या पर होलिका दहन का अनुष्ठान भी बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। गांव-गांव घूमकर बालक, युवक, युवतियां एवं वृद्धजन भी सूखी घास और लकड़ियां इकट्ठी करके एक छोटा-सा पहाड़ ही बना देते हैं। शाम होने पर गांव व आसपास के निवासी होलिका पूजन के लिए एकत्रित होने लगते हैं। चौताल के ऊंचे स्वर गूंजने लगते हैं और गांव के पुरोहित विधिवत मंत्रोच्चार के बीच होलिका दहन के लिए

अग्नि प्रज्जवलित करते हैं। क्षण भर में ही आग की विशाल लपटें आकाश की ओर उठने लगती हैं। सभी लोग गाते हुए चारों ओर घूमकर परिक्रमा करते हैं और उसके बाद सामूहिक भोज होता है।

होलिका दहन की अगली सुबह से ही लोग होलिका की राख मलकर रंग खेलने के लिए गलियों, सड़कों और मैदानों में निकल पड़ते हैं। ट्रिनीडाड के मध्य भाग में स्थित 'शगुआनस', 'एडिनबर्ग', 'कैलीफोर्निया', 'कूवा' के मैदानों में और उत्तर भाग में स्थित 'औरंगवैज सवाना' में सुबह से ही जन मंडलियां इकट्ठी होने लगती हैं। अपनी-अपनी कारों, ट्रकों या पिक-अप वैनों में भरे लोग इन विभिन्न मैदानों की ओर उमड़ने लगते हैं। इस अवसर पर सामान्यतः सभी लोग सफेद कुर्ता, धोती या पाजामा पहनते हैं। कुछ लोग सिर पर कपड़े की टोपी या रंगीन चमकदार कागजों से बना मुकुट भी पहनते हैं। प्रत्येक मंडली के आगे दो लोग इस मंडली के नाम को दर्शाने वाले बैनर लेकर चलते हैं। उसके बाद होते हैं वादक मंडली के लोग जो झाल-मंजीरा, घनताल, हारमोनियम व ढोलक बजाते चलते हैं। बाकी के लोग तालियां बजाते हुए नाचते चलते हैं। जो मंडली चौताल सिंगिंग प्रतियोगिता में विजयी होती है, उसे तरह-तरह के उपहार और ट्राफियां प्रदान की जाती हैं।

कुछ लोगों के पास भारत की बनी पिचकारियां भी होती हैं, लेकिन अधिकांश लोगों के पास रंग-भरी प्लास्टिक की बोतलें होती हैं, क्योंकि यहां पिचकारी मिलना बहुत आसान नहीं है। इन्हीं बोतलों के ढक्कनों में छेद करके ये लोग रंग छिड़कते रहते हैं। यहां गुलाल भी नहीं मिलता है, अतः गुलाल के स्थान पर 'बेबी जानसन टेल्कम पाउडर' का प्रयोग किया जाने लगा है।

भारत में होली के अवसर पर भांग या ठंडाई पीने-पिलाने की परंपरा है, लेकिन ट्रिनीडाड में भांग या ठंडाई बनाने के लिए अपेक्षित सामग्री नहीं मिल पाती है। अतः यहां के लोग इस अवसर पर अदरक डालकर उबाला गया गरम-गरम दूध पीते-पिलाते हैं, जिसमें कुछ लोग अपनी रुचि के अनुसार 'टी-बैग' डालकर चाय का मजा भी ले लेते हैं। दूध के साथ ही खाने को मिलती है—कचौड़ी, सहीना, गुलाब जामुन जैसे व्यंजन जिन्हें स्थानीय तरीके से तैयार किया जाता है।

आजकल फगवा उत्सव मनाने के तौर-तरीकों में कुछ नयी चीज़ें भी जुड़ रही हैं। ट्रिनीडाड की एक प्रसिद्ध संस्था ने फगवा के अवसर पर कई प्रकार की मनोरंजक प्रतियोगिताएं भी आयोजित करना शुरू किया है, जिसमें हमारे महाराष्ट्र की तरह की 'माखन चोर' प्रतियोगिता भी शामिल है। इस प्रतियोगिता में काफी ऊंची लटकी 'मटकी' को एक टीम के सदस्य एक-दूसरे के कंधों पर चढ़कर उतारने की कोशिश करते हैं।

फगवा के अवसर पर ट्रिनीडाड के प्रमुख अखबार अपने-अपने 'स्पेशल सप्लीमेंट' निकालते हैं, जिनमें 'फगवा' के बारे में सचित्र जानकारी होती है। रेडियो और ट्रिनीडाड के

टेलीविजन चैनल भी अपने-अपने विशिष्ट कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं।

ट्रिनीडाड की होली की एक विशेषता यह भी है कि इसमें आंतरिक अनुशासन और गांभीर्य देखने को मिलता है। भारत में खेली जाने वाली होली की उद्दाम उन्मुक्तता के स्थान पर हार्दिक उल्लास की लयात्मकता के दर्शन होते हैं। तासा और ढोलक की तेज थाप के साथ गूंजते लोकगीतों की लय पर नाचते-थिरकते लोगों को देखने का भी अपना एक अलग आनंद है।

कुल मिलाकर ट्रिनीडाड की हरी-भरी धरती पर अबीर के रंग में रंगे फगवा मनाते लोगों के झुंड के झुंड नाचते-गाते दिखाई देते हैं तो भारतीय संस्कृति की सात समंदर पार तक फैली गहरी जड़ों की विशालता का अहसास सहज ही होने लगता है। □

एक भाषा, इक जीव, इक मति के सब लोग
तबै बनत है सबन सों, मिटत मूढ़ता सोग।

—भारतेंदु हरिश्चंद्र

ट्रिनिडाड के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में हिंदी की महत्वपूर्ण भूमिका है

प्रो. माणिक गोविंद चतुर्वेदी

माणिक गोविंद चतुर्वेदी हिंदी भाषा तथा साहित्य के क्षेत्र में एक सुपरिचित नाम है। केंद्रीय हिंदी संस्थान के भूतपूर्व प्रोफेसर तथा ट्रिनिडाड में अध्ययन-अध्यापन से जुड़े माणिक गोविंद चतुर्वेदी ने ट्रिनिडाड के संदर्भ में हिंदी के ह्रास एवं विकास की चर्चा की है।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नई दिल्ली की ओर से विदेशों में भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य के प्रचार-प्रसार तथा अध्ययन-अध्यापन के लिए समय-समय पर भारतीय कलाकारों, साहित्यकारों तथा भारतीय भाषाओं और साहित्य के विद्वानों को भेजा जाता रहा है। इसी क्रम में 1991 में कुछ ऐसी परिस्थितियां बनी कि मुझे भी कुछ महीनों की अल्पावधि के लिए ट्रिनिडाड की राजधानी पोर्ट ऑफ स्पेन के स्कूल ऑफ लैंग्वेजेज, नेशनल इंस्टीटयूट ऑफ हायर एजूकेशन, रिसर्च, साइंस एंड टैक्नोलाजी में अतिथि प्रोफेसर के रूप में प्रतिनियुक्ति कर भेजा गया।

वहां जाकर वहां के लोगों के साथ बातचीत कर अनुभव हुआ कि कैसी विषम परिस्थितियों में हमारे देश के लोग वहां गए थे। अत्यन्त कष्टकर स्थितियों में कैसे उन्होंने की तरह-तरह के अत्याचारों के बीच अपनी अस्मिता की अर्थात् अपनी भाषा, संस्कृति और धर्म की रक्षा की थी, और अंत में कैसे उन्होंने सारी मुसीबतों तथा कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर शैक्षिक और आर्थिक संपन्नता प्राप्त की थी। सचमुच, मेरे लिए यह एक स्वर्णिम अवसर था कि मैं प्रत्यक्ष रूप से ट्रिनिडाड और टुबैगो द्वीपों के भारतीय जन समुदाय तथा

अफ्रीकी नीग्रो समुदाय के जन-जीवन को देख सका और देख सका अपने देश का सांस्कृतिक बिरवा विदेशी भूमि पर विषम परिस्थितियों में कैसे अंकुरित हुआ और फिर क्रमशः पल्लवित और पुष्पित होता गया। वहां जाकर ही भारतीय संस्कृति और सभ्यता की उस आंतरिक शक्ति का अनुभव हुआ जिसके कारण ट्रिनिडाड और उसी तरह के कैरीबियन सागर के अन्य द्वीप, बृहत्तर भारत के अंग के रूप में विकसित हुए हैं।

कैरीबियन सागर के इन द्वीपों की जलवायु और प्राकृतिक परिवेश बहुत कुछ दक्षिण भारत जैसी है। अतः ट्रिनिडाड की राजधानी पोर्ट ऑफ स्पेन के हवाई अड्डे पर उतरने पर यह नहीं लगा कि मैं सुदूर पश्चिम के किसी विदेश की भूमि पर उतर रहा हूं, बल्कि बार-बार यही लग रहा था कि मैं अपने ही देश के गोवा या केरल के हरे-भरे पहाड़ी प्रदेश में आ गया हूं। चारों ओर समुद्री तट, दूर-दूर तक फैले नारियल, सुपारी, केले, धान और गन्ने के हरे-भरे खेत, उनके बीच या आसपास रंग-बिरंगी ध्वजाओं से सुशोभित आधुनिक भवन (भारतीय मूल के हिंदू अपने घरों पर रंग-बिरंगी ध्वजाएं फहराते हैं), साफ-सुथरी सड़कें और उन पर दौड़ती तरह-तरह की मोटर-गाड़ियां, तथा गोरे-काले सभी रंगों के लोगों को देखकर यह कभी नहीं लगा कि मैं विदेश में हूं।

गत् शताब्दी में अंग्रेजी साम्राज्य के हित साधन के लिए भारतीय मूलक जन समुदाओं का भारत से बहिगर्मन लगभग एक काल खंड में हुआ था। शर्त बंदी प्रथा के अंतर्गत भारतीय मजदूरों का पहला जत्था सन् 1834 में मॉरिशस, 1838 में ब्रिटिश गयाना, 1845 में ट्रिनिडाड, 1873 में सूरीनाम तथा 1878 में फीजी गया था। यहां यह उल्लेखनीय है, कि इन द्वीप समूहों के विदेशी शासकों ने पहले यहां के मूल निवासियों को बड़ी संख्या में हताहत किया, फिर खेती-बाड़ी तथा नए उद्योगों में काम करने के लिए पहले यूरोप से और फिर अफ्रीका से लोगों को लाए परंतु इनके कार्यों से संतुष्ट न होने पर उन्होंने भारत के मजदूर ले जाने का निर्णय लिया।

ट्रिनिडाड पहला द्वीप है, जिसे 15वीं शताब्दी में भारत की खोज में निकले कोलंबस ने खोजा था, तथा उसके तीन पर्वत-शिखरों को दूर से अपने जहाज से देखकर ही इस द्वीप को उसने ट्रिनिडाड (अर्थात् तीन पर्वत) कह कर उसका नामकरण कर दिया था और फिर वहां के मूल रैड इंडियंस को पराजित कर उस पर स्पेन का झंडा फहरा दिया था। 1783 में फ्रांसीसी सैनिकों ने इसे स्पेन से छीन लिया और कुछ समय बाद अंग्रेजों ने इस पर अधिकार कर लिया। इसलिए इन द्वीपों के स्थान वाची नामों पर स्पेनी और फ्रांसीसी प्रभाव आज भी दिखाई देता है। अंग्रेजों ने अपने गन्ने के खेतों में काम करने के लिए 1806 में चीनी लोगों को बुलाया, 1834 में कुछ पुर्तगाली लोगों को भी आश्रय दिया। इनसे पहले स्पेनी तथा फ्रांसीसी लोग यहां काफी बड़ी संख्या में अफ्रीकी नीग्रो लोगों को ला चुके थे। परंतु इनके काम से संतुष्ट न होने के कारण 1845 में यहां की अंग्रेजी सरकार ने तत्कालीन

भारत की अंग्रेजी सरकार के साथ एक अनुबंध किया, जिसके अंतर्गत भारतीय मजदूरों को ट्रिनिडाड लाया गया था।

शर्तबंदी प्रथा के अंतर्गत 1845 से 1916 के बीच काफी बड़ी संख्या में भारतीय जन समुदाय को यहां लाया गया और सताया गया। परंतु भारतीय संसद में महामना मदन मोहन मालवीय जैसे राजनेताओं के प्रतिवाद और विरोध के कारण 1915 में न केवल यह अनुबंध समाप्त किया गया अपितु ट्रिनिडाड में भी भारतीय जन समुदाय को कुछ सुख-सुविधाएं प्रदान की जाने लगीं। परंतु इसका आशय यह नहीं है कि इसके बाद भारत से लोग वहां गए ही नहीं, अपितु इसके बाद भी भारत से लोग वहां जाते भी रहे और कुछ लौटते भी रहे। विवाह और नौकरी के कारण यह सिलसिला आज भी चल रहा है।

1845 से 1916 के बीच जो भारतीय जन ट्रिनिडाड गए, उनमें से अधिकांश निरक्षर थे, परंतु वे अपनी संस्कृति में पूर्णतः दीक्षित थे। वे जब वहां गए थे, उस समय उन्हें अपनी क्षेत्रीय बोली का तो अच्छा ज्ञान था ही, वे मानक हिंदी भी भली-भांति समझ सकते थे। इसलिए ईसाई मिशनरियों ने भारतीय जनों को अपने धर्म की ओर आकृष्ट करने के लिए जो साहित्य तथा भजन आदि प्रकाशित किए थे जो तत्कालीन मानक हिंदी में ही थे। परंतु इनकी लिपि रोचक न थी। हिंदी को रोमन लिपि में पढ़ने-पढ़ाने तथा अपने भजन-कीर्तन, मंत्र-श्लोक और सांस्कृतिक गीतों को रोमन लिपि में पढ़ने-लिखने तथा प्रकाशित करने की परंपरा मेरे प्रवास के समय तक जीवित थी। परंतु अब आधुनिक पैरु तथा कम्प्यूटर प्रणाली के आ जाने से इस कारण उसका क्रमशः देवनागरीकरण हो रहा है।

1845 से 1916 के बीच जो भारतीय जन ट्रिनिडाड आए उनमें अल्प संख्या में लोग पढ़े लिखे भी थे। मानक हिंदी का प्रयोग कर सकते थे। ये ही लोग अपने साथ रामचरितमानस, गीता, प्रेम सागर, आल्हा-ऊदल, महाभारत, सत्यार्थ प्रकाश, सुदामा चरित, हनुमान चालीसा आदि ग्रंथों को भी ले गए थे और समवेत रूप से सभी ले गए थे—विभिन्न धार्मिक, सांस्कृतिक पर्वों पर गाए जाने वाले गीत, भजन, कव्वाली, गजल, लोक कथाएं, नीति-नियम दोहे, श्लोक-मंत्र आदि की जीवंत वाचिक परंपरा, जो तीसरी चौथी पीढ़ी में भी मूल मातृ भाषा के विस्मृत हो जाने के बाद भी आज जीवित है। आज भी वहां किसी शादी-विवाह के अवसर पर या किसी सांस्कृतिक धार्मिक पर्व पर आप उन गीतों, भजनों या कव्वाली आदि को सुन सकते हैं, जो उत्तर भारत के ग्रामीण अंचलों में प्रचलित हैं। इतना ही नहीं, ये लोग अपने साथ तुलसी, पीपल, नीम, पान, आर्क चतूरा आदि के पौधे भी ले गए थे, जो आज भी इस देश की भूमि पर वर्तमान हैं और उसे भारत भूमि की छटा प्रदान कर रहे हैं।

प्रारंभिक दिनों में वैस्टइंडीज के अन्य द्वीप-देशों के समान ट्रिनिडाड में भी आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा ईसाई मिशनरियों के अधिकार में थीं और उनमें ईसाई लोगों को ही प्रवेश मिल सकता था तथा वे ही शिक्षित बन अच्छी सरकारी नौकरियां प्राप्त कर सकते थे।

इसलिए पहले तो भारतीय जन समुदाय ने अपने आप को इस शिक्षा व्यवस्था से दूर रखा और अपनी बस्तियों में मंदिरों में अनौपचारिक शिक्षा की व्यवस्था की, परंतु बाद में उन्होंने अपने पुत्रों को और फिर बाद में पुत्रियों को भी ईसाई विद्यालयों में भेजना शुरू किया। इसका परिणाम यह हुआ कि काफी लोगों ने औपचारिक रूप से ईसाई धर्म स्वीकार किया, पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त की और आर्थिक प्रगति की।

यहां यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि प्रारंभिक दिनों में ईसाई मिशनरी स्कूलों में हिंदी-उर्दू पढ़ाने की व्यवस्था विशेषकर कैनीडियन प्रैसविटेरियन मिशन के स्कूलों तथा शिक्षक प्रशिक्षण-महाविद्यालय में थी। साथ ही हिंदू बस्तियों में जहां मंदिरों की स्थापना हो गई थी, वहां भी हिंदी पढ़ाई जाती थी। बोलचाल की भोजपुरी या अन्य भारतीय बोलियों या भाषाओं को पढ़ाने की कोई व्यवस्था नहीं थी परंतु जैसे-जैसे भारतीय समाज में आधुनिक शिक्षा का प्रसार होता गया, अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों से छात्र निकलने लगे, हिंदी की आवश्यकता और मान्यता की अनुभूति कम होती गई और अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं विशेष कर स्पेनी और फ्रांसीसी भाषाओं की मान्यता और मांग बढ़ती गई। इसी का परिणाम है कि ट्रिनिडाड का संपूर्ण शिक्षित समाज—चाहे वह भारतीय मूल का है, या अफ्रीकी का या यूरोपीय मूल का पूरी तरह अंग्रेजी-भाषी बन गया है, अतः ईसाई मिशनरी स्कूलों में क्रमशः हिंदी पढ़ाने की व्यवस्था समाप्त की जाने लगी। एक अध्ययन के अनुसार मॉरिशस और फिजी की तुलना में गयाना और ट्रिनिडाड में हिंदी के ह्रास की गति सबसे अधिक तीव्र रही। यहां हिंदी के ह्रास से तात्पर्य भारतीय जनों की मूल मातृभाषा से है, फिर चाहे वह भोजपुरी हो, या अवधी, बंगाली हो या तमिल, सब ने अपनी मातृ बोली छोड़ दी और अंग्रेजी को मातृ भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया। हां, मानक हिंदी, जिसे तत्कालीन शिक्षित भारतीय जानता था, तथा जिसे ईसाई मिशनरी स्कूल भी पढ़ाते थे, उसका अध्ययन अब मंदिरों में चलता रहा, सामान्य शिक्षा व्यवस्था में उसका कोई स्थान न रहा।

परंतु ट्रिनिडाड के स्वशासन तथा स्वतंत्रता के पश्चात् ट्रिनिडाड के भारतीय समाज में जो नवीनता आई है, तथा शिक्षा और आर्थिक संबंधता के साथ जो आत्मविश्वास दिया है, उसके कारण आज का ट्रिनिडाड भारतीय अपनी भारतीयता की पुष्टि और अभिव्यक्ति के लिए मानक हिंदी सीखना चाहता है। हिंदी-संस्कृत तथा भारतीय दर्शन धर्म और संस्कृति को समझने की उनकी अभिलाषा और उसके लिए सततः प्रयत्न, सचमुच उनकी भारतीयता का एक शुभ लक्षण है।

संप्रति ट्रिनिडाड में हिंदी की स्थिति को दो रूपों में समझा जा सकता है :

—ट्रिनिडाड के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में हिंदी।

—ट्रिनिडाड के हिंदी अध्ययन-अध्यापन की स्थिति।

आज ट्रिनिडाड एक बहुजातीय व बहुधर्मी देश है, परंतु वह एक भाषा-भाषी है और यह एक भाषा अंग्रेजी है, जिसका एक बोली रूप भी है, जो सामान्य मानक अंग्रेजी से बहुत भिन्न है तथा ग्रामीण अंचलों में भारतीय, नीग्रो, चीनी तथा यूरोपीय मूल के सभी लोगों द्वारा बोली और समझी जाती है, जबकि शिक्षित समाज में सामान्यतः मानक अमरीकी अंग्रेजी का व्यवहार होता है। परंतु निजी विषयों पर निजी लोगों के साथ जिस अंग्रेजी की बोली का यहां व्यवहार होता है, वह कई बार भारतीय अंग्रेजी से अभ्यस्त कानों में सहज ग्राह्य नहीं होती।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि ट्रिनिडाड के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में अब हिंदी का कोई विशेष स्थान नहीं है अपितु भारत में भाषा व्यवहार की ही तरह, वहां भी अलग-अलग स्थितियों में अलग-अलग भाषाओं के प्रयोग की सहज स्थितियां मिलती हैं। जैसे विवाह, यज्ञोपवीत आदि में संस्कृत और हिंदी का प्रयोग। ऐसे ही अन्य सांस्कृतिक अवसरों पर भोजपुरी, अवधी तथा ब्रज के लोकगीतों में इन भाषाओं का प्रयोग तथा सिनेमा के गीतों, शास्त्रीय तथा सुगम-संगीत के कार्यक्रमों में आधुनिक मानक हिंदी का प्रयोग आप को विभिन्न अवसरों पर मिल सकता है।

ट्रिनिडाड के हिंदू समाज में रामायण कथा, सत्यनारायण की कथा, भागवन्त सप्ताह आदि के समारोह होते रहते हैं, उनमें मूल संस्कृत या हिंदी की व्याख्या के साथ अंग्रेजी में स्पष्टीकरण होता है तथा बीच-बीच में पुराने-नए भजनों या गीतों का मनोरम कार्यक्रम भी चलता रहता है। इतना ही नहीं, विभिन्न सांस्कृतिक, धार्मिक पर्वों पर जैसे होली, दीवाली, कार्तिकन्हन, दशहरा, जन्माष्टमी आदि के अवसरों पर हिंदी का प्रयोग मिलता है। इसी तरह भारतीय मुसलमान ईद आदि के अवसरों पर कव्वाली आदि गाते हैं। ट्रिनिडाड संस्कृति की यह विशेषता है कि सभी हिंदू-मुसलमान और ईसाई एक दूसरे के धार्मिक त्यौहारों में भी बराबरी की भागेदारी करते हैं। इसे देखकर लगता है कि ट्रिनिडाड भावी भारत का मानचित्र है।

आशय यह है कि ट्रिनिडाड के सामाजिक सांस्कृतिक जीवन में हिंदी की महत्वपूर्ण भूमिका है। हां, वह जिस रूप में पहले थी, अब नहीं है, किंतु अब जिस नए रूप में वह वहां विकसित हो रही है, वह अधिक व्यापक है, सार्वभौम है और नव-जागरण के प्रतीक के रूप में, भारतीयता के अभिलक्षण के रूप में तथा भारतीय जन की अस्मिता के रूप में विकसित हो रही है। इसलिए उसे अब वहां के जनसंचार के साधन रेडियो और टेलीविजन में सम्मानपूर्ण स्थान मिल चुका है। वहां हिंदी फिल्मों की बड़ी मांग है, फिल्मी गीत-संगीत अत्यंत लोकप्रिय है। अब वहां हिंदी में पुस्तकों का प्रकाशन शुरू हो गया है, पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन की योजनाएं बन रही है और धीरे-धीरे ट्रिनिडाड के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में हिंदी का व्यवहार बढ़ रहा है।

यद्यपि ट्रिनिडाड में हिंदी के अध्ययन-अध्यापन की स्थिति को संतोषजनक नहीं कहा

जा सकता, परंतु जिस तरह उसके शिक्षण की मांग बढ़ रही है, तथा जिस प्रकार स्थानीय प्रयत्न इस दिशा में हो रहे हैं, उस सबको देखते हुए लगता है, वहां के देश में प्राथमिक विद्यालयों में, विशेषकर उन प्राथमिक विद्यालयों में जिन्हें सनातन धर्म महासभा, आर्य समाज, कबीर पंथ, और डिवाइन लायन्स सोसायटी चलाती है, हिंदी संस्कृत का संयुक्त पाठ्यक्रम चलाया जाएगा, जिस की पाठ्यचर्या का प्रारूप मैं सनातन धर्म महासभा के महा सचिव श्री सत महाराज को दे आया था, और उन्होंने आश्वासन दिया था, कि इस पाठ्य चर्या को महासभा के सभी प्राथमिक विद्यालयों में क्रियान्वित किया जाएगा। इसी प्रकार का आश्वासन आर्य समाज की अध्यक्षा ने भी दिया था।

औपचारिक रूप से ट्रिनिडाड की यूनीवर्सिटी ऑफ वेस्ट इंडीज के कला संकाय में हिंदी विभाग है, वहां स्नातक स्तर के पाठ्यक्रम चलाए जाते हैं। त्रिनिडाड सरकार की ओर से हिंदी निधि नामक संस्था को वहां हिंदी शिक्षा को विकसित करने के लिए प्राधिकृत किया है। हिंदी निधि की ओर से अनेक स्थानों पर हिंदी कक्षाओं का आयोजन होता है, वह उनकी परीक्षा भी लेती है, और प्रमाणपत्र देती है। इसी तरह प्रो. आदेश की संस्था की ओर से हिंदी की कक्षाओं का नियमित आयोजन अनेक वर्षों से हो रहा है। भारत के उच्चायोग की ओर से भी नियमित हिंदी कक्षाएं चलती हैं।

ट्रिनिडाड में हिंदी-शिक्षकों के प्रशिक्षण का दायित्व वहां की राष्ट्रीय संस्था नेशनल इंस्टीटयूट ऑफ हायर एजूकेशन, रिसर्च, साइंस एंड टैक्नोलाजी को सौंपा गया है, जहां मैं अतिथि प्रोफेसर था। मैंने अपने प्रयास की अवधि में तीन लघु अवधि के पाठ्यक्रम आयोजित किए थे, जिनमें 30-35 हिंदी शिक्षकों को हिंदी भाषा का ज्ञान दिया और विभिन्न भाषा कौशल के शिक्षण की प्रविधियों का परिचय दिया। इतना ही नहीं, इन प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों में हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण के सिद्धांत ही नहीं बताए गए अपितु विभिन्न प्रकार की शिक्षण सामग्री का विकास भी किया गया। मुझे यह लिखते हुए प्रसन्नता है कि अब वह सामग्री धीरे-धीरे प्रकाशित हो रही है और वहां के हिंदी शिक्षार्थी उसका उपयोग कर रहे हैं। अधिक प्रसन्नता की बात तो यह है कि आज ट्रिनिडाड के हिंदी शिक्षक जागृत हैं, उनका संघ है, और वे अपने आवश्यकता के अनुरूप शिक्षण सामग्री का विकास कर रहे हैं, उसका प्रकाशन कर रहे हैं, और वे न केवल स्वयं उसका प्रयोग कर रहे हैं, अपितु आसपास के देशों में भी उसे भेज रहे हैं।

ट्रिनिडाड में अभी 5-7 माध्यमिक विद्यालय ही हैं जहां हिंदी पढ़ाने की व्यवस्था है परंतु उनकी मांग बढ़ती जा रही है कि हिंदी को एक द्वितीय भाषा के रूप में पढ़ाने की व्यवस्था हो जाए। इस दिशा में हिंदी निधि तथा ट्रिनिडाड सरकार का शिक्षा मंत्रालय प्रयत्नशील है, आशा है माध्यमिक स्तर पर हिंदी को द्वितीय भाषा के रूप में पढ़ाने की व्यवस्था शीघ्र हो सकेगी। 1992 में हिंदी निधि और भारत के उच्चायोग के संयुक्त तत्वावधान

में आयोजित प्रथम अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए ट्रिनिडाड एंड टुबैगो के तत्कालीन माननीय प्रधानमंत्री जी श्री मैंनिग ने इसी आशय का आश्वासन दिया था। अब ट्रिनिडाड एंड टुबैगो के भारतीय मूल के प्रथम प्रधान मंत्री मानवीय श्री वासुदेव पाण्डे से अपेक्षा है कि वे हिंदी-शिक्षा को वहां स्थायी आधार प्रदान करेंगे जिससे भारतीय जन की भारतीयता नव जागरण के संदेश के साथ और अधिक विकसित हो।

यह प्रसन्नता की बात है कि ट्रिनिडाड का अफ्रीकी नीग्रो समाज भी धीरे-धीरे हिंदी की ओर आकृष्ट हो रहा है। अनेक नीग्रो नवयुवक और नवयुवतियाँ हिंदी सीख रहे हैं। हिंदी का आधुनिक फिल्मी संगीत और पारंपरिक शास्त्रीय संगीत दोनों ही नीग्रो समाज में लोकप्रिय है। आपको किसी नीग्रो के कंठ से तुलसी का कोई पद शास्त्रीय पद्धति में यहां सुनने को मिल सकता है। संगीत जितना प्रिय अफ्रीकी समाज में है उतना ही भारतीय समाज में भी। इसीलिए पूरे का पूरा देश संगीतात्मक बन गया है और उसमें हिंदी संगीत का अपना विशिष्ट योगदान है।

ट्रिनिडाड में हिंदी शिक्षा का सर्वाधिक व्यापक और प्राचीन आधार है वहां के मंदिरों में हिंदी शिक्षण परंपरा। यह उल्लेख्य है कि पूरे वेस्टइंडीज में जहां भी हिंदू बस्ती है, वहां मंदिर है और मंदिरों में सर्वत्र हिंदी शिक्षण की व्यवस्था है। इस प्रकार मंदिरों की हिंदी शिक्षण परंपरा हिंदी के व्यापक प्रचार-प्रसार को सुदृढ़ आधार प्रदान करती है और आगे भी करती रहेगी।

अंत में कहा जा सकता है कि ट्रिनिडाड के भारतीय जनों के अवचेतन में हिंदी अभी तक प्रसुप्त अवस्था में थी, अब नवजागरण के साथ वह जाग रही है, आशा ही नहीं, विश्वास है, हिंदी का सूरज ट्रिनिडाड के क्षितिज पर उदित हो चुका है, अब उसका प्रकाश दिग-दिगंतों को छुएगा। □

हिंदी मां विदेशी बेटे : यादों में बानवे

हरीश नवल

सन् 1992 में हिंदी निधि ने ट्रिनिडाड में लघु विश्व हिंदी सम्मेलन आयोजित किया था। विभिन्न देशों से आए हिंदी प्रेमियों ने अनेक मुद्दों पर बात की थी। उसी सम्मेलन की यादों को ताजा कर रहे हैं। हरीश नवल।

सत्रह अप्रैल 1992 का वह सुहाना और ऐतिहासकि शुक्रवार था जब प्रातः ग्यारह बजकर पांच मिनट पर उस श्यामवर्णा युवती की वाणी पोर्ट ऑफ स्पेन के रुद्रनाथ कपिलदेव लर्निंग सेंटर के भव्य प्रेक्षागृह में गूंज उठी थी, भावावेश में उन्मादित कर देने वाला क्षण था जब पश्चिमी गोलार्द्ध में हो रहे प्रथम अंतर्राष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन के उद्घाटन अवसर पर कैरेबियन सागर के देश ट्रिनीडाड की कुमारी मारिया एडवर्ड हिंदी भाषा में धन्यवाद प्रस्ताव प्रस्तुत कर रही थीं। व्याकरणों तथा शुद्ध भाषा की तलाश में निकले आचार्यों द्वारा प्रयुक्त हिंदी वह नहीं बोल पा रही थीं अपितु भावों को जगा रही थीं और मुझे लुईस कैरोल की प्रसिद्ध उक्ति बरबस याद आ गई थी, 'तुम केवल भावों का ध्यान रखो, स्वर अपनी चिंता स्वयं कर लेंगे।'

उद्घाटन ट्रिनिडाड के प्रधानमंत्री श्री पैट्रिक मैनिंग ने किया था तथा देश के अनेक गणमान्य राजनयिक, राजनेता, नागरिकों तथा सम्मेलन में आए सत्रह देशों के प्रतिनिधियों के सम्मुख उन्होंने हिंदी भाषा की शक्ति के विषय में अपने उद्गार प्रस्तुत किए थे। ज्ञातव्य हो कि प्रधानमंत्री पैट्रिक मैनिंग भी अफ्रीकी मूलवंशी हैं।

सम्मेलन का आयोजन एक स्वायत्त संस्था 'हिंदी निधि' ने किया था जिसके अध्यक्ष ट्रिनिडाड के एक प्रख्यात युवा धनपति श्री चनका सीताराम हैं।

ट्रिनिडाड की राष्ट्र तथा राजभाषा अंग्रेजी ही है किन्तु भारतीय राम और श्याम को

भूल ही कैसे सकता है? भारतीय लोकगाथा, लोकसंगीत, लोकनृत्य, हिंदी चलचित्रों के श्रेष्ठ मधुर गीत, उससे असम्पृक्त कैसे रहा जा सकता था। इसीलिए त्रिनीडाड का भारतीय मूलवंशी हिंदी से जुड़ा रह सकने की इच्छा लिए हुए था तभी तो वहां श्री चनका सीताराम, श्री जगरनाथ विसुन, श्री कीनिथ आर. लाला आदि चौदह बेटों ने हिंदी मां की सेवा हित 'हिंदी निधि' की स्थापना 26 अप्रैल 1986 में की और एक बृहत हिंदी सम्मेलन आयोजित करने की अभिलाषा मन में बसाई जो छह वर्षों बाद पूर्ण हुई। तब अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन का विचार भी मन में नहीं था। यह विचार आया भारतीय उच्चायुक्त प्रो. लक्ष्मणा तथा द्वितीय सचिव डॉ. सुरेश ऋतुपर्ण के उत्साहवर्धन तथा मार्ग सुझाने पर। हिंदी की शक्ति के कारण ट्रिनिडाड एवं टोबैगो के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, विदेश मंत्री, शिक्षा मंत्री, संसद अध्यक्ष, विपक्षी दल के नेता आदि ने इस सम्मेलन से जुड़ने की इच्छा व्यक्त की तथा पांच देशों के सम्मेलन से बढ़ता-बढ़ता यह सत्रह का हो गया। केवल तीन माह मिले थे इतने बड़े आयोजन को साकार करने के लिए।

हिंदी भाषा ने वहां एक राष्ट्रीय संस्कृति निर्मित की है। भारतीय ग्रंथ, पर्व, नृत्य, गान आदि से भारतीयता की अनुगूंज सभी ओर श्रवण की जा सकती है। राष्ट्रीय अभिवादन वहां 'हैलो संस्कृति' की दूरी का परिचायक नहीं है अपितु नमित, विनीत, नमस्कार, सीताराम है, रविवार को समुद्र तट पर वे जाएं-न जाएं पर मंदिर में अवश्य जाते हैं। गिटार लेकर गाएं या न गाएं, परंतु खड़ताल लेकर आरती अवश्य गाते हैं। एडिनबर्ग का हिंदू मंदिर सर्वमान्य है। अवकाश वाले दिन मानो मेला लगा होता है। मंदिर के सम्मानीय अवैतनिक मुख्यपुरोहित पं. रमेश तिवारी जो कनाडा दूतावास में एक उच्च अधिकारी हैं—कोर्डलेस माईक ले भजन, कीर्तन, आरती गाते-गवाते हैं। 1991 के आरंभ में उन्होंने एक हिंदू हैंडबुक प्रकाशित की थी जिसमें हिंदी भाषा मूल की 'जय गणेश' से लेकर 'भज मन नारायण' की आरती तक डेढ़ सौ ईशवंदनाएं रोमन लिपि में अंकित की हैं। यह हैंडबुक ट्रिनिडाडी के लिए गीता प्रेस, गोरखपुर के किसी ग्रंथ से कम नहीं है। अंग्रेजी अक्षरावली में हिंदी को वे तन्मयता से गाते हैं कि एक पल को भी यह आशंका होती ही नहीं कि वे न हिंदी बोलते होंगे और न ही उसका अर्थ जानते होंगे जिसे वे गाते हैं।

भजन ही क्यों, भारतीय चलचित्रों के हिंदी गीत वहां राष्ट्रीय स्तर पर ख्यात हैं। रेडियो, दूरदर्शन, वी.सी.आर. टेपरिकार्डर, सभी हिंदी गीतों को प्रचुर मात्रा में प्रस्तुत करते हैं, कुछ अजब परंतु सुखद लगता है जब आप हिंदी गीतों की उद्घोषणाएं, कमेंट्री तथा उनका मूल भाव अंग्रेजी में सुनते हैं तथा तत्पश्चात् गीत सुनते हैं। श्री हंस हनुमान सिंह वेस्टइंडीज के अमीन सयानी हैं, उनके द्वारा प्रस्तुत हिंदी गीतों का कार्यक्रम बिनाका गीतमाला से भी, अधिक लोकप्रिय है। पौली सुखराज वहां की लता मंगेश्कर हैं, दूर राम सुंदर बांसुरी वादन में वहां के चौरसिया हैं, हंसराज रामकिसुन ग़ज़ल के बादशाह हैं। संगीत का कार्यक्रम

'मस्ताना बहार' सर्वप्रिय है। भारत की अधुना हिंदी पॉप गायिका पार्वती खान ट्रिनिडाड की ही पुत्री हैं। किन्तु न तो हंस हनुमान सिंह ही, न ही पोली सुखराज, न ही पार्वती खान और न ही हंसराज रामकिसुन धाराप्रवाह हिंदी बोल पाते हैं, न समझ पाते हैं परंतु हिंदी में जीते हैं, जिलाते हैं।

शनिवार अठहारह अप्रैल, श्री चनका सीताराम के घर में, प्रतिनिधियों तथा विशिष्ट गणमान्य व्यक्तियों के लिए एक भव्य महाभोज का आयोजन था। भारतीय प्रतिनिधिमंडल की दो विभूतियां सर्वश्री बच्चूप्रसाद सिंह और शंकरदयाल सिंह श्री चनका सीताराम के आवास पर ही ठहरे हुए थे, अतः हमें यों प्रतीत हो रहा था कि वे ही भोज दे रहे हैं। सेंट अग्सटीन की पहाड़ी पर सांता मार्गरिता सरकुलर रोड़ पर बसे एल.पी. 33 नं. के महलनुमा बंगले में यह आयोजन था, जहां आकाश में लटके अनेक सितारों तथा चनका सीताराम के उद्यान में रंगीन बल्बों में होड़ मची हुई थी कि कौन अधिक चकाचौंध कर रहा है, वहीं भूस्वामी के व्यक्तिगत तरणताल के नीलवर्णी जल के एक पार हम सब बैठे थे और उस पर गीत-संगीत प्रस्तुत कर रहे कुछ कलाकार थे। एक वृद्ध कलाकार ने सबका मन मोह लिया था, वह भोजपुरी में कोई लोकगीत प्रस्तुत कर रहा था। लोकगीत समाप्त होते ही भोजपुरी ज्ञाता श्री शंकरदयाल सिंह सहित अनेक प्रतिनिधि उस यशस्वी कलाकार का अभिवादन करने इस पार से उस पार पहुंचे, श्री शंकरदयाल सिंह ने भोजपुरी में उससे कुछ पूछा किंतु कलाकार ट्रिनिडाडयन अंग्रेजी में कहने लगा कि वह यह भाषा गाता है पर जानता नहीं है, अंग्रेजी में वार्तालाप में तथ्य उभरकर आया कि वह भारत मूलवंशी भी नहीं है—शुद्ध अफ्रीकी है। हिंदी में उसने केवल इतना कहा कि 'मैं हिंदी नई बोलटा, सीखा चाहटा हूं।' भाषिक परिचय नहीं किंतु हिंदी के भाविक परिचय से वह समृद्ध था, हम सब चौंक उठे थे।

शुक्रवार सत्रह अप्रैल के उद्घाटन सत्र के बाद श्री दीपक रमन द्वारा आयोजित हिंदी पुस्तक पत्रिका प्रर्दशनी का भी उद्घाटन प्रधानमंत्री श्री पैट्रिक मैनिंग द्वारा हुआ था। प्रदर्शनी में भारतीय, अभारतीय हिंदी लेखकों की लगभग पांच सौ कृतियां वहां प्रदर्शित थीं। ट्रिनिडाड से निकलने वाली हिंदी पत्र-पत्रिकाएं यथा—'ज्योति' संपादक हरिशंकर 'आदेश' तथा 'कोहेनूर अखबार'—संपादक 'अज्ञात' स्व. काशी प्रसाद मिश्र के ट्रिनिडाड के एकमात्र हिंदी प्रेस से प्रकाशित सामग्री और मिशनरियों द्वारा हिंदी में प्रकाशित 'ट्रेस्टामेंट' आदि प्रर्दशनी का विशेष आकर्षण थे।

उसी दिन डॉ. भूदेव शर्मा जिन्होंने वर्षों ट्रिनिडाड में हिंदी का अलख जगाया, द्वारा संपादित 'विश्व-विवेक' नामक अंतर्राष्ट्रीय हिंदी पत्रिका का विमोचन भी हुआ था, श्री बच्चू प्रसाद सिंह ने तत्कालीन भारतीय उपराष्ट्रपति श्री शंकरदयाल शर्मा का संदेश-पत्र भी प्रस्तुत किया था जिसमें महामहिम ने हिंदी का दीप प्रज्वलित किए जाते रहने की कामना व्यक्त की थी।

छह विभिन्न सत्रों में चर्चा-परिचर्चा के बाद आयोजित सातवां सत्र चर्चा के लिए नहीं था अपितु ट्रिनिडाड के विपक्ष दल के जुझारू तथा अत्यंत लोकप्रिय नेता श्री वासुदेव पांडे के अभिभाषण हेतु था जिन्होंने हिंदी के पथ पर अवरोध उपस्थित करने के इतिहास को लेकर सरकार की खबर ली तथा उपनिवेशवाद को उखाड़कर फेंकने में सहायक हिंदी भाषा के उत्थान की बात ओजस्वी स्वर में कही।

दो दिवसीय इस चर्चा-संगोष्ठी में प्रेक्षागृह प्रायः पूरा भरा रहता था तथा सामान्य श्रोता भी बीच-बीच में गंभीर प्रश्न पूछते थे। कभी-कभी तो प्रश्न-सत्र मुख्य सत्र से भी अधिक जीवंत हो उठता था।

यहां यह बताना भी जरूरी है कि गुरुवार 16 अप्रैल को ठीक साढ़े आठ बजे ट्रिनिडाड के राष्ट्रपति श्री नूरहसन अली पोर्ट ऑफ स्पेन के भव्य सिटी क्लब में पधारे थे और सर्वप्रथम हिंदी-सम्मेलन के प्रतिनिधियों से आधे घंटे के लिए अनौपचारिक रूप से मिले थे। सम्पन्न देश के उस राष्ट्रपति का आगमन हमारे गरीब देश के राष्ट्रपति से कितना भिन्न था। न कोई पायलट गाड़ी, न सायरन, न अंगरक्षकों की टोली, न कारों का काफिला, न साथ-साथ श्लेषवत खड़े सैनिक। डॉ. सुरेश ऋतुपर्ण अकेले ऐसे हिंदी-सेवी साहित्यकार थे जो प्रत्येक प्रतिनिधि से पूर्व परिचित थे, वे ही हमें राष्ट्रपति से मिलवा रहे थे, राष्ट्रपति के गरम हाथ का स्पर्श और बताने पर कि भारत से आए हैं—हिंदी में उनका पूछना 'ठीक लग रहा है, स्वागत है आपका' कथन रोमांचित कर गया।

संध्या 4 बजे तक रवि- महाराज के आदेश पर सभी प्रतिनिधि समापन समारोह के लिए रुद्रनाथ कपिल देव सेंटर पर पहुंच गए थे। प्रातः का उल्लास हठात् बिछुड़ जाने की कल्पना से तिरोहित होने लगा था। ट्रिनिडाड के सर्वाधिक लोकप्रिय मंत्री—विदेश मंत्री श्री राल्फ महाराज समारोह के अध्यक्ष थे। वे ट्रिनिडाड के अभिताभ बच्चन कहे जाते हैं। वे एक जन्मजात कलाकार हैं, देश के सबसे बड़े रंगकर्मी, रंगमंच विशारद, बेजोड़ अभिनेता, राजनेता के रूप में उनके पदार्पण से पड़ौसी देश सूरीनाम, वैनेजुला, बारबोडास आदि से ट्रिनिडाड के संबंध और मधुर हुए हैं। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में बाल्यपन के अपने हिंदी अनुभवों को रोचक ढंग से प्रस्तुत किया। उनकी प्रथम हिंदी कविता की पंक्ति अपनी नानी को बकरी चराने से मना करने पर यों अनायास बन गई थी जब उन्होंने अपनी नानी से कहा—नानी तोर बकरी, हम ना पकरी।'

श्री चनका सीताराम, रवि महाराज, शंकर रामप्रसाद और सांसद ओझा महाराज द्वारा प्रतिनिधियों को स्मृति चिह्न प्रदान किए गए। चर्चा संगोष्ठी समिति के अध्यक्ष देश के सुप्रसिद्ध विद्वान् व अधिकारी वक्ता डॉ. केन रामचंद ने गोष्ठी में प्रस्तुत किए गए 18 आलेखों के माध्यम से हिंदी को नवजागरण की भाषा तथा उपनिवेशवाद के विरोधी अस्त्र के रूप में उसके भाषावैज्ञानिक और साहित्यिक रूपों की विशद आलोचना की तथा हिंदी

को संयुक्त राष्ट्र संघ की मान्य भाषा होने का प्रस्ताव रखा।

प्रतिनिधियों की ओर से पोलैंड के प्रो. ब्रिस्की ने धन्यवाद प्रस्ताव रखा, रवि महाराज के समापन भाषण से पूर्व श्री राजेंद्र अवस्थी, डॉ. माजदा असद, डॉ. शंकरदयाल सिंह ने अध्यक्ष को अपनी पुस्तकें प्रदत्त कीं।

ठीक छह बजकर 40 मिनट पर, संध्या के धुंधलके के आकाश की छत से धरती के आंगन पर उतरने से पूर्व सर्वश्री राल्फ महाराज, चनका सीताराम और शंकरदयाल सिंह ने वृक्षारोपित किए जिन्हें भारतीय उच्चायुक्त हिंदी, संस्कृत व तेलुगु विद्वान प्रो. लक्ष्मणा ने 'हिंदी वृक्ष' की संज्ञा दी और आशा व्यक्त की कि इस हिंदी वृक्ष की छाया तले हम हर वर्ष मिलकर बैठा करेंगे। □

हिंदी ही एक भाषा है, जो भारत में सर्वत्र बोली और समझी जाती है।

—डाक्टर ग्रियर्सन

हिंदी शिक्षण! क्या हो सकता है

दीपक रमन

ट्रिनिडाड में हिंदी के प्रति सम्मान पैदा करने वालों में दीपक रमन का नाम सम्मान से लिया जाता है। ट्रिनिडाड के प्रसिद्ध हिंदी शिक्षक एवं समाजसेवी दीपक रमन ट्रिनिडाड में हिंदी के शिक्षण को लेकर चिंतित रहते हैं।

हमारे इस लेख का विषय ट्रिनीडाड में हिंदी शिक्षण से संबंधित समस्याओं पर विचार-विमर्श करना है। विशेष रूप से हम कह सकते हैं कि पहले हम ट्रिनीडाड के शिक्षकों तथा विद्यार्थियों के सामने आने वाली समस्याओं एवं कठिनाइयों पर विचार करेंगे और उसके बाद इन समस्याओं के संभव उपाय ढूंढने का प्रयास करेंगे।

इस देश में विभिन्न संगठनों और समूहों द्वारा अनेक वर्षों से हिंदी शिक्षण का कार्य किया जा रहा है। पहले अपनाई गई शिक्षण प्रणालियों को औपचारिक एवं पारंपरिक कहा जा सकता है जिसमें भाषा, संस्कृति और धर्म तीनों का अटूट गठबंधन था। हम इस प्रणाली को 'पाठशाला पद्धति' कह सकते हैं। हालांकि यह पद्धति काफी हद तक प्रभावशाली तथा सफल थी, लेकिन आज की चुनौतियों और परिवर्तनों के कारण हमारी शिक्षण पद्धति और हिंदी के प्रति हमारे संपूर्ण दृष्टिकोण पर पुनर्विचार किए जाने की आवश्यकता है।

प्रोफेसर हरिशंकर आदेश के दिशानिर्देश में भारतीय विद्या संस्थान की शुरुआत तथा हिंदी शिक्षा बोर्ड की स्थापना से परीक्षाएं आयोजित करने, निर्धारित पाठ्यक्रम पुस्तकों के अध्यापन और प्रमाणपत्र वितरण से इस योजना को नया आयाम मिला। भाषा के शिक्षण के लिए पाठ्यचर्या के विकसित करने की दिशा में यह एक बहुत ही प्रभावकारी उपाय सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त, मुख्यतः भारतीय विद्या संस्थान के माध्यम से विद्यार्थियों ने लंदन 'ओ' (दसवीं कक्षा) तथा 'ए' (बारहवीं कक्षा) स्तर की हिंदी परीक्षाएं देना आरंभ

किया जिसमें सफलता की दर काफी अच्छी रही। दूसरी ओर, इससे हिंदी को अन्य विदेशी भाषाओं के समकक्ष लाने में भी सहायता मिली।

हिंदी के प्रचार-प्रसार में इस नए घटनाक्रम तथा परिवर्तित दृष्टिकोण ने हमें समग्र स्थिति का पुनर्मूल्यांकन करने के लिए विवश किया है। नए परिदृश्य में भाषा की पारंपरिक शिक्षण प्रणालियां कम प्रभावशाली सिद्ध हो रही हैं जिसके कारण विद्यार्थियों के मन में कुंठा पैदा हो रही है। इसके अतिरिक्त, हिंदी निधि (हिंदी फाउंडेशन ऑफ ट्रिनीडाड) के महान प्रयासों से हमारे पब्लिक सेकेण्डरी स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों में हिंदी अब एक विषय के रूप में पढ़ाई जा रही है। यदि इस स्थिति को प्रभावशाली रूप से बनाए रखना है और इसकी गति को कायम रखना है तो हमें उन मुद्दों और समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक विचार करना होगा जो भाषा के अध्ययन-अध्यापन को प्रभावित करते हैं।

मैं औपचारिक शिक्षा-प्रणाली में अर्थात् प्राइमरी और मुख्यतः सेकेण्डरी विद्यालयों में हिंदी की स्थिति पर विशेष रूप से विचार करना चाहता हूं लेकिन इस विचार के अधिकांश निष्कर्ष मंदिरों तथा अन्य संगठनों द्वारा चलाए जा रहे विद्यालयों के लिए भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण होंगे।

1. उपयुक्त पाठ्यक्रम की आवश्यकता

यह एक स्वतः सिद्ध तथ्य है कि उपयुक्त पाठ्यक्रम के अभाव में किसी विषय को विधिवत् पढ़ाया नहीं जा सकता। पाठ्यक्रम शिक्षक एवं विद्यार्थी दोनों के लिए मार्गदर्शक होता है। यह उन लक्ष्यों को भी निर्धारित करता है जिन्हें प्राप्त करने के लिए हम प्रयास करते हैं। हमारे सेकेण्डरी विद्यालयों के लिए समान पाठ्यक्रम बनाया जाना चाहिए और उस पाठ्यक्रम के आधार पर विद्यालय की विभिन्न कक्षाओं के लिए शिक्षण योजनाएं बनाई जा सकती हैं। इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाने से हिंदी शिक्षण कार्यक्रम को प्रयोजन, संरचना और सुव्यवस्था प्राप्त होगी।

2. परीक्षाएं

पाठ्यक्रम तथा परीक्षाएं एक-दूसरे से निकट संबंध रखती हैं। हिंदी निधि यह सुनिश्चित करने के लिए कर्मठतापूर्वक प्रयत्नशील रही है कि सेकेण्डरी विद्यालयों के जो विद्यार्थी 'ओ' स्तर में हिंदी पढ़ना चाहते हैं, उन्हें इसकी परीक्षा देने की सुविधा उपलब्ध होगी। अब तक इस दिशा में कुछ प्रगति हुई है तथा मामले का लगातार अनुवर्तन किया जा रहा है।

3. पाठ्य पुस्तकें

यह एक अन्य पहलू है जो परीक्षाओं और पाठ्यक्रम दोनों से निकट रूप से संबद्ध है। अन्य विषयों में पाठ्यपुस्तकों की शृंखला हो सकती है जैसे गणित पुस्तक 1, पुस्तक 2, पुस्तक 3 आदि जो किसी पाठ्यक्रम विशेष के अनुसार परीक्षा विशेष के लिए तैयार की जाती है। हमारी हिंदी पाठ्य पुस्तकों में भी यह दृष्टिकोण अवश्य प्रतिबिंबित होना चाहिए। मेरा अनुभव है कि हिंदी के प्रभावशाली शिक्षण के लिए आपको तीन प्रकार की पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकता है अर्थात् :-

(1) अभ्यास पुस्तिकाएं
(2) व्याकरण पुस्तिकाएं
(3) पाठ्य पुस्तिकाएं

इन तीनों की मुख्य विशेषताओं को एक ही पाठ्य पुस्तक में शामिल किया जा सकता है। हिंदी निधि ने इस दिशा में अब कार्य शुरू कर दिया है और पाठ्य पुस्तकों की ऐसी श्रृंखला पर कार्य प्रारंभ हो गया है तथा कुछ पुस्तकें उपलब्ध करा दी गई हैं। यह वस्तुतः एक प्रशंसनीय प्रयास है।

4. परीक्षा प्रणाली

अब मैं एक ऐसी परीक्षा प्रणाली का प्रस्ताव देना चाहता हूं जिसमें औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों शिक्षा पद्धतियों का एकीकरण हो।

स्तर	**अनौपचारिक शिक्षा प्रणाली**	**औपचारिक प्रणाली (सेकेण्डरी स्कूल)**
परिचयात्मक	6 माह का पाठ्यक्रम	फार्म 1
प्रारंभिक	6 माह का पाठ्यक्रम	फार्म 2
माध्यमिक	6 माह का पाठ्यक्रम	फार्म 3
'ओ' स्तर	1 वर्ष का पाठ्यक्रम	फार्म 4 और 5
'ए' स्तर	1 वर्ष का पाठ्यक्रम	फार्म 5 और 6

इस योजना के अंतर्गत हिंदी निधि औपचारिक और अनौपचारिक दोनों शिक्षा प्रणालियों के लिए प्रारंभिक, प्राथमिक और माध्यमिक स्तरों के लिए परीक्षा तैयार करेगा। 'ओ' और 'ए' स्तर की परीक्षाओं का निर्धारण बाह्य रूप से किया जाएगा। प्रत्येक स्तर के लिए उपयुक्त

पाठ्यक्रम तैयार किए जाएंगे तथा इन पाठ्यक्रमों के आधार पर विद्यार्थियों द्वारा उपयोग किए जाने हेतु उपयुक्त स्तर की पाठ्य पुस्तकें तैयार की जा सकती हैं। इस प्रकार सीखने और सिखाने की संपूर्ण प्रक्रिया को युक्तिसंगत और सरल बनाया जा सकता है।

5. शिक्षण प्रणालियां

ट्रिनीडाड के संदर्भ में आज हिंदी एक विदेशी भाषा है और इसे इसी प्रकार सिखाया जाना चाहिए। हिंदी भाषा का अध्यापन उसी ढंग से सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता जैसे कि इतिहास का। स्पेनिश और फ्रेंच की तुलना में हिंदी विद्यार्थियों को एक नयी लिपि सीखने में अतिरिक्त कठिनाई हो सकती है। इसलिए, विदेशी भाषा होने के अतिरिक्त हिंदी विदेशी लिपि भी है—जिसके कारण इसकी शिक्षण प्रणाली पर पर्याप्त ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वर्णमाला सीखने की अवस्था में ही अधिकांश लोग हिंदी का अध्ययन छोड़ देते हैं। इस अवस्था विशेष में शिक्षण कौशल अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

विदेशी भाषा शिक्षण के लिए विशेष ज्ञान, कौशल तथा समर्पण अपेक्षित है। सेकेण्डरी स्कूलों में हमारे अनेक शिक्षक भाषा-शिक्षण के विशेषज्ञ नहीं हैं। वे गणित, जीव-विज्ञान अथवा इतिहास में अर्हता प्राप्त हो सकते हैं लेकिन अपनी समर्पण भावना और प्रतिबद्धता के कारण वे विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण की चुनौती का सामना करते हैं।

मुद्दा यह है कि इन शिक्षकों को भाषा-शिक्षण का कोई औपचारिक अनुभव नहीं है तथा उन्हें उस सब सहायता की आवश्यकता है जो वे प्राप्त कर सकते हैं। मेरा सुझाव है कि हिंदी निधि इन अध्यापकों और स्कूल में और उसके बाहर हिंदी के अन्य सभी शिक्षकों के हितार्थ वार्षिक अथवा दो वर्ष में एक बार नियमित आधार पर चार से पांच दिन तक की एक पूर्ण कार्यशाला आयोजित करे।

यह कार्यशाला संबंधित क्षेत्र के अनुभवी विद्वानों और विशेषज्ञों द्वारा आयोजित की जानी चाहिए और यह इतना उपयोगी और आकर्षक होना चाहिए जिसकी हिंदी शिक्षक आतुरतापूर्वक प्रतीक्षा करें।

ऐसी अनेक समस्याएं और मुद्दे हैं जिन्हें हिंदी शिक्षण के संबंध में उठाया जा सकता है लेकिन अभी बुनियादी बातों पर ही विचार करना उचित होगा। मुझे विश्वास है कि हमारे विचार-विमर्श से, अन्य अनेक संबंधित क्षेत्रों के बारे में भी बात उठेगी। हमारा आज का विचार-विमर्श उपयोगी तथा ज्ञानवर्द्धक होगा तथा शिक्षकों, विद्यार्थियों और व्यापक रूप से हिंदी के हितार्थ सहायक होगा। मैं ट्रिनीडाड एवं टुबैगो के सभी हिंदी शिक्षकों के प्रति श्रद्धा व्यक्त करता हूं जिनका समर्पण प्रशंसनीय है। □

एक विलक्षण हंगेरियन भारतविद् : प्रो. तोत्तोशी चाबा से साक्षात्कार

असगर वजाहत
मारिया नेज्यैशी

हंगेरियन भारतविदों में प्रो. तोत्तोशी चाबा (जन्म 1931) एक विलक्षण व्यक्ति और विद्वान हैं। वे 1953 से ओत्वोश लोरान्द विश्वविद्यालय के योरोपीय अध्ययन विभाग से जुड़े हुए हैं। 1987 से वे विभागाध्यक्ष हैं। दरअसल हंगरी में विधिवत तरीके से भारतीय विषयों के अध्यापन को शुरू करने का श्रेय उन्हीं को जाता है।

डॉ. चाबा ने ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृत भाषाविज्ञानों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। 'शुकसप्तति' का न केवल उन्होंने हंगेरियन में अनुवाद तथा आलोचनात्मक अध्ययन किया है बल्कि उसकी भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण भी किया है। शुकसप्तति की व्याकरणिक संरचनाओं के संबंध में उन्होंने जो लेखमाला लिखी है वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। उन्होंने लैटिन, प्राचीन यूनानी और संस्कृत की वाक्य-संरचना का विशेष अध्ययन किया है तथा क्रियार्थक संज्ञाओं, कृदंतों की संरचना को स्पष्ट किया है। उनके अनुवादों में प्राचीन यूनानी लेखक 'थूकिदिदेस' के इतिहास ग्रंथ के कुछ अंशों का अनुवाद महत्त्वपूर्ण माना जाता है। फारसी के प्राचीन शिलालेखों का हंगेरियन अनुवाद भी उनका उल्लेखनीय कार्य है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के कुछ हिस्सों का भी उन्होंने हंगेरियन में अनुवाद किया है।

आज हंगरी में जितने भी वरिष्ठ और महत्त्वपूर्ण भारतविद् हैं वे प्रो. तोत्तोशी के ही छात्र रहे हैं। प्रो. तोत्तोशी दरअसल एक परंपरा के संस्थापक माने जाते हैं।

प्रश्न : आपका जन्म कब, कहां, किस तरह के परिवार में हुआ था?
उत्तर : मेरा जन्म 6 जुलाई 1931 को बुदापैश्त के एक पुराने प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था।

मेरे पिता जी अध्यापक थे तथा अनेक भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। माता सुसंस्कृत तथा परिष्कृत अभिरुचियों से संपन्न थीं। हम दो भाइयों तथा एक बहन का बचपन हंगेरियन परंपरा के अनुसार ही व्यतीत हुआ।

प्रश्न : इसका मतलब है आपका बचपन सुख-सुविधाओं में बीता तथा आपको कोई कष्ट न था।

उत्तर : नहीं, इसके विपरीत हुआ। राजनैतिक परिस्थितियों में बदलाव आ जाने तथा पिताजी की असमय मृत्यु हो जाने के कारण परिवार बड़े संकट में पड़ गया था। मैं ही परिवार में सबसे बड़ा था। उस समय मेरी आयु 14 वर्ष थी। इसलिए परिवार के पोषण का सारा भार मेरे ऊपर आ गया। मैं तरह-तरह से धनोपार्जन का प्रयास करता था। लेकिन उस समय भी मेरा मनपसंद काम लड़कों को पढ़ाना था। मैं यह काम अपने शौक के लिए करता था या धनोपार्जन के लिए यह कहना कठिन है।

प्रश्न : इतने वर्षों तक लगातार पढ़ाने के बाद भी क्या आपको पढ़ाने में आज भी उतनी ही रुचि है?

उत्तर : आप उसे केवल रुचि नहीं कह सकते, पढ़ाना मेरे लिए प्रार्थना और पूजा से भी बढ़कर है यानि एक जुनून की हद तक मैं पढ़ाना पसंद करता हूं। मुझे पढ़ाने जैसा आनंद किसी काम में नहीं आता। पढ़ाने से मुझे जो संतोष प्राप्त होता है उसका वर्णन कर पाना कठिन है। आज भी मैं क्लास लेने की वैसी ही तैयारी करता हूं जैसी प्रारंभ में किया क्ररता था। मैं लगातार आठ-आठ घंटे पढ़ा सकता हूं। पढ़ाने से मैं कभी नहीं थकता। लगता है मेरे जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य पढ़ाना है। पढ़ाने के प्रति मेरी लगन का ही नतीजा है कि मेरे छात्र-छात्राएं जब किसी दूसरे विश्वविद्यालय में पढ़ने या शोध करने जाते हैं तो उनकी प्रतिभा और परिश्रम सबको प्रभावित करते हैं। अभी हाल में ही मेरी एक छात्रा तोरजोक युदित को आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय की उच्च स्तरीय छात्रवृत्ति मिली है। मेरे एक छात्र डॉ. जार्ज कर्शइ पेरिस विश्वविद्यालय में कई साल प्राचीन यूनानी पढ़ाकर लौटे हैं। यह मेरे लिए बड़े संतोष की बात है कि मेरे छात्र जहां भी जाते हैं उच्चस्तरीय और महत्त्वपूर्ण काम करते हैं। एक शिक्षक के लिए इससे बड़ा सम्मान और क्या हो सकता है?

प्रश्न : मैं आपसे थोड़ा भिन्न प्रकार का एक सवाल पूछना चाहता हूं यदि अटपटा लगे तो क्षमा करेंगे। लेकिन मुझे लगता है आप जैसा व्यक्ति ही उसका उत्तर दे सकता है। प्रश्न यह है कि संस्कृत पढ़ने का आपके जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा?

उत्तर : दिलचस्प सवाल है। और मैं आपको एक दिलचस्प उदाहरण देकर इसका जवाब दूंगा। ये सामने आप किताबों की अलमारी देख रहे हैं न? इसे मैंने बनाया है। यदि मैंने संस्कृत न पढ़ी होती तो मैं ये अलमारी नहीं बना सकता था।

प्रश्न : संस्कृत पढ़ने और अल्मारी बनाने में क्या ताल्लुक?

उत्तर : संबंध है, और बहुत गहरा है। संस्कृत तथा भारतीय धर्म दर्शन और साहित्य ने मेरे व्यक्तित्व को, मेरे विचारों को बहुत प्रभावित किया है। मैं जब दिन में दस-दस घंटे एकाग्रता से एकांत में बैठकर संस्कृत व्याकरण पढ़ता था तो लगता था कि एक निस्सीम पहाड़ है जिसे मैं एक-एक तिल करके खोदने का प्रयास कर रहा हूं। उसमें मैं सफल हो गया। तब मुझे लगा कि अब संसार में कौन-सा ऐसा काम है जो मैं नहीं कर सकता। आप समझे? जहां तक मान्यताओं का सवाल है, मैं भारतीय संस्कृति और दर्शन की मूल अवधारणा यानि 'समन्वय' से बहुत प्रभावित हुआ। धार्मिक सहिष्णुता तथा सह-अस्तित्व के विचारों ने भी मुझे आकर्षित किया।

प्रश्न : आपने प्राचीन यूनानी, प्राचीन फारसी, लातानी आदि भाषाओं के साथ-साथ संस्कृत का भी अध्ययन किया है, क्या इन सब प्राचीन भाषाओं में आपको कोई समता दिखाई दी?

उत्तर : मैं यह मानता हूं और अपने अध्ययन के आधार पर मानता हूं कि मानव ज्ञान विश्व के सभी लोगों के संयुक्त प्रयासों का परिणाम है। आप चाहे भाषाओं का अध्ययन करें, चाहे दार्शनिक विश्वासों की व्याख्या करें, चाहे विभिन्न संस्कृतियों के कलारूपों को देखें; आप पाएंगे कि समन्वय की भावना उस समय से विद्यमान रही है जिस समय शायद समन्वय शब्द तक की कोई कल्पना न थी।

प्रश्न : अपने विभाग की गतिविधियों के बारे में संक्षेप में कुछ?

उत्तर : यह विश्वद्यिालय का एक प्राचीनतम विभाग है। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि यहां संस्कृत की पढ़ाई लगभग सवा सौ साल से हो रही है। डॉ. मारिया नेज्यैशी तेरह साल से हिंदी पढ़ा रही हैं। मुख्यतः विभाग प्राचीन योरोपीय तथा संस्कृत भाषाओं के भाषावैज्ञानिक और साहित्यिक अध्ययन पर बल देता है। पिछले दो वर्षों से उर्दू की पढ़ाई भी शुरू की गई है। विभाग 'इंडोलॉजी' में डिप्लोमा, जिसे आप एम.ए. कहते हैं, की उपाधि देता है। यह पांच साल का कोर्स है। इस कोर्स में छात्र सीधे दाखिला नहीं ले सकते। स्तर को बनाए रखने के लिए हम यह करते हैं कि जो छात्र एक वर्ष तक विश्वविद्यालय में पढ़कर यह सिद्ध कर देते हैं कि वे पढ़ाई में अच्छे हैं उनको हम दाखिला देते हैं। प्रथम दो वर्षों में हिंदी तथा संस्कृत की बुनियादी शिक्षा दी जाती है। ऐतिहासिक तथा भाषावैज्ञानिक आधार मजबूत करने के लिए प्राचीन ईरानी यानी अवेस्ता तथा प्राचीन योरोपीय भाषाओं की जानकारी दी जाती है। उसके बाद संस्कृत, हिंदी साहित्य का इतिहास पढ़ाया जाता है। भारतीय दर्शन, कलारूपों तथा इतिहास का अध्यापन होता है। बोलचाल की हिंदी पर बल दिया जाता है। चौथे वर्ष साहित्य की पढ़ाई प्रमुख हो जाती है। कविताओं, कहानियों, व्यंग्य रचनाओं, उपन्यासों, लेखों आदि के अतिरिक्त व्यावहारिक हिंदी की शिक्षा दी जाती है। पांचवें, यानी अंतिम वर्ष छात्रों को लघु शोध-प्रबंध लिखना होता है।

प्रश्न : भविष्य में विभाग के स्वरूप को व्यापक बनाने के बारे में क्या कुछ योजनाएं हैं?

उत्तर : विभाग लगातार व्यापक हो रहा है। अध्ययन के नए-नए क्षेत्र बन रहे हैं। जैसा कि मैंने बताया था दो साल से उर्दू की पढ़ाई हो रही है। इस वर्ष से विभाग में 'भारतीय कला' पर एक कोर्स शुरू किया गया है। भारतीय दर्शन पर भी कुछ नए कोर्स शुरू किए गये हैं। विस्तार की सारी संभावनाओं तथा आवश्यकताओं को स्वीकारते तथा लागू करते हुए हम इस बात पर विशेष बल देना चाहते हैं कि भाषाओं के अध्ययन के बिना किसी भी प्रकार का अध्ययन अधूरा रहेगा। हमें प्रसन्नता है कि भाषाओं के अध्यापन में भारत सरकार तथा भारतीय राजदूतावास हमारी सहायता करने को तत्पर रहते हैं। हमें भारतीय दूतावास बुदापैश्त के माध्यम से न केवल पुस्तकें आदि प्राप्त होती रहती हैं बल्कि वे यथासंभव हर प्रकार की सहायता करते हैं।

प्रश्न : हंगरी में भारतीय अध्ययन का भविष्य कैसा है?

उत्तर : मुझे विश्वास है कि भविष्य उज्ज्वल है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण इतिहास है। यदि हम पिछले तीन-चार सौ साल पर नजर डालें तो पाएंगे कि भारत के प्रति हंगेरियनवासियों की रुचि लगातार बढ़ती रही है। □

हिंदी द्वारा सारे भारत को एक सूत्र में पिरोया जा सकता है।

—दयानंद सरस्वती

हिंदी का क्षितिज विस्तृत होना चाहिए : प्रो. मारिया सिस्तोफ ब्रिस्की

नरेंद्र कोहली
हरिमोहन शर्मा

एक समय पोलैंड के हिस्से लिथुआनिया (अब पोलैंड के पड़ोसी स्वतंत्र देश की राजधानी) विलन्यूस में, 1937 को जन्मे, पोलैंड की राजधानी वार्सा के विश्वविद्यालय् से भारत विद्या में स्नातकोत्तर शिक्षा पाए प्रो. मारिया सिस्तोफ ब्रिस्की एक ऐसे विदेशी हिंदी भाषी विद्वान का नाम है जो पिछले 35 वर्षों से लगातार संस्कृत-हिंदी भाषा का अध्यापन, शोध, अनुवाद कार्य कर रहा है। इन्होंने बनारस से प्राची भारतीय रंगमंच की संकल्पना विषय पर शोध कार्य किया तथा पी.एच डी. की उपाधि प्राप्त की और इसके बाद वहीं वार्सा विश्वविद्यालय, वार्सा (पोलैंड) के भारत विद्या विभाग में अध्यापक, बाद में रीडर हो गए और अब यहीं प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हैं।

प्रो. ब्रिस्की भारत से अनेक रूपों से जुड़े रहे हैं—बनारस छात्र के रूप में (1961-66), दिल्ली विश्वविद्यालय में पोलिश भाषा के अध्यापक के रूप में (1971-1973) तथा नई दिल्ली में पोलैंड गणराज्य के दूतावास में सांस्कृतिक राजनयिक तथा बाद में राजदूत के रूप में (1990-96)।

प्रो. ब्रिस्की ने भारत विधा विषयक तीन पुस्तकें लिखी हैं तथा सौ के लगभग लेख-निबंध पोलिश-अंग्रेजी-हिंदी में लिखे हैं। हिंदी बोलना इनके लिए प्रोफेशनल नैतिकता से उतना जुड़ा हुआ सवाल नहीं है, जितना निष्ठा से। राजदूत-पद से निवृत्त होकर स्वदेश लौटने से पहले, नरेंद्र कोहली और हरिमोहन शर्मा के साथ उनकी बातचीत हिंदी और उससे जुड़े अपने सवालों पर उनके निर्भीक विचारों को प्रकट करती है।

नरेंद्र कोहली : अब आप अपने देश वापिस जाकर क्या करेंगे?

प्रो. ब्रिस्की : अपने विश्वविद्यालय में जाकर पढ़ाऊंगा।

हरिमोहन शर्मा : आप वार्सा विश्वविद्यालय में भारत विद्या के विभाग के नामी प्रोफेसर और अध्यक्ष हैं।

नरेंद्र कोहली : इसलिए पोलिश दूतावास में सांस्कृतिक वातावरण बढ़ा। अन्यथा दूतावासों का परिवेश साहित्यिक-सांस्कृतिक नहीं होता।

प्रो. ब्रिस्की : यह रुचि पर निर्भर करता है। सभी राजदूत ऐसे नहीं हो सकते। वैसे भी यह उनका मुख्य काम नहीं है। मैं चूंकि लगभग 13 वर्ष भारत में रहा तथा हिंदी साहित्यकारों से मेरा परिचय रहा है। इसलिए ...

नरेंद्र कोहली : तेरह साल?

प्रो. ब्रिस्की : लगातार नहीं टुकड़ों में। बनारस में शिक्षा पाई। तब से वार्सा विश्वविद्यालय में हिंदी संस्कृत पढ़ा रहा हूं तथा लगातार आ-जा रहा हूं।

नरेंद्र कोहली : संस्कृत भी?

हरिमोहन शर्मा : भारत विद्या विभाग, वार्सा विश्वविद्यालय में पंच वर्षीय पाठ्यक्रम में दो वर्ष अनिवार्य रूप से संस्कृत पढ़ाई जाती है। ब्रिस्की जी नीचे बैठकर सस्वर गीता का पाठ करते हैं।

प्रो. ब्रिस्की : पोलैंड में चार विश्वविद्यालयों में हिंदी पढ़ाई जाती है तथा अन्य भारतीय भाषाएं भी। पोलैंड चार करोड़ का देश है तथा चार विश्वविद्यालयों में हिंदी का पठनपाठन होता है। दयनीय स्थिति यह है कि भारत 90 करोड़ का देश है। यहां पोलिश भाषा का एक भी विभाग नहीं है। दरअसल लोगों में जिज्ञासा नहीं है, रुचि नहीं है। भारतीय सोचते हैं कि एक और भाषा क्यों सीखूं। मोक्ष तो मिलना ही है। दूसरे, भारतीय मानस में एक दुविधा के दर्शन होते हैं—वह वैसा बनना चाहते हैं जैसा कि पाश्चात्य जगत, पर कहता यह है कि सरकार ने यह किया, यह नहीं किया। मैं चाहता हूं कि भारतीय मानस एक दिन यह कहे कि मैं ऐसा हूं। या तो तुम मुझे ऐसे ही स्वीकार करो या फिर जाओ। बहुत लोग इस देश में ऐसे हैं जो कहते हैं कि जर्मनों ने वेद पढ़कर तकनीकी की प्रगति हासिल की, वह भारत की देन है। यह एकदम ऊटपटांग है। मैं पूरी जिम्मेदारी से कह सकता हूं क्योंकि मैंने वेदों को देखा है कि उनमें क्या लिखा है। फिर भी आप यह कहेंगे कि दो हजार साल पहले यहां हवाई जहाज का कारखाना था तो यह पागलपन है। समय की बरबादी है। दरअसल यही भारतीय मानस की दुविधा है क्योंकि आप लोग देखते हैं कि पाश्चात्य जगत अधिक शक्तिशाली

है। अतः हम भी शक्तिशाली बनें—यही वह अंतर्द्वन्द्व है। पर दोष सरकार को देंगे। होना यह चाहिए कि हम कहें—हम ऐसे नहीं हैं। हमारे जीवन के लक्ष्य दूसरे हैं—यदि गौर से देखें तो हम पर पूरा चिंतन दूसरा है। हुआ क्या है कि तकनीकी प्रगति के फल सुंदर व रोचक हैं। भारतीय चाहते हैं कि ये हमें भी मिलें। पर वे यह नहीं सोचते हैं कि यह हमें अकेले नहीं मिलेंगे।

हरिमोहन शर्मा : प्रो. ब्रिस्की का कहना ठीक है, भारतीय विद्या पढ़ा-लिखा हिंदी भाषी भी विदेशी तो छोड़िये स्वदेश की सिर्फ भारतीय भाषा तक नहीं सीखते। तमिल से, बंगला से, उड़िया से हिंदी अनुवाद मिल जायेंगे जबकि इसके विपरीत ...

नरेंद्र कोहली : जितना बंगला से हिंदी में अनुवाद हुआ क्या उतना हिंदी का बंगला में अनुवाद हुआ है? उड़िया में हुआ है? सीमांत प्रदेश में अनेक बहुभाषी लोग मिल जाऐंगे—वे अंग्रेजी भी अच्छी जानते होंगे।

हरिमोहन शर्मा : अच्छा ब्रिस्की जी, मेरे मन में एक जिज्ञासा है कि आप हिंदी की ओर कैसे आए।

प्रो. ब्रिस्की : देखिए मैं भाषा सीखना चाहता था जिससे दूसरे लोगों से उनके साहित्य-संस्कृति को जान सकूं। अंग्रेजी सीखकर तो, मेरी मां ने कहा कि मैं ऐसी भाषा सीखूंगा जिसे कम लोग जानते हैं। तब भारत में विद्या विभाग का। वहां से पांच साल संस्कृत और भारत संबंधित पढ़ाई की। यह मेरे भाग्य में था। या कहें संयोग था। संस्कृत का बुनियादी व्याकरण मेरे पास था। फिर उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए बनारस आने का अवसर मिला। हिंदी भाषी लोगों के बीच पांच साल रहा। थोड़ी हिंदी सीख गया। घर में ऐसा विचार नहीं था कि डाक्टर बनो पैसा कमाओ। यह अवश्य था कि ऐसा करें जिसमें जी खुश हो। यह सब सच निकला। खाने-पीने के लिए ठीक रहा है जीविका अच्छी चली। भाग्य से कोई शिकायत नहीं।

हरिमोहन शर्मा : पोलिश दूतावास में आने के बाद आपके हिंदी-कर्म को कोई नई दिशा मिली?

प्रो. ब्रिस्की : हिंदी-संस्कृत भी तब मेरे लिए सैद्धांतिक विषय थे। मैं समझ नहीं पाता था कि हिंदी क्यों नहीं बोली जाती। मैं समझता था कि समस्या कोई गंभीर नहीं है थोड़ी बुद्धि लगाएं तो समाधान निकल आएगा। किंतु नजदीक से देखने पर पता चला कि भारत एक बहुभाषी देश है। सामाजिक-राजनैतिक कक्षाओं से यहां अंग्रेजी का प्रकोप है जिसे सुलझाना उतना आसान नहीं जितना मैं समझता था। यह एक जटिल और संश्लिष्ट समस्या है जिसकी गरिमा का पता इस बार चला। इसमें विदेशी को सलाह देने का अधिकार

नहीं है। इस समस्या को सावधानी से सुलझाना होगा जिससे कि बुरे भाव न पनपें या दंगे-फसाद न हों। मैं खुश हूं कि मेरे ज्ञान का दायरा बढ़ा है।

हरिमोहन शर्मा : इस बार के भारत प्रवास में आपसे अनेक राजनेताओं, साहित्यकारों से मिलने का अवसर मिला होगा हिंदी साहित्य से परिचय प्रगाढ़ हुआ होगा—इस विषय में आपकी प्रतिक्रिया?

प्रो. ब्रिस्की : मेरा हिंदी का ज्ञान अपर्याप्त है। हिंदी कविता को पढ़ता व समझता तो हूं पर उतना नहीं जितना कि मैं अपनी भाषा की कविताओं या साहित्य को। इस समय मैं अपनी सीमाओं को पहचान रहा हूं। इस दिशा में मैं आगे प्रयत्न करुंगा। हिंदी में अनेक लेखकों का साहित्य पढ़ा। अनेक गद्य लेखकों में भाषा का प्रवाह है उनके साहित्य में भाषा की अनुगूंज पाता हूं। कुछ लघु कहानियों में इस तरह के विशिष्ट माहौल की अभिव्यक्ति होती है। मानो एक तस्वीर या समय को पकड़ लिया हो। मानो जमी हुई, बर्फ बनी हुई पानी की बूंद—यह क्षमता आपके यहां लघु कहानियों में पाई।

हरिमोहन शर्मा : क्या कुछ इस तरह की हिंदी कविताओं का अनुवाद भविष्य में करने का इरादा लेकर जा रहे हैं।

प्रो. ब्रिस्की : हां, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', के नाटक महात्मा ईसा का अनुवाद करना है। संस्कृत में अर्थशास्त्र का पोलिश में अनुवाद कर रहा हूं। नाटयशास्त्र तथा मुद्राशास्त्र का अनुवाद कार्य चल रहे हैं। देखिए क्या होता है।

हरिमोहन शर्मा : विश्व हिंदी सम्मेलन का आयोजन हो रहा है। आपको क्या लगता है कि इससे हिंदी का कुछ हित होगा?

नरेंद्र कोहली : विश्व स्तर पर हिंदी की चर्चा होने से ध्यानाकर्षण तो होता है किंतु संयुक्त राष्ट्र की भाषा बन जाएगी—उससे हिंदी का कुछ हित होगा—संदेहास्पद है। प्रवासी भारतीय भी हिंदी की उतनी सहायता नहीं कर सकते जितनी कि स्वयं हिंदी भाषा भाषी क्षेत्र में रहने वाले लोग। ऐसा लगता है कि हिंदी भाषा-भाषी की जिज्ञासा बढ़नी चाहिए जिससे हिंदी में नई-नई सामग्री आएगी। विश्वस्तर पाने की प्रयत्नशील भाषा में स्तरीय सामग्री का होना आवश्यक है। हिंदी में वह सब होना चाहिए पर अंग्रेजी के माध्यम से नहीं। हिंदी का क्षितिज विस्तृत होना चाहिए। हिंदी वालों को सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक प्रगति होनी चाहिए। जिससे कि वे स्वयं पढ़े तथा हिंदी को साहित्यिक-सांस्कृतिक दृष्टि से पुष्ट करें। □

कोरिया में हिंदी अनुवाद बच्चे की चाल चल रहा है : प्रो. ली जंग हो

दिविक रमेश

प्रोफेसर ली जंग हो प्रसिद्ध कोरियायी भारतविद् हैं और आजकल दक्षिण कोरिया की राजधानी सोल स्थित विदेशी भाषाओं के अध्ययनार्थ हांगुक विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष हैं। साथ ही दक्षिण-पश्चिम एशियायी अध्ययन केंद्र के निदेशक भी हैं। प्रस्तुत है भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् की ओर से हांगुक विश्वविद्यालय में कार्यरत् शिक्षक दिविक रमेश के हिंदी से जुड़े कुछ सवालों पर बातचीत।

दिविक रमेश : सबसे पहले तो मैं अपनी और अपने देश की ओर से भारत और हिंदी के प्रति आपके प्रेम के लिए हृदय से अभिनंदन करता हूं। आप अपने देश में हिंदी कब से पढ़ा रहे हैं?

प्रोफेसर ली : धन्यवाद ! मैं पिछले पंद्रह साल यानी सन् 1981 से हिंदी एवं हिंदी साहित्य पढ़ा रहा हूं। इससे पहले मैंने इसी विश्वविद्यालय से हिंदी में बी.ए. करने के बाद दिल्ली में केंद्रीय हिंदी संस्थान और जे.एन.यू. में हिंदी और हिंदी साहित्य का अध्ययन किया।

दिविक रमेश : हांगुक विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग कब खुला था? क्या अन्यत्र भी हिंदी पढ़ाई जा रही है?

प्रोफेसर ली : हिंदी विभाग सन् 1972 में खुला। हमारे विश्वविद्यालय में एक और कैम्पस है, यनेगिन कैम्पस। वहां सन् 1984 में हिंदी विभाग खुला। हमारे देश में दूसरा बड़ा शहर है पूसान। पूसान में, पूसान विश्वविद्यालय में भी हिंदी विभाग है। शुरू में नाम था हिंदी विभाग। आजकल दक्षिण एशियायी विभाग नाम हो गया है।

दिविक रमेश : आकार में, एक छोटे देश के अंतर्गत, दो-दो विश्वविद्यालयों में हिंदी पढ़ाना अपने आप में एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात है। कुल मिलाकर कितने विद्यार्थी होंगे हिंदी में?

प्रोफेसर ली : हमारे विश्वविद्यालय के प्रत्येक कैम्पस में 120 विद्यार्थी है। कुल 240 विद्यार्थी हुए। और पूसान में 120 विद्यार्थी हैं। कुल मिलाकर 360 विद्यार्थी होंगे।

दिविक रमेश : हिंदी किस स्तर पर पढ़ाई जाती है?

प्रोफेसर ली : पहले और दूसरे वर्ष में ज्यादातर हिंदी पढ़ाना। व्याकरण, वार्तालाप, भाषा-अभ्यास है। जूनियर और सीनियर (यानी तीसरे और चौथे वर्ष में हिंदी साहित्य यानी हिंदी कविता, उपन्यास आदि पढ़ाए जाते हैं। इसके अलावा इतिहास, राजनीति आदि भी। हमारे यहां चार साल का बी.ए. कोर्स है। पहले-दूसरे साल में हिंदी भाषा पर जोर दिया जाता है। इसके बाद तीसरे-चौथे साल में हिंदी साहित्य, भारतीय इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि पढ़ाए जाते हैं।

दिविक रमेश : पाठ्यक्रम तो काफी दिलचस्प है। आपके विभाग में कुल कितने प्राध्यापक हैं?

प्रोफेसर ली : हमारे विभाग में कुल पांच प्रोफेसर हैं। मातृ भाषा के तो आप हैं। कोरियाई चार हैं। चारों ने दिल्ली स्थित केंद्रीय हिंदी संस्थान, जे.एन.यू. और दिल्ली विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त की है। इनमें से तीन ने हिंदी साहित्य और एक ने भाषा-विज्ञान में पी.एचडी. की है।

दिविक रमेश : विद्यार्थियों की संख्या, प्राध्यापकों की शिक्षा और पाठ्यक्रम की गरिमा सचमुच प्रभावशाली है। हिंदी पढ़ने की कोरियाई विद्यार्थियों के रुझान के कारण क्या हैं?

प्रोफेसर ली : भारत और कोरिया, दोनों देश, पुराने जमाने से बहुत घनिष्ठ संबंध जोड़ते आ रहे हैं। कुछ तो भारतीय इतिहास एवं संस्कृति में रुचि रखते होंगे और कुछ साहित्य में। आजकल व्यापार बढ़ते जाते हैं, आगे और बढ़ेंगे। उसमें भी हमारे छात्र काम आयेंगे।

दिविक रमेश : क्या आपके विद्यार्थियों को भारत जाने का मौका भी मिलता है?

प्रोफेसर ली : हर साल हमारे दो या तीन विद्यार्थी छात्रवृत्ति लेकर भारत जाते हैं। केंद्रीय हिंदी संस्थान में। इसके अलावा, व्यक्तिगत रूप में, अपने खर्च पर भी बहुत से जाते हैं। पढ़ने के लिए।

दिविक रमेश : विदेशी होने के नाते हिंदी पढ़ने-पढ़ाने में कुछ विशेष कठिनाई?

प्रोफेसर ली : कठिनाई तो कुछ नहीं है। हम भारत सरकार को धन्यवाद देना चाहते हैं। खासकर सियोल में भारतीय दूतावास के राजदूत शशांक साहब बहुत सहायता देते हैं। इसके लिए बहुत धन्यवाद !

दिविक रमेश : आपकी हिंदी की ओर कैसे दिलचस्पी हुई?

प्रोफेसर ली : सन् 1976 में मैंने हिंदी में बी.ए. किया था। उसी वर्ष भारत सरकार की ओर से छात्रवृति मिली। पांच साल दिल्ली में रहा। केंद्रीय हिंदी संस्थान में दो साल और जे.एन.यू. में दो साल (एम.ए.)। उसके बाद मैंने मेरठ विश्वविद्यालय से स्नातंत्रयोतर हिंदी और कोरियायी कहानी विषय पर पी.एचडी. की।

दिविक रमेश : क्या आपका शोध प्रबंध प्रकाशित है?

प्रोफेसर ली : अभी प्रकाशन नहीं हुआ है। प्रकाशित कराने की तैयारी तो हुई है। इस साल समकालीन हिंदी और कोरियाई कहानी का विवेचन नाम से प्रकाशित कराने की उम्मीद है।

दिविक रमेश : आपने हिंदी से कोरियायी भाषा में अनुवाद कार्य भी किया है। कृपया इस संबंध में बताएं?

प्रोफेसर ली : समकालीन हिंदी कहानियों के तो मैंने बहुत अनुवाद किए हैं। जैसे हिमांशु जोशी, भीष्म साहनी, राजेंद्र यादव, अज्ञेय, काशीनाथ आदि कहानीकारों की कहानियां। बच्चों के लिए लोक कथाओं का भी बहुत अनुवाद किया है। जय प्रकाश भारती आदि की रचनाओं का भी अनुवाद किया है। उपन्यास तो मैंने भीष्म साहनी जी का तमस ही अनुवादित किया है। मैं समझता हूं कि भारतीय इतिहास, लोक जीवन, धार्मिक संबंधों को समझने के लिए यह उपन्यास बहुत जरूरी है।

दिविक रमेश : क्या औरों ने भी अनुवाद कार्य किया है?

प्रोफेसर ली : प्रोफेसर किम ने काशीनाथ जी की रचना का अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त प्रेमचंद, यशपाल, भीष्म साहनी, मोहन राकेश, मन्नू भंडारी, ज्ञानरंजन आदि की कहानियों के भी अनुवाद किए हैं। कवियों में कबीर, घनानंद, निराला, सहाय, धूमिल आदि की कुछ कविताओं के अनुवाद किए हैं। पुस्तक के रूप में प्रकाशित नहीं हैं। इसी प्रकार भारतीय भाषाओं में शरत चंद्र, करतार सिंह दुग्गल, मंटो आदि की भी रचनाओं के अनुवाद किए हैं। टैगोर सोसायटी और कोरिया की अध्यक्षा श्रीमती किम यंग शिक ने टैगोर की रचनाओं के अनुवाद किए हैं। जैसे गीता उजाल, साधना आदि।

आजकल अंग्रेजी में लिखे गए उपन्यासों जैसे दिल्ली, बंबई की औरत आदि के भी अनुवाद हुए हैं। इसके अलावा वेद, उपनिषद् आदि धार्मिक ग्रंथ भी अनूदित हुए हैं। खासकर रवींद्रनाथ टैगोर के उपन्यास, कविता, कहानियां

आदि का खूब अनुवाद हुआ है। आपकी कविताओं के भी तो अनुवाद हुए हैं और हो ही रहे हैं।

दिविक रमेश : भारतीय गौरव ग्रंथों जैसे वेद, उपनिषद, रामायण आदि के अनुवादों की स्थिति क्या है?

प्रोफेसर ली : इनके अनुवादकों को भारतीय इतिहास-संस्कृति का ज्ञान नहीं है। अंग्रेजी किताब या जापानी किताब से अनुवाद हुआ इसीलिए सही या मूल अर्थ समझने में कठिनाई होती है। लेकिन आगे, जिन्होंने भारतीय इतिहास, वेद, उपनिषद् रामायण आदि पढ़े हैं, वे ठीक अनुवाद करेंगे। मैं आशा करता हूं।

दिविक रमेश : कोरियायी से हिंदी में अनुवाद की क्या स्थिति है?

प्रोफेसर ली : मुझे लगता है कि अभी बच्चों की चाल है।

दिविक रमेश : आपकी इस समय की योजना?

प्रोफेसर ली : एक तो गांधी जी का जीवन-दर्शन लिखना है और पहले लिखी गई हिंदी व्याकरण पुस्तक सुधार कर नया प्रकाशन कराना है। हिंदी साहित्य के बारे में इधर-उधर लेख लिखते हैं।

दिविक रमेश : आपने हाल ही में हिंदी-कोरयायी शब्द कोश का संपादन-प्रकाशन किया है। इस संबंध में कुछ और जानकारी दें।

प्रोफेसर ली : मैंने पिछले दस साल में यह कोश तैयार किया है। कोरियायी सरकार और विश्वविद्यालय की आर्थिक सहायता से यह कोश निकला है। हिंदी कोरियायी शब्द-कोश आगे हिंदी की पढ़ाई में काम आएगा और भारत और कोरिया, दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान में योग देगा।

दिविक रमेश : निश्चित रूप से। मेरा भी ऐसा ही विश्वास है। कोश का कार्य आपने अपने बलबूते पर किया है यह सचमुच हमारे लिए भी गर्व की बात है।

प्रोफेसर ली : धन्यवाद !

दिविक रमेश : पिछले दिनों भारतीय राजदूत श्री शशांक जी ने एक कोरियायी समाचार पत्र को दी गई भेंट वार्ता में कहा था कि भारत में आने वाली कोरियायी कम्पनियों को अपने व्यापार हित में, हिंदी या भारत के संबंध में पढ़ रहे कोरियायी विद्यार्थियों को, नियुक्तियों में प्राथमिकता देनी चाहिए। आपका क्या कहना है?

प्रोफेसर ली : मैं सबसे पहले राजदूत शशांक जी का धन्यवाद व्यक्त करना चाहता हूं। शशांक जी कोरिया में हिंदी की पढ़ाई एवं भारत संबंधी अध्ययन के लिए बड़ा सक्रिय योग देते हैं। दोनों देशों के सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिए भी राजदूत साहब बहुत तेज हैं। □

फीजी में हिंदी

डॉ. विवेकानंद शर्मा

फीजी के पूर्व युवा तथा क्रीडा मंत्री, संसद सदस्य विवेकानंद शर्मा का हिंदी के प्रति गहरा लगाव है। फीजी में हिंदी के विकास के लिए वह निरंतर प्रयत्नशील रहते हैं।

फीजी में हिंदी भाषा के विकास का इतिहास सौ वर्ष से भी अधिक पुराना है। ऐतिहासिक दृष्टि से सन् 1879 में शर्तबंदी प्रथा के अंतर्गत भारतीय मजदूरों का प्रथम दल फीजी पहुंचा था तथा उन्हीं के द्वारा फीजी में हिंदी भाषा का भी आगमन हुआ लेकिन इधर कुछ ऐसे तथ्य प्रकाश में आए हैं जिनसे प्रतीत होता है कि सन् 1879 से काफी पहले फीजी के बंदरगाहों पर आने वाले अनेक जहाजों में खलासी आदि का कार्य करने वाले भारतीयों के द्वारा यह द्वीप हिंदी भाषा का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष परिचय पा चुका था।

जैसा कि आज समस्त विश्व जानता है कि शर्तबंदी प्रथा के अंतर्गत जो भारतीय कुली ब्रिटिश साम्राज्य से जुड़े उपनिवेशों में भेजे गए थे, उनके वे दिन उत्पीड़न, कष्ट, दैन्य और वेदना के दिन थे, जब उन्होंने अपनी मातृभूमि से हजारों मील दूर लगभग निस्सहाय स्थिति में गन्ने के खेतों में दिन-रात कड़ा परिश्रम किया और अपने गाढ़े पसीने से उस पराये देश की धरती को सींचा जहां उन्हें निर्वासन के दिन गुजारने पड़ रहे थे। इन विजातीय लोगों के बीच अपने अस्तित्व की रक्षा का संघर्ष कितना कठिन और दुर्धर्ष रहा होगा, यह आज कल्पना का ही विषय है उनकी सन्तानों के लिए, अनुभव का नहीं।

दुनिया भर में अपने धर्म, जाति, संस्कृति व भाषा की रक्षा के लिए किए जाने वाले अनेक संघर्षों की दास्तानें आप लोगों ने सुनी, पढ़ी होंगी लेकिन प्रवासी भारतीयों ने अपनी संस्कृति और धर्म की रक्षा की कड़ी लड़ाई जीती तो केवल हिंदी भाषा के हथियार से ही। पराजय और निराशा की चरम स्थितियों में उन्हें साहस और सांत्वना देने का महान कार्य

परमपूज्य तुलसीदास की रामायण ने ही किया था जिसे मैं हिंदी भाषा का हिमालय कह दूं तो अत्युक्ति न होगी।

जिस तरह हिमालय भारत मां का अडिग प्रहरी है, उसी तरह गोस्वामी तुलसीदास का रामचरितमानस हमारे देश में प्रवासी भारतीयों की भाषा, धर्म, संस्कृति और सभ्यता की रक्षा करने वाला प्रहरी है। आज फीजी को स्वतंत्र हुए बारह वर्ष हो चुके हैं। स्वतंत्र फीजी राष्ट्र में हिंदी भाषा की उन्नति के लिए अनेक प्रकार के कदम उठाए गए हैं। यहां के स्कूलों में कक्षा 1 से लेकर 10वीं कक्षा तक हिंदी भाषा की शिक्षा दी जाती है तथा उनकी परीक्षाएं भी होती हैं। भाषा और साहित्य का मिला-जुला प्रश्न-पत्र परीक्षा का आधार होता है।

फीजी के स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली अधिकांश हिंदी पाठ्य पुस्तकें फीजी के हिंदी विद्वानों द्वारा ही तैयार की गई हैं। पाठ्य-पुस्तकों में सम्मिलित अनेक उपन्यास और कहानियां भारत के लेखकों की हैं। यहां स्कूलों में हिंदी के अध्यापक, हिंदी विषय के अतिरिक्त अन्य विषयों को भी पढ़ाते हैं।

हिंदी भाषा और साहित्य का अपेक्षाकृत गहन अध्ययन व प्रशिक्षण यहां के दो प्रमुख टीचर्स कॉलेजों में दिया जाता है। इनके नाम हैं—'टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, नसीनू' व 'लौटाका टीचर्स कॉलेज, लौटाका'। यहां प्रेमचंद के उपन्यास गोदान, निर्मला, सेवाश्रम आदि पाठ्य-पुस्तक के रूप में पढ़ाये जाते हैं।

फीजी के एकमात्र विश्वविद्यालय , 'यूनीवर्सटी आफ साउथ पैसेफिक' में उच्चस्तरीय हिंदी अध्ययन-अध्यापन का कोई स्वतंत्र विभाग नहीं है लेकिन 'एलीमेंटरी लेवल' पर हिंदी विषय की पढ़ाई की व्यवस्था आरंभ कर दी गयी है।

फीजी में हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार में रेडियो फीजी की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। सुबह साढ़े पांच बजे से रात बारह बजे तक रेडियो पर विभिन्न कार्यक्रम प्रसारित होते रहते हैं। इसमें सर्वाधिक कार्यक्रम हिंदी भाषा में ही होते हैं। पूरे दिन में लगभग पंद्रह-सोलह घंटे तक हिंदी के कार्यक्रम प्रसारित होते हैं। रेडियो-विज्ञापनों में भी हिंदी भाषा को ही प्रमुखता प्राप्त है। अधिकांश कार्यक्रम हिंदी फिल्मों के लोकप्रिय गीतों पर आधारित होते हैं।

रेडियो के साथ ही साथ हिंदी फिल्मों के महत्त्व को भी रेखांकित करना आवश्यक है। सारे फीजी देश के विभिन्न नगरों में अनेक सिनेमाघर हैं और उनमें शायद ही कोई ऐसा सिनेमाघर होगा जहां हिंदी फिल्म न दिखाई जाती हो। भारतीय लोगों के अतिरिक्त अन्य भाषा-भाषी तथा काईबीली लोगों में भी, जो फीजी के मूल निवासी हैं, हिंदी फिल्म देखने का बड़ा शौक है। यहां टेलीविजन सेट घर-घर में हैं लेकिन यहां कोई केंद्रीय राष्ट्रीय प्रसारण नहीं होता है। सभी लोग अपने-अपने टेलीविजन पर वीडियो फिल्म देखते हैं। हिंदी वीडियो फिल्म यहां सर्वाधिक देखी जाती हैं। स्थान-स्थान पर हिंदी वीडियो फिल्म किराए पर देने वाली दुकानें हैं।

रेडियो व सिनेमा के बाद हिंदी के प्रचार-प्रसार का कार्य समाचार-पत्रों के माध्यम से हो रहा है। कुछ वर्ष पहले यहां से पांच हिंदी साप्ताहिक समाचार-पत्र प्रकाशित होते थे लेकिन इधर बढ़ती हुई आर्थिक कठिनाइयों व विज्ञापनों की कमी के कारण दो हिंदी साप्ताहिक पत्र ही निरंतर प्रकाशित हो पा रहे हैं। इनके नाम हैं 'प्रशांत समाचार' और 'शांतिदूत'। फीजी सरकार के सूचना विभाग द्वारा भी दो हिंदी मासिक पत्र—'शंख' और 'फीजी वृत्तांत' प्रकाशित होते हैं।

फीजी में किसी भी प्रकार की हिंदी साहित्यिक पत्रिका का निरंतर अभाव रहा है। इस अभाव के परिणामस्वरूप यहां की नवोदित साहित्यिक प्रतिभाओं को प्रोत्साहन नहीं मिल पाता है। वर्षों से चले आ रहे इस अभाव की पूर्ति की दिशा में हिंदी महापरिषद, फीजी की ओर से एक त्रैमासिक पत्रिका 'उदयाचल' का प्रकाशन आरंभ हुआ है। इस पत्रिका का प्रवेशांक फीजी के महाकवि और हिंदी विद्वान पं. कमला प्रसाद मिश्र को दिए गए प्रथम हिंदी महापरिषद पुरस्कार—1992 की स्मारिका के रूप में प्रकाशित किया गया है।

फीजी में हिंदी भाषा के प्रचार की एक नयी दिशा और उपलब्धि यह भी है कि यहां की संसद ने यह स्वीकार किया है कि यहां के स्कूलों की हर परीक्षा में हिंदी भी एक विषय हो। इसके लिए नये पाठ्यक्रम बनाए जा रहे हैं। यहां यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है कि यहां की संसद के दोनों सदनों में हिंदी भाषा के प्रयोग को संवैधानिक मान्यता प्राप्त है। प्रत्येक संसद-सदस्य अंग्रेजी, हिंदी और फीजियन भाषा के प्रयोग के लिए स्वतंत्र है।

फीजी में हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार का निरंतर कार्य करने में रामायण मंडलियों व महिला मंडलियों का योगदान सराहनीय है। ये मंडलियां गांव-गांव में साप्ताहिक बैठकों का आयोजन करती हैं। इन बैठकों में आने वाले लोग आपस में हिंदी भाषा में ही बातें करते हैं। तुलसीकृत रामायण का सस्वर पाठ होता है। निश्चय ही इस प्रकार के आयोजनों से नयी पीढ़ी को भी हिंदी भाषा का संस्कार प्राप्त होता है। त्यौहारों के अवसरों पर यहां विभिन्न प्रकार के आयोजन होते हैं। सभाएं होती हैं। मेले लगते हैं। बड़े पैमाने पर अधिवेशन आदि भी किए जाते हैं। इन सभी आयोजनों की कार्यवाही हिंदी भाषा में ही होती है। अनेक प्रकार के महत्त्वपूर्ण निर्णय करने वाली औपचारिक बैठकों में भी हिंदी भाषा का प्रयोग होता है।

चुनाव सभाओं में किए जाने वाले राजनीतिक भाषणों में हिंदी का प्रयोग चुनाव जीतने के लिए बड़ा राम-बाण सिद्ध होता है। चुनाव सभाओं के पोस्टर व प्रचार सामग्री भी हिंदी भाषा के प्रयोग के बिना अधूरी समझी जाती है।

यहां रहने वाले दक्षिण भारतीय, पंजाबी या गुजराती भाइयों ने भी बिना झिझक के हिंदी भाषा को ही आपसी विचार विनिमय का माध्यम बनाया हुआ है। इसमें उन्हें किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती बल्कि अपनी जड़ों से जुड़े होने का अहसास और भी प्रबल

होता है। हिंदी को सभी ने अपना समझकर अपनाया हुआ है। हिंदी भाषा का प्रयोग करने या पढ़ने के लिए किसी को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता यहां नहीं है। यहां कोई नहीं कहता कि हिंदी उन पर लादी गयी है। वस्तुतः यहां हिंदी भाषा सभी प्रवासी भारतीयों के लिए अपनी अस्मिता की पहचान का पर्याय है।

गांव-गांव में आज भी लोग चौपालों पर बैठते हैं और उनके बीच तरह-तरह के किस्से सुने-सुनाये जाते हैं। आल्हा गानेवाले को ऐसी चौपाल में बड़ा सम्मान मिलता है। कबीर के भजनों को गाने की प्रतियोगिताएं रात-रात भर चलती हैं। यहां की दुकानों में खरीददारी करते समय यदि आप हिंदी में बात करें तो भी आपको हर वस्तु तुरंत ही उपलब्ध करा दी जाएगी। यातायात के विभिन्न साधनों का उपयोग करते हुए भी हिंदी की उपयोगिता कम नहीं होती है। बस में ड्राइवर-कंडक्टर तथा टैक्सी के ड्राइवर आदि सभी को हिंदी में अपना गंतव्य स्थल बताया जा सकता है। उससे टिकट खरीदा जा सकता है। किराया पूछा जा सकता है। वस्तुतः यहां की संपर्क भाषा हिंदी ही है।

यहां ऐसी अनेक संस्थाएं हैं जो प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार में लगी हुई हैं। इनमें श्री सनातन धर्म प्रतिनिधि सभा, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन आदि ऐसी ही कुछ प्रमुख संस्थाएं हैं। फीजी में हिंदी के कार्य को समर्पित एक अन्य संस्था बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य करती रही है। इसका नाम है—हिंदी महापरिषद। सन् 1970 में फीजी की आज़ादी के साथ ही साथ इस संस्था का जन्म हुआ था। आज यह अपनी स्थापना के बारह वर्ष पूरे कर चुकी है। इन बारह वर्षों में यह संस्था निरन्तर कार्यरत रही। समय-समय पर इस संस्था ने काव्य गोष्ठियों का आयोजन किया है। फीजी के तीन प्रमुख जिलों में इसने हिंदी पुस्तकालय स्थापित किए हैं। नागपुर में प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन के अवसर पर इस संस्था की ओर से एक प्रतिनिधि मंडल भारत आया था जो मॉरिशस के प्रतिनिधि मंडल के बाद सबसे बड़ा था।

फीजी में हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए भारत सरकार द्वारा किए जाने वाले प्रयासों का भी उल्लेख करना आवश्यक है। भारत सरकार की ओर से फीजी के कुछ छात्रों को प्रतिवर्ष केंद्रीय हिंदी संस्थान में एक वर्षीय डिप्लोमा पाठ्यक्रम के लिए छात्रवृत्ति मिलती है। इससे फीजी का कुछ उपकार हुआ है। लेकिन आवश्यकता इस बात की भी है कि उनमें से कुछ मेधावी छात्रों को हिंदी विषय से बी.ए., एम.ए. की डिग्री लेने के लिए लंबी अवधि तक चलने वाली छात्रवृत्तियां भी प्रदान की जायें।

हमारी सबसे बड़ी समस्या श्रेष्ठ व सुरुचिपूर्ण पुस्तकों के अभाव की है। भारत सरकार की ओर से प्रतिवर्ष कुछ पुस्तकें फीजी पहुंचती तो हैं। लेकिन बहुत बार उनमें संदर्भ-ग्रंथों की बहुतायत हो जाती है। फीजी के अल्पपठित लोगों के लिए गरिष्ठ नहीं, सुपाच्य और रुचिकर साहित्य की आवश्यकता अधिक है।

फीजी के अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूं कि इस प्रकार की लंबे समय तक चलने वाली स्थान-रिक्तता के कारण फीजी में हिंदी प्रचार-प्रसार के कार्य की गति में लगातार अवरोध पैदा हुआ है। यदि अन्य देशों में भी वह स्थिति होगी तो वहां भी ऐसा ही अवरोध आना स्वाभाविक है। इस लेख के माध्यम से मैं भारत सरकार से अनुरोध करूंगा कि यदि उसने विदेशों में भारतीय सांस्कृतिक केंद्र निदेशकों, हिंदी अधिकारियों व प्राध्यापकों आदि के पद बनाए हैं तो उनकी नियुक्तियों में निरंतरता को भी बनाए रखा जाना चाहिए ताकि हिंदी प्रचार-प्रसार के कार्य की निरंतरता भंग न हो।

फीजी में हिंदी के प्रसार के संदर्भ में एक अन्य प्रकार के अभाव की ओर भी आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूंगा। फीजी में प्रचलित अन्य भाषाओं के विद्वानों व साहित्यकारों का आवागमन समय-समय पर होता रहता है लेकिन हिंदी भाषा को लालित्यमय गौरव देने वाले साहित्यकारों के दर्शनों से फीजी का हिंदी जनमानस आज भी वंचित है। मॉरिशस को यह सुयोग मिल गया कि राष्ट्रकवि दिनकर, जैनेंद्रकुमार, यशपाल, धर्मवीर भारती, भगवतशरण उपाध्याय जैसे महान साहित्यकारों को वह अपनी भूमि पर अपने मध्य पा सका। फीजी में हिंदी अधिकारियों व संसद सदस्यों के दल तो बहुत गए लेकिन भारतीय साहित्यकारों के श्रीचरण अभी फीजी की धरती को नहीं छू पाए हैं। मेरी हार्दिक इच्छा है कि यहां के बड़े-बड़े साहित्यकार व भाषाविद् वहां आएं और अपने जीवन अनुभवों का अमृत फीजी के नवोदित साहित्यकारों को दें ताकि वे भी भारत से हजारों मील दूर रहकर मां भारती के मंदिर में अर्पित करने योग्य शब्द सुमन जुटा पाएं। □

नेपाल का आंगन : हिंदी का अपनापन

सूर्यनाथ गोप

त्रिभुवन विश्वविद्यालय, नेपाल में रीडर पद पर आसीन सूर्यनाथ गोप नेपाल में हिंदी के कर्मठ-प्रचारक हैं। हिंदी के लिए उनके हृदय में जो अपनापन छिपा है वह प्रस्तुत लेख में देखा जा सकता है।

भारत के उत्तर में लगभग 500 मील की लम्बाई में पूरब से पश्चिम तक फैला नेपाल जहां अपनी नैसर्गिक सुषमा और संपदा के लिए एशिया का स्विटजरलैंड कहा जा सकता है, वहीं अपने शौर्य एवं वीरता तथा सांस्कृतिक चेतना के लिए हिमालय की गोद में पला यह राष्ट्र हिमालय की ही तरह एशिया का सजग प्रहरी भी कहा जा सकता है। इस राष्ट्र ने अपनी सजगता का परिचय बारहवीं शताब्दी से ही देना शुरू कर दिया था। जब भारत पर पश्चिम से लगातार आक्रमणों का नया दौर प्रारंभ हुआ था। तब से लेकर भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना तक अनेक हिंदू राजाओं जैसे हरिसिंह देव, भारत में अंग्रेजी उपनिवेश के विरुद्ध लड़ने वालों जैसे तात्यां टोपे, बेगम हजरत महल आदि प्रमुख व्यक्तियों का शरणस्थल भी यह देश रहा है।

इस देश में अनेक छोटे-बड़े राजा थे, जो आपस में लड़ते रहते थे। भावी अनिष्टों की कल्पना तथा भारत में लगातार हिंदू राज्यों की पराजय से शिक्षा लेकर वर्तमान शाहवंशीय शासकों में प्रथम तथा दूरदर्शी नरेश पृथ्वीनारायण शाहदेव ने आज के नेपाल का एकीकरण किया था। यह एक सुखद आश्चर्य की बात है कि जिस महाराजा पृथ्वीनारायण शाह ने नेपाल को एक सूत्र में बांधा वह नाथ-संप्रदाय के उन्नायक हिंदी के सुपरिचित कवि, उत्तर भारत में हिंदू संस्कृति एवं धर्म के महान रक्षक योगी गोरखनाथ के बड़े भक्त ही नहीं, वरन् स्वयं हिंदी के अच्छे कवि भी थे। उनके भजन अभी भी रेडियो नेपाल से प्रायः सुनाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए, उनका एक भजन यहां प्रस्तुत है :

बाबा गोरखनाथ सेवक सुष दाये, भजहुँ तो मन लाये।
बाबा चेला चतुर मछिन्द्रनाथ को, अधबधु रूप बनाये।।
शिव में अंश शिवासन कावे, सिद्धि माहा बनि आये।। 1 ।। बाबा।।
सिंधिनाद जटाकुवरि, तुम्बी बगल दबाये।।
समथन बांघ बघम्बर बैठे, तिनिहि लोक वरदाये।। 2 ।। बाबा।।
मुन्द्रा कान में अति सोभिते, गेरूवा वस्त्र लगाये।
गलैमाल कद्राच्छे सेली, तन में भसम चढ़ाये।। 3 ।। बाबा।।
अगम कथा गोरखनाथ कि महिमा पार न पाये।
नरभूपाल साह जिउको नन्दन पृथ्वानारायण गाये।। 4 ।।
बाबा गोरखनाथ सेवक, सुख दाये, भजहुँ तो मन भाये।।

अनुसंधान एवं अध्ययन ही नहीं बल्कि अन्य भी कई दृष्टियों से नेपाल हिंदी का एक ऐसा विशाल क्षेत्र है जिससे हिंदी जगत अब तक लगभग अपरिचित-सा रहा है। यहां के हिंदी साहित्य का थोड़ा परिचय सर्वप्रथम महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने दिया जब उन्होंने विद्यापति की कीर्तिलता एवं कुछ पदों को वहाँ से ढूँढ निकाला था। राहुल सांकृत्यायन ने भी उन व्यक्तियों की थोड़ी बहुत चर्चा की है जिन्होंने वहां हिंदी के भंडार में योगदान किया है। उनमें राजगुरू हेमराज शर्मा उल्लेखनीय हैं। सच कहा जाए तो नाथ संप्रदायी योगियों से लेकर जोसमनी संतों तक, मल्लकालीन राजाओं से लेकर शाहवंशीय नरेशों एवं राजकुल के अनेक सम्मानित व्यक्तियों, सदियों से तिब्बत और भारत के साथ समान रूप से व्यापार करने वाली वहां की विशिष्ट नेवार जाति से लेकर पर्वतीय प्रदेश में रहने वाले विद्वान ब्राह्मण वर्ग और वहां के शूरवीर श्रेष्ठ क्षेत्रीय वर्ग तथा सेना आदि में काम करने वाली अन्य कई जातियों ने हिंदी की साहित्य-धारा और भाषायी प्रवाह को वहां सदा गतिशील रखा। यह ठीक है कि हिंदी की इस विकासधारा के साथ-साथ उनकी अपनी मातृभाषा, खासकर नेपाली और नेवारी भी विकसित होती गई है। परंतु विकास ने हिंदी के साथ उनके संबंध को और गहरा बनाया है। इसके पीछे संस्कृति और धर्म आदि की वह समान धुरी काम कर रही है जिससे दोनों ही देशों के साहित्यिक चक्र बराबर जुड़े रहे हैं। यही कारण है कि नेपाल उस संस्कृति, धर्म और साहित्य की रक्षा में भारत का सदा से हाथ बंटाता रहा है जिसे विदेशी आक्रमणकारी तलवार और साजिश के बल पर नष्ट करने में लगे रहे। नेपाल के संग्रहालय, सरकारी व निजी पुस्तकालयों तथा व्यक्तियों के पास सुरक्षित अनेक हस्तलिखित और प्रकाशित सामग्री इस बात का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

यों देखा जाए तो डेढ़ करोड़ की आबादी वाले इस देश में लगभग पचहत्तर प्रतिशत लोग हिंदी का किसी न किसी रूप में प्रयोग करते हैं। बाकी आबादी में उन निरे अशिक्षित

हिमालय के ऊपरी या सुदूर उत्तरी सीमा पर रहने वाले तिब्बती या उनके मिश्रित नस्ल के लोगों को ले सकते हैं जिनका कोई संपर्क निचले भाग या तलहटी के लोगों से नहीं हो पाता। परंतु ऐसे लोग भी सामान्य व्यवहार की हिंदी को समझ जरूर लेते हैं, क्योंकि तम्बाकू या अन्य कई चीजों के हिंदी भाषी व्यापारी वहां भी पहुंचते रहते हैं। वास्तव में नेपाल की तराई और पहाड़ के लोगों के बीच आपसी आदान-प्रदान और संपर्क ने वहां पहाड़ी क्षेत्रों में हिंदी को और भी सुलभ और ग्राह्य बनाया। इस संपर्क से नेपाली भाषा का भी बहुत विकास हुआ है और नेपाली के इस विकास के पीछे हिंदी का मुख्य रूप से हाथ रहा है। हिंदी और उसकी बोलियां जहां तराई के लोगों को आसानी से नेपाली के निकट ले गईं वहीं पहाड़ के लोगों के बीच सुगम और लोकप्रिय भी होती गई। इसके साथ ही पहाड़ों में चलनेवाली नेपाली की समानांतर अन्य कई भाषाएं जैसे गुरुड़, मगर, लेप्चा, तामाडु, डोटेली, शेर्पाली, नेवारी आदि अनेक भाषाओं के बीच नेपाली को तेजी से फलने-फूलने और राष्ट्रभाषा होने का अवसर भी हिंदी के कारण मिला। यदि नेपाली भाषा की प्रवृत्तियां हिंदी से संबद्ध नहीं होतीं, उसकी शैलियों से अगर वह जुड़ी नहीं होतीं तो आज नेपाली भाषा वहां की राष्ट्रभाषा कहलाने का अवसर संभवतः नहीं पा सकती। क्योंकि नेवारी जैसी समृद्ध, प्राचीन और लोकप्रिय भाषा पहले से ही डटी थी। फिर वह तो काठमांडू उपत्यका के सभी राज्यों की राजभाषा भी कभी रह चुकी थी। पर चूंकि नेपाली (जिसका पुराना नाम खसकुरा, पर्वतो या गोरखा भाषा है) हिंदी की उत्तर-पश्चिमी धारा की पहाड़ी-राजस्थानी बोलियों से विकसित हुई थी इसलिए उसमें हिंदी की वे सभी मूल प्रवृत्तियां ज्यों की त्यों आज तक बनी हुई हैं। फलतः वह नेपाल के पहाड़ों में चलने वाली मगर, तामाडु, लेप्चा, डोटेली, शेर्पाली, नेवारी आदि कई विकसित एवं समृद्ध भाषाओं को पीछे धकेलकर आसानी से राष्ट्रभाषा के स्तर तक पहुंच गई।

नेपाल में हिंदी का व्यवहार मुख्यतया तीन रूपों में होता है। प्रथम तो तराई के लगभग अस्सी-पचोसी लाख लोगों की वह पहली भाषा है। अर्थात् भारत के उत्तरप्रदेश और बिहार की सीमा से लगे आबादी की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण नेपाल के इस तराई-क्षेत्र में हिंदी उसी रूप में प्रथम भाषा है जिस रूप में बिहार और उत्तरप्रदेश में। द्वितीयतः हिंदी वहां पहाड़ों एवं पहाड़ी नगरों में निवास करने वाले उन बहुसंख्यक लोगों की द्वितीय और संपर्क भाषा है। सच तो यह है कि हिंदी के इस व्यापक प्रयोग ने ही उसे सर्वप्रथम 1950-60 के दशक और फिर बाद के दशकों में कुछ राजनीतिक पेचीदगी में जकड़ दिया और राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर नेपाली के साथ-साथ हिंदी को भी द्वितीय राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किए जाने की मांग जोर पकड़ने लगी। नेपाल-तराई-कांग्रेस तथा उसके प्रमुख नेता बेदानंद झा ने तो इसे ही अपनी पार्टी का मूल मुद्दा बनाया और हिंदी को संवैधानिक स्तर प्रदान करने का हर संभव प्रयास जारी रखा। उधर नेपाली कांग्रेस के कई प्रमुख नेता मातृका

प्रसाद कोईराला, सूर्यप्रसाद उपाध्याय, रामनारायण मिश्र तथा प्रजा परिषद के भद्रकाली मिश्र आदि महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों ने भी हिंदी को संविधान में द्वितीय राष्ट्रभाषा का दर्जा देने की मांग की। नेपाली कांग्रेस सरकार के तत्कालीन प्रधान मंत्री बी.पी. कोईराला तो हमेशा हिंदी से संबद्ध ही नहीं रहे, वरन् उसके अच्छे लेखक भी थे। उस समय संविधान में हिंदी को उपर्युक्त द्वितीय स्थान देने का निर्णय लगभग हो चुका था। हिंदी को संवैधानिक स्तर तो वहां नहीं मिल सका, लेकिन जनस्तर पर वह उसी रूप में विकसित होती रही, भले ही बाद के सरकारी आंकड़ों में हिंदीभाषियों की संख्या चाहे जितनी कम करके दिखाने की कोशिश होती रही है।

नेपाल में हिंदी के व्यवहार का प्राचीनतम रूप शिलालेखों एवं उपलब्ध हस्तलिखित सामग्रियों से अनुमान किया जा सकता है। पश्चिम नेपाल की दांग घाटी में प्राप्त आज से लगभग 650 वर्ष पूर्व के शिलालेख में दांग का तत्कालीन राजा रत्नसेन जो बाद में योगी बन गया था, उसकी एक 'दंगीशरण कथा' नामक रचना भी मिलती है। यह कृति नेपाल में हिंदी के व्यापक प्रयोग और गहरी जड़ को पुष्ट करती है। यह रचना साहित्यिक दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है ही, हिंदी की भाषिक विकास-प्रक्रिया को समझने की दृष्टि से भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। हिंदी साहित्य का जो इतिहास आज तक लिखा गया है वह भारत के हिंदी साहित्य का ही इतिहास है। वास्तव में भारत से बाहर हिंदी की जो धाराएं चलती रहीं हैं, वे अब भी इतिहासकारों की दृष्टि से ओझल हैं। उनकी ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक है। मेरे विचार से तो नेपाल की हिंदी और उसके साहित्य का एक अलग ही बड़ा इतिहास तैयार हो सकता है। पाल्पा के सेनवंशीय नरेशों तथा पूरब में मोरंग और अन्य कई राज्यों के तत्कालीन नरेशों ने तो हिंदी को अपनी राजभाषा ही बनाया था। कृष्णशाह, मुकुंदसेन आदि नरेशों के सभी पत्र और हुक्मनामें हिंदी में ही मिलते हैं जिससे हिंदी की तत्कालीन स्थिति का आसानी से अनुमान हो जाता है। काठमांडु उपत्यका के मल्ल राजाओं में से अनेक ने हिंदी में रचनाएं कीं। उनके हिंदी-प्रेम का कारण भी वहां हिंदी का व्यापक प्रयोग और प्रचार ही कहा जा सकता है। इस प्रकार हिंदी वहां कम-से-कम सात सौ वर्ष पूर्व से ही बहुसंख्यक लोगों की प्रथम और द्वितीय भाषा के रूप में चलती आई है।

बारहवीं शताब्दी में भारत पर मुस्लिम आक्रमणों का सिलसिला प्रारंभ होने से पहले तक, हिमालय के दक्षिणी भूभाग में एक ही संस्कृति थी। मुस्लिम संस्कृति ने भारतीय समाज और राज्य व्यवस्था को काफ़ी प्रभावित किया है। परंतु नेपाल पर इसी कारण बहुत कम प्रभाव पड़ा।

अपनी राष्ट्रभाषा 'नेपाली' के विकास के साथ-साथ नेपाल ने संस्कृत शिक्षा पर भी काफी जोर दे रखा है। दूसरी ओर अनेक संत-साधुओं तथा विद्वानों का अकसर भारत से आगमन होता रहता है और उनके प्रवचन आदि हिंदी में होने के कारण वहां के लोग उसे

आसानी से ग्रहण कर लेते हैं। उधर नेपाल के लोग भी प्रतिवर्ष बड़ी संख्या में खासकर उत्तर भारत के तीर्थस्थल काशी, प्रयाग, हरिद्वार आते ही रहते हैं, जहां हिंदी उन्हें आसानी से एक-दूसरे से जोड़ने का काम करती रही है। बिहार और उत्तरप्रदेश के लोगों और नेपाल के लोगों का आपस में वैवाहिक संबंध भी बहुत पहले से चलता आ रहा है और स्वाभाविक रूप से हिंदी एक-दूसरे के बीच आदान-प्रदान का माध्यम बनती रही है। फिर उत्तर भारत के व्यापारियों और उद्योगपतियों तथा नेपाल के व्यापारियों के बीच आपसी लेन-देन भी प्रारंभ से ही चलता आया है। नेपाल और भारत के ऐसे सामाजिक, व्यापारिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक संबंध में हिंदी की प्रमुख भूमिका ही नहीं, वरन् वह आज तक भी एक-दूसरे को समीप लाने में एकमात्र सशक्त माध्यम रही है।

नेपाल में हिंदी जिनकी वह प्रथम या द्वितीय भाषा नहीं है, उन सब के लिए भी उतनी ही उपयोगी है। हिंदी का अच्छा ज्ञान नेपाली के अच्छे ज्ञान में स्वाभाविक रूप से सहयोगी होता है। इसलिए यह उन लोगों के लिए भी सरल पड़ती है जिनकी मातृभाषा नेपाली नहीं है। हिंदी सीख लेने के बाद नेपाली सीखना और भी आसान हो जाता है। खासकर उत्तरी सीमा पर रहने वाले तिब्बती मूल के लोगों ने हिंदी के माध्यम से नेपाली सीखी है। यह कोई भी व्यक्ति उनसे पहली बार ही बातचीत करके समझ सकता है।

हिंदी में तकनीकी और ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकों का जिस तेजी से प्रकाशन हो रहा है उसने नेपाली पाठकों को विज्ञान की अधुनातन प्रवृत्तियों से जोड़ने में बड़ी मदद की है। इसके कई कारण हैं। जैसे, अंग्रेजी में प्रकाशित पुस्तकों की अपेक्षा हिंदी माध्यम से पढ़ना उन्हें सरल पड़ता है और वे आसानी से समझ लेते हैं। दूसरी बात नेपाल के शिक्षाविदों की आंतरिक इच्छा है कि नेपाली भाषा का विकास हो। इस मामले में वहां के शिक्षाविदों और सरकार की राष्ट्रभाषा के प्रति काफी दिलचस्पी है। नेपाली को अंग्रेजी की इस मार से बचाने में हिंदी की तकनीकी, ज्ञान-विज्ञान तथा अन्य विषयों से संबंधित पाठ्य पुस्तकें बड़ी सहायता कर रही हैं। नेपाल से आए हुए पाठक तथा अध्येता हिंदी की इन पुस्तकों के आधार पर ही नेपाली माध्यम की परीक्षाओं में बैठते हैं। यहां तक कि उच्च शिक्षा में भी वहां अंग्रेजी माध्यम से परीक्षा देने वालों की संख्या नगण्य-सी है।

नेपाल में उपलब्ध हिंदी साहित्य की अनेक हस्तलिखित प्रतियां मिलती हैं। प्राचीन साहित्यकारों में नाथपंथी एवं विद्यापति की रचनाओं से लेकर विगत शताब्दी तक की कई रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियां स्थान-स्थान पर देखने को मिलती हैं। कुछ वर्षों पहले ही खोजों से उद्घाटित प्रणामी साहित्य का मूलग्रंथ 'कुलजमस्वरूप' की भी दो हस्तलिखित प्रतियां वहां सुरक्षित हैं। वहां के अनेक मल्लकालीन राजाओं की हिंदी रचनाएं भी उपलब्ध होती हैं। मल्ल राजाओं का समय आज से दो सौ वर्ष पूर्व से लेकर छह सौ वर्ष पूर्व से भी अधिक तक ठहरता है। जगतज्योतिर्मल्ल और जयस्थितिमल्ल के हिंदी भजन तथा नाटक

तो अत्यंत उत्कृष्ट हैं। इसी काल के एक मानवीर कछिपति नाम के व्यक्ति का लिखा हिंदी नाटक 'श्रीकृष्णचरित्र प्याख' नेपाल के तत्कालीन हिंदी साहित्य का सुंदर नमूना है। मल्लकाल के नाटकों की एक और विशेषता यह है कि उनके सारे संवाद तो हिंदी में हैं, पर स्थान-स्थान पर संकेत-निर्देश नेवारी भाषा में हैं, जो मल्ल राजाओं की राजभाषा थी। आज भी काठमांडु उपत्यका की मूल भाषा नेवारी ही है। इसका पुराना तथा प्रचलित नाम 'नेपाल भाषा' है। मल्लकाल में हिंदी नाटकों तथा मंच की खूब उन्नति हुई। उस समय काठमांडु उपत्यका के विभिन्न स्थानों पर बनाए गए 'दबली' (ईट और पत्थर का बना खुला पक्का रंगमंच) आज भी ज्यों के त्यों हैं, जिन पर अब या तो मुहल्ले के बच्चे दिनभर उछल-कूद करते रहते हैं या परचून की दुकानें सजती हैं। उस समय उन 'दबली' पर दिखाये जाने वाले अधिकांश नाटक हिंदी के ही हुआ करते थे। उन्नत रंगमंच के कारण ही संभवतः उस समय सर्वाधिक नाटक रचे गए।

इधर शाहवंशीय नरेशों में पृथ्वीवीर विक्रम के समय की कई रचनाएं मिलती हैं। राजा राजेंद्र, विक्रम शाह तो स्वयं हिंदी में अच्छी कविताएं किया करते थे, जिनमें से कई उपलब्ध भी हो चुकी हैं। विषय की दृष्टि से मूलतः नेपाल में ही रचित हिंदी साहित्य का आयाम बहुत बड़ा है। और यदि संख्या की दृष्टि से देखा जाए तो विभिन्न विषयों पर वहां रचित हिंदी ग्रंथों की संख्या एक हजार से भी ऊपर हो जाने का अनुमान है। इनमें से अधिकतर अप्रकाशित हैं और न इनकी कोई सुव्यवस्थित सूची ही तैयार की जा सकी है। नेपाली साहित्य की कई महान हस्तियां, प्राचीन एवं समसामयिक, जैसे आशुकवि शंभुप्रसाद दुंगेल, मोतीराम भट्ट, लेखनाथ पौड़्याल, गिरीशबल्लभ जोशी, रघुनाथ भॉट, उदयानंद अर्ज्याल से लेकर आधुनिक कथाकार उपन्यासकार भवानी भिक्षु (श्री भिक्षु तो मूलतः हिंदी भाषी और हिंदी लेखक ही थे), सरदार रुद्राज पांडेय, लक्ष्मीप्रसाद देवकोटा, सूर्यविक्रम झवाली, हृदयचंद्रसिंह प्रधान, सिद्धिचरण श्रेष्ठ, केदारमान व्यथित आदि वरिष्ठ नेपाली साहित्यकारों की भी कई हिंदी रचनाएं मिलती हैं। शुभप्रसाद ने देवकीनंदन खत्री के 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता-संतति' से प्रभावित होकर हिंदी में 'प्रेमकांता' आठ भागों में तथा 'प्रेमकांता-संतति' उपन्यास बारह भागों में लिखा, जो प्रकाशित हुआ है। उनका एक 'वत्सराज' नामक अप्रकाशित नाटक भी उपलब्ध हुआ है। इसके अतिरिक्त एक अन्य नाटक जिसमें उर्दू मिश्रित भाषा का प्रयोग है, प्राप्त हुआ है। उसी प्रकार गिरीशबल्लभ जोशी का भी 'गिरीशवाणी' नाम का एक वृहद् उपन्यास तथा अन्य कई रचनाएं उपलब्ध हुई हैं, परंतु वे सबकी सब अप्रकाशित हैं। आधुनिक लेखकों में जिन विशिष्ट, नेपाली साहित्यकारों की उल्लेखनीय हिंदी रचनाएं हैं उनमें मोहनराज शर्मा, डॉ. ध्रुवचंद्र गौतम, चेतन कार्की, दुर्गाप्रसाद श्रेष्ठ 'उपेंद्र', धूस्वां सायमि आदि का नाम प्रमुख है।

मूल रूप से सिर्फ हिंदी में लिखनेवालों में श्री बुन्नीलाल एक ऐसे लेखक हैं जिनकी

रचनाओं में नेपाल के पूर्वांचल के जीवन का सुंदर चित्रण पाया जाता है। इनकी कुछ रचनाएं ही प्रकाशित हैं तथा एक उत्कृष्ट उपन्यास 'नयन कहर दरियाव' प्रकाशनाधीन है। बुन्नीलाल नेपाल में फणीश्वरनाथ रेणु और नागार्जुन की याद दिलाते हैं। इनकी शैली पाठक को बांध लेती है। इनके अतिरिक्त तारिणी प्रसाद यादव, केदार मानधर आदि की भी काफी सशक्त रचनाएं हैं, पर इन दोनों की रचनाएं अभी अप्रकाशित हैं। एक सूर्यदास मानंध (सुकुबाबा) हुए जिनका समय लगभग 200 वर्ष पहले माना जाता है। उनकी भी कई हस्तलिखित हिंदी रचनाएं उपलब्ध हैं। ऐसे अनेक लेखक और अनेक कृतियों का उल्लेख अभी बाकी ही है जिनके संबंध में इस लेख में लिख पाना संभव नहीं। वास्तव में नेपाल में हिंदी की साहित्यिक गतिविधि काफी उत्साहवर्धक होते हुए भी वहां के हिंदी साहित्य एवं साहित्यकारों की अनेक गंभीर समस्याओं को भारत की हिंदी संस्थाएं तथा वहां की सरकार थोड़ा ध्यान देकर हल कर सकती है। कुछ समस्याएं उल्लेखनीय हैं :

(क) अप्रकाशित हिंदी ग्रंथों के प्रकाशन

(ख) प्राचीन एवं मध्यकाल में रचित हिंदी ग्रंथों की खोज तथा उसके सम्यक् संरक्षण की व्यवस्था

(ग) वर्तमान समय में लिखनेवाले लेखकों को समय-समय पर प्रोत्साहन।

इन सब समस्याओं को ध्यान में रखते हुए वर्धा के विश्व हिंदी विद्यापीठ से संबद्ध एक विश्व हिंदी अकादमी की स्थापना होनी चाहिए, जो विश्व में भारत के अतिरिक्त, अन्य देशों की हिंदी भाषा और साहित्य के प्रति इन उपर्युक्त दायित्वों को संभाले। वैसे इतना हो जाने भर से ही विश्व में हिंदी की समस्याओं का अंत नहीं हो जाएगा। पर यह एक शुभ शुरुआत होगी, जो खासकर नेपाल जैसे भारत के अत्यंत निकट के पड़ोसी देश—हिंदी साहित्य की दृष्टि से तो कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और निकटतम देश के साथ सांस्कृतिक तथा परापूर्व से आ रहे धार्मिक आदि संबंधों को और भी मजबूत बनाएगी। □

मॉरिशस के भाषा-नियोजन में हिंदी का स्थान

श्रीमती द. इसरसिंह

मॉरिशस के प्रख्यात समाजसेवी, हिंदी सेवी एवं नाट्यकर्मी द. इसरसिंह ने हिंदी के विकास के लिए मॉरिशस में बहुत काम किया है। हिंदी से जुड़े सवालों को वह बहुत गहराई से देखते समझते हैं।

मॉरिशस के भाषा-नियोजन की चर्चा करते हुए, हम इस बात को ध्यान रखते हैं कि मॉरिशस एक बहुभाषी देश है, जिसमें अंग्रेजी, फ्रेंच, भोजपुरी, हिंदी एवं अन्य विभिन्न भारतीय भाषाएं बोली जाती हैं। मॉरिशस की ये सभी भाषाएं हमारी राष्ट्रीय विरासत की अभिन्न अंग हैं। ये हमारे राष्ट्र और जीवन के विचार, संस्कृति एवं समाज का प्रतिबिंब है।

यह देखा जाता है कि भाषा विषमरूपी और परिवर्तनशील है। तो क्या यह संभव है कि हम इसका नियोजन कर सकेंगे और फिर इसको निश्चित दिशा में ले जा सकेंगे? यद्यपि भाषा विषमरूपी है, फिर भी अनुकूल भाषा-नीति अपनाकर, भाषा-नियोजन किया जा सकता है।

भाषा-नियोजन को अनेक लोगों ने अनेक तरह से परिभाषित किया है। कुछ लोगों के अनुसार भाषा-नियोजन से मतलब है—किसी विशिष्ट दिशा में किया गया भाषा-संबंधी सामाजिक परिवर्तन, तो कुछ लोग इसे भाषा की स्वाभाविक गति के विरोध में एक निश्चित दिशा में भाषा को ले जाना मानते हैं, तो कुछ लोग भाषा-नियोजन को भाषा की विशिष्ट समस्याओं को विशेष रूप से समाधान करके उसे राष्ट्रभाषा की ओर ले जाने के व्यवस्थित प्रयास को, भाषा नियोजन मानते हैं।

इस प्रकार भाषा-नियोजन एक सांस्कृतिक संकल्पना है जिसमें—

(1) लक्ष्य निर्धारित किये जाते हैं

(2) उपकरण चुने जाते हैं और

(3) परिणाम का अनुमान लगाया जाता है।

इसके अतिरिक्त भाषा-नियोजन में अनेक समस्याओं का समाधान करने का प्रयत्न करते हैं। अतः भाषा-नियोजन करते हुए हमें चार सौपानों से गुजरना पड़ता है :

(1) चयन (यानि भाषा का चुनाव)
(2) स्वीकृति
(3) कोडीकरण एवं
(4) अभिव्यक्ति विचार

अनेक भाषाओं में से एक भाषा के चुनाव की समस्या, बोली के चुनाव की समस्या, शिक्षा के माध्यम के रूप में किसी भाषा के चुनाव की समस्या तथा इसी प्रकार किसी भाषा के सरकारी कामकाज की भाषा बनाना या राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृति दिलाने की समस्या।

इन सभी समस्याओं के आधार पर हम सचेतन स्तर पर, कुछ निर्णय लेते हैं अर्थात् हम किसी एक भाषा अथवा शैलीगत रूप का, सचेतन रूप से चयन करते हैं।

भाषा-नियोजन के लिए सिर्फ समस्याओं को जानना ही काफ़ी नहीं होता, बल्कि उनके समाधान के लिए हमें कुछ प्रयत्न भी करने पड़ते हैं और उन लक्ष्यों को पाने के लिए, कौन-कौन से तरीके या उपकरणों की आवश्यकता होगी, इसका निर्णय भी करना आवश्यक होता है। अतः मॉरिशस की भी भाषा-नीति में, इन सब बातों पर ध्यान रखते हुए, भारतीय भाषाओं के संबंध में, अर्थात् जिनमें हिंदी मुख्य है, हमें एक लक्ष्य पर पहुंचना है।

भाषा-नियोजन का काम लक्ष्य निर्धारण और उपकरण चुनाव तक समाप्त नहीं हो जाता। इनसे उत्पन्न होने वाले परिणामों का भी पहले से अनुमान लगाना ज़रूरी होता है और इसके लिए भाषाई समाज और सरकारी नीति की अभिवृत्ति का ज्ञान बहुत ज़रूरी होता है। इस तरह भाषा-नियोजन एक ओर भाषा से संबंध रखता है तो दूसरी ओर समाज को साथ लेकर चलता है। जहां तक भाषा का प्रश्न है उसमें उसके कोडीकरण और विस्तार को लिया जाता है और जहां तक समाज का संबंध है, वहां भाषा का चयन और स्वीकृति बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। अगर किसी समाज के द्वारा भाषा की स्वीकृति नहीं मिलती है, तो भाषाई झगड़े पैदा हो जाते है या उनकी संभावना हो सकती है।

जब किसी भाषा का चुनाव कर लिया जाता है, उस भाषा को भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में जैसेः सरकारी कामकाज, शिक्षा आदि विभिन्न शैलीगत भेदों में से एक रूप को स्थिर किया जाता है और उसे समाज में स्वीकृति मिल जाती है। फिर इसमें भाषा में मानक एकरूपता लाने के लिए उसमें मानकीकरण की प्रक्रिया शुरू होती है। जैसे-जैसे इस भाषा का प्रयोग, व्यवहार, ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में होने लगता है तो उसकी अभिव्यक्ति प्रसार भी होता जाता है। इस अभिव्यक्ति-प्रसार से भाषा की संप्रेषण क्षमता में वृद्धि होती है और

वह इस विषय को स्पष्ट करने में समर्थ होती है। यदि निर्धारित भाषा इन सोपानों को पूरा कर लेती है तो भाषा-नियोजन अपने आप में सफल हो जाता है।

चूंकि मॉरिशस काफ़ी समय तक फ्रांसीसी और अंग्रेजी शासकों के प्रभुत्व में रहा, इसलिए भारतीय भाषाओं की अपेक्षा यूरोपीय भाषाओं को प्रोत्साहन दिया गया। उन्होंने उनको पढ़ने और पढ़ाने के लिए पुस्तकालय खोले और छात्रवृत्तियां दीं। ऐसी परिस्थिति में भी हम देखते हैं कि भारतीय भाषाएं लड़खड़ाती हुईं, धीमी गति से बढ़ती रहीं। यह कैसे हुआ ? बस हम प्रवासियों के हृदय में अपनी संस्कृति, धर्म एवं भाषा के प्रति अटूट श्रद्धा एवं लगन की भावना के बल पर !

स्वतंत्रता के पहले, मॉरिशस में भाषाओं की स्थिति संतोषजनक नहीं थी। उस समय अंग्रेजी और फ्रेंच का प्रभुत्व था। हालांकि इस देश में भारतीय मूल के लोग अधिक थे लेकिन भारतीय भाषाओं को पूरी मान्यता नहीं मिली थी।

सन् 1924 में सर कुंवर महाराज सिंह, गिरमिटिया मज़दूरों की दयनीय स्थिति पर जांच करने मॉरिशस आए। अपनी सिफारिश में उन्होंने अन्य सिफ़ारिशों के साथ यह सिफारिश भी की कि भारतीय मज़दूरों के बच्चों को सरकारी खर्च पर उनकी अपनी भाषाएं सिखायी जायें। इस तथ्य की पुष्टि सन् 1926 में फ़लाक और ग्रांपोर जिलों के चुनाव में निर्वाचित सर्वश्री गजाधर एवं लाला ने उपनिवेश परिषद में की। परंतु सरकार की ओर से कोई समर्थन नहीं मिला।

लगभग 17 वर्ष पश्चात, 1941 में सरकार ने शिक्षा पर जांच-आयोग नियुक्त किया। इस आयोग के प्रधान निदेशक डब्ल्यू. वार्ड ने लिखा—मैं इस बात से संतुष्ट नहीं हूं कि मज़दूरों के बच्चों को उनकी अपनी भाषा में शिक्षा दी जाए। मेरी सिफारिश है कि भारतीय भाषा सरकारी खर्च पर न सिखाई जाए। 1941 के अध्यादेश 2-30 के अनुसार तत्कालीन शासकों ने अंग्रेजी शिक्षण को प्रथम स्थान दिया और फ्रेंच शिक्षण को दूसरा स्थान। भारतीय भाषाओं को कई स्थान नहीं मिला। यह भी कहा गया कि यदि भारतवंशी भारतीय भाषाएं सीखना चाहते हैं तो वे अपने खर्च पर सीख सकते हैं। इससे भारत वंशी लोगों को बड़ी निराशा हुई और भाषाई आंदोलन की स्थिति भी पैदा हो गई।

1942 तक भारतीय मूल के लोगों के प्रतिनिधि डॉ. शिवसागर रामगुलाम एवं रेंगानादेन सिनिवासेन उपनिषद परिषद में मनोनीत हो चुके थे। उन्होंने भारतीय भाषाओं पर जोर दिया। सन् 1942 में ही डॉ. रामगुलाम ने परिषद के सामने बोलते हुए कहा—'अगर हमें अपनी पहचान को बनाए रखना है, हमें अपनी खुशी और सुख प्रिय है तो हमें अनिवार्यतः अपनी भाषा जाननी है। गैर-भाषाएं कितनी भी आकर्षक एवं उपयोगी क्यों न हों, हमारे हृदय में उनका स्थान हमारी अपनी भाषा के बाद आना चाहिए। भारतीय भाषाओं की पढ़ाई को प्रोत्साहित करना, इनके पढ़ने वालों पर एहसान नहीं, उनके अधिकार की पूर्ति करना है।'

इस प्रस्तावना के फलस्वरूप वार्ड की सिफारिश ठुकरा दी गयी और भारतीय भाषाओं के शिक्षण का खर्च सरकार स्वयं वहन करने लगी।

1948 में देश के चुनाव में उन लोगों को मतदान करने का अधिकार दिया गया। जिन लोगों को एक भारतीय भाषाः हिंदी, उर्दू, बंगाली, तमिल, मंडारीन, गुजराती, मराठी, तेलुगु आदि का ज्ञान था। इन लोगों ने भारतीय भाषाओं की दिशा के विकास में अपना योगदान दिया।

1957 के शिक्षा अध्यादेश में यह निश्चय किया गया कि प्राथमिक स्कूलों में अंग्रेजी और फ्रेंच के मुख्य विषय तो रखेंगे ही, लेकिन भारतीय भाषाओं के लिए यह व्यवस्था की गई कि यदि भारतवंशी छात्र अपनी भाषा सीखना चाहते हैं तो उनके लिए व्यवस्था भी की जा सकती है।

उस समय मॉरिशस की जनसंख्या में सबसे अधिक लोगों की मातृभाषा हिंदी और भोजपुरी थी। इसके बाद फ्रेंच भाषा का स्थान था और अंग्रेजी सबसे कम लोगों द्वारा व्यवहृत थी। इसे 1952 और 1962 की जनगणना रिपोर्ट में देखा जा सकता है। यह आश्चर्य की बात है कि इन भाषाओं को नगण्य महत्त्व दिया गया है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात मॉरिशस सरकार ने भी भाषा-नीति अपनाते हुए मॉरिशस की बहुभाषी स्थिति को ध्यान में रखा तथा हिंदी एवं अन्य प्राच्य भाषाओं के बोलने वालों की संख्या पर भी ध्यान दिया।

इस दृष्टि से सरकार की भरसक कोशिश रही कि प्राच्य भाषाओं को परीक्षा की दृष्टि से भी महत्त्व दिया जाए। इसी प्रक्रिया में प्राथमिक स्कूल की सी.पी.ई. परीक्षा में इसके स्थान पर विचार कर रहे हैं। इसी संदर्भ में सरकार द्वारा प्रवर समिति की नियुक्ति हुई है। यह प्रवर समिति इस बात पर काम कर रही है कि हिंदी को उचित प्राथमिकता दी जाए। सरकार की यह स्पष्ट नीति है कि अंग्रेजी को व्यापक संपर्क भाषा के रूप में सिखाया जाए। फ्रेंच जनसंपर्क की भाषा के रूप में पढ़ायी जाए तथा शेष भारतीय, चीनी भाषाओं को लोगों की व्यापक मांग के आधार पर बनाए रखा जाए।

वैसे गौर से देखा जाए तो हम यह पाएंगे कि विदशों में हिंदी प्रचार की दृष्टि से मॉरिशस विश्व का सिरमौर है। इस देश में 840 के लगभग सरकारी और गैर सरकारी शिक्षण संस्थाएं हिंदी के अध्ययन-अध्यापन में जुटी हैं।

प्राथमिक कक्षाओं से लेकर कैम्ब्रिज की एस.सी., एच.एस.सी., जी.सी.ई. की परीक्षाएं, प्रयाग विश्वविद्यालय की परिचय, प्रथमा, मध्यमा एवं उत्तमा तथा आर्य सभा की विद्या विशारद तक की परीक्षाओं का आयोजन होता है और हिंदी का प्रसार होता है।

पूर्व में बी.ए., एम.ए. की उपाधि पाने के लिए, खासकर हिंदी में, भारत में रहकर अध्ययन करना पड़ता था। परंतु आजकल हिंदी में इस स्तर का पठन-पाठन मॉरिशस

विश्वविद्यालय द्वारा संचालित हो रहा है। गत साल त्रिवर्षीय शिक्षण के पश्चात मॉरिशस में ही कई स्नातकों ने उच्च-स्तरीय प्रमाण-पत्र प्राप्त किये हैं।

किसी भी भाषा व बोली को मानक रूप देने के लिए जनता की स्वीकृति के अतिरिक्त राजनैतिक समर्थन की भी आवश्यकता पड़ती है। अंत में हम यह प्रश्न पूछते हैं कि शिक्षा में सरकार की त्रिभाषा पद्धति या फार्मूला कब तक पूर्ण रूप से कार्यान्वित हो सकता है?

1980 से छटी कक्षा की सी.पी.ई. परीक्षा में अंग्रेजी और फ्रेंच के अनुरूप, हिंदी को भी उचित स्थान दिलाने की बात चल रही है।

भाषा हमेशा एक संवेदनशील समस्या रही है। मॉरिशस एक बहुभाषीय एवं बहुजातीय देश है। यहां जाति के आधार पर भारतीय भाषाओं को निर्धारित किया गया था। 70 प्रतिशत भारतीय मूल की भाषा हिंदी के लिए कोई ऐसी पद्धति अपनानी है, जिससे हिंदी भाषा सुरक्षित रहे और अधिक-से-अधिक व्यवहृत हो। सरकार की भाषा-नीति में यह ध्यान दिया जा रहा है कि सभी वर्गों को पूरा-पूरा न्याय मिले। वे अपने समाज के साथ जुड़े रहें और समाज के साथ कार्य करते चलें।

देश की परतंत्र अवस्था में भी हिंदी पनपती रही और अब जब कि देश हर क्षेत्र में प्रगति की राह पर चल रहा है। इसकी गति में, हिंदी के संबंध में बाधा तो नहीं आनी चाहिए।

हिंदी इस देश में केवल माध्यम की भाषा के रूप में जीवित नहीं है। यह 70 प्रतिशत मॉरिशसनों के धर्म की पवित्र भाषा ठहरी। धर्म का अटूट संबंध संस्कृति से है। यदि भाषा गयी तो संस्कृति भी गई। इसका अर्थ यह हुआ कि हिंदी को पनपने न देना, हिंदू धर्म का ह्रास करने की असफल कोशिश ही तो होगी।

हिंदी-धर्म-संस्कृति एक त्रिकोण है जिसकी नींव या आधार हिंदी है।

वास्तव में इसके अलावा यह मनोरंजन की भाषा भी तो है। यह बात हिंदुस्तानी एवं पाकिस्तानी फिल्मों की मांग के आधार पर सिद्ध होती है। क्रियोल लोग भी जो कि हिंदुओं के मध्य बसते हैं हिंदी फिल्मों का आनंद लेते हैं। गांव के चीनी दुकानदार भी हिंदी या भोजपुरी बोल लेते हैं। तो यह बोलचाल के माध्यम के रूप में भी स्वीकृत सिद्ध होती है। इसलिए हिंदी की प्रगति में बाधा नहीं आनी चाहिए। □

मॉरिशस के टापू में अपनत्व का संबल

नूतन राजपोत

मॉरिशस की हिंदी प्रचारिणी सभा के महासचिव नूतन राजपोत इस खूबसूरत टापू में हिंदी के सौंदर्य को विकसित करने में व्यस्त हैं। हिंदी को वह 'अपनेपन' का प्रतीक मानते हैं।

हिन्द महासागर के बीच स्थित मॉरिशस देश बहुधर्मावलंबियों के कारण प्रसिद्ध है। यहां हिंदू, मुस्लिम, ईसाई और बौद्ध अपने धर्म, संस्कृति, रीति-रिवाज सहित शांतिपूर्वक बसते हैं। 720 वर्गमील के इस छोटे-से स्वतंत्र टापू की जनसंख्या लगभग 10 लाख है। जिसमें 52 प्रतिशत भारतीय वंशज हैं।

बहुत समय तक फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी उपेनिवेश में रहने के कारण मॉरिशस में इन देशों की भाषाएं प्रचलित हैं। इस देश की सबसे लोकप्रिय भाषा फ्रेंच है पर राजभाषा अंग्रेजी। इन दोनों भाषाओं के अतिरिक्त हिंदी, उर्दू आदि भारतीय भाषाएं भी यहां स्वतंत्र रूप से पढ़ी और पढ़ाई जाती हैं।

मॉरिशस में हिंदी की पढ़ाई बड़ी विषम परिस्थितियों में आरंभ हुई। 150 वर्ष पूर्व भारतीय वंशज इस देश में शर्तबंद मजदूर के रूप में आए। अपने साथ अपना धर्म, संस्कृति, अपने रीति-रिवाज और अपनी भाषाएं लेकर आए। लेकिन उपनिवेशीय शासकों की यातनाओं और दैनिक जीवन की कठिनाइयों का सामना करते हमारे उन पूर्वजों का सारा समय निकल जाता था। फिर वे रातों को मिट्टी के दीये की मंद रोशनी में रामायण का पाठ करके अपनी भाषा और संस्कृति के पौधे को सींचते रहे। उन दिनों भारतीय शर्तबंद मजदूरों की शिक्षा के लिए गोरे शासकों की ओर से कोई प्रबंध नहीं था। अतः शक्कर कोठियों में

ही, खाली कमरे खोजकर, ये मजदूर अपने बच्चों को अपनी भाषा का कुछ ज्ञान देने का प्रयत्न करते थे।

अध्यापक स्वयं शर्तबंद मजदूर होने के कारण व्याकरण का कम ज्ञान रखते थे फिर भी अपने छात्रों को स्वर और व्यंजन सिखा लेते थे। छात्रों के व्यंजन सीख लेने पर उन्हें हनुमान चालीसा व रामायण का पाठ करना सिखाया जाता था। इस तरह संस्कृति के साथ भाषा को भी कायम रखने का भार स्वयं आप्रवासियों के कंधों पर था।

उपनिवेशीय शासकों को भारतीय आप्रवासियों के बच्चों को शिक्षा का ख्याल था तो केवल यूरोपीय भाषाएं सिखाने तक, उनकी मातृ-भाषाओं से इन्हें कोई रुचि नहीं थी। हिंदी को प्रोत्साहित करने से गोरे शासक हिचकिचाते थे क्योंकि उनको भय था कि भारतीय आप्रवासियों की अधिक संख्या होने के कारण कहीं इनकी भाषा देश की प्रमुख भाषा न बन जाए।

सन् 1924 में, भारतीय शर्तबंद मजदूरों की विषम परिस्थितियों से गुजरते जीवन पर जांच करने के लिए, सर कुंवर महाराज सिंह की सिफारिश पर भी मॉरिशस के उपनिवेशीय शासकों ने शर्तबंद मजदूरों के बच्चों को हिंदी पढ़ाना उचित न समझा। सन् 1941 में भी डब्ल्यू ई. एफ. वार्ड ने सरकार को सलाह दी कि भारतीय आप्रवासियों के बच्चों को उनकी अपनी भाषा सिखाने की आवश्यकता नहीं। पर दो वर्ष पश्चात सरकार द्वारा नियुक्त एक प्रवर समिति ने वार्ड की सिफारिश ठुकराते हुए सरकारी खर्च पर भारतीय भाषाएं पढ़ाने की सलाह दी।

इसके फलस्वरूप देश की 27 सरकारी प्राथमिक पाठशालाओं में हिंदी पढ़ाने की व्यवस्था की गई। हिंदी की दैनिक 30 मिनट की पढ़ाई स्कूलों में औपचारिक कार्यकाल से कहीं पहले तो कहीं बाद में हुआ करती थी। इस अनुचित व अनियमित स्थिति से भारतीय वंशज संतुष्ट तो न थे पर उनको प्रसन्नता इस बात पर थी कि कम-से-कम हिंदी सरकारी खर्च पर पढ़ाई जाने लगी।

सन् 1926 में देश के उपनिवेशीय परिषद में निर्वाचित सर्वश्री र. गजाधर और द. लाला तथा सन् 1948 में मनोनीत डॉ. शिवसागर रामगुलाम और उनके अन्य सहयोगियों के अथक परिश्रम के कारण सरकारी स्कूलों में हिंदी की नियमित रूप से पढ़ाई 1954 में आरंभ हुई। पहली से छठी कक्षा तक दैनिक 30 मिनट की कक्षागत पढ़ाई होने लगी।

इन दिनों हिंदी की पढ़ाई का समय बढ़ा दिया गया है। पहली में 30 मिनट, दूसरी में 35 मिनट, तीसरी में 40 मिनट, चौथी से छठी तक 45 मिनट, दैनिक, हिंदी शिक्षण कार्य चलता है। देश भर में प्राथमिक स्कूलों की कुल संख्या 285 है जिनमें से 260 में नियमित रूप से हिंदी की पढ़ाई चलती है। छात्रों की संख्या प्रतिवर्ष 135,000 के लगभग होती है। इनमें लगभग 90,000 केवल हिंदी पढ़ने वालों की संख्या होती है।

औपचारिक परीक्षा 6 वर्ष की पढ़ाई के पश्चात होती है। यह परीक्षा 'सर्टिफिकेट

ऑफ प्राइमरी एजुकेशन' के नाम से प्रचलित है। इसमें प्रतिवर्ष 30 हजार से अधिक परीक्षार्थी भाग लेते हैं, जिनमें से 20,000 से अधिक हिंदी सीखने वाले होते हैं।

मॉरिशस की सी.पी.ई. परीक्षा में परीक्षार्थी चार विषयों में अनिवार्य रूप से भाग लेते हैं। लेकिन भारतीय वंश के बच्चे हिंदी में भी परीक्षा देते हैं। परीक्षा में प्राप्त माध्यक अंक, अन्य भाषाओं की तुलना में, हिंदी का अधिक है। परीक्षा में अधिकांश भारतीय वंश के छात्र उत्तीर्ण भी होते हैं लेकिन अच्छे, सरकारी माध्यमिक स्कूलों में, इनको कम संख्या में दाखिला मिलता है।

इसका कारण है कि प्रत्येक परीक्षार्थी को सी.पी.ई. पास करने के लिए चार विषयों में उत्तीर्ण होना पड़ता है। इन चार विषयों में अंग्रेजी और फ्रेंच के दो गैर-भाषाएं हैं। अंग्रेजी में तो भारतीय वंश के छात्र अच्छे अंक कमा लेते हैं। पर फ्रेंच में कमजोर हुआ करते हैं जिसके कारण क्रम में पीछे रह जाते हैं। यदि कहीं फ्रेंच की जगह इनके हिंदी में कमाए अंक क्रम निर्धारण के लिए गिने जाएं तो ये अधिक-से-अधिक संख्या में माध्यमिक, सरकारी, स्कूलों में प्रवेश प्राप्त कर सकते हैं।

इस त्रुटि की पूर्ति करने के लिए स्वतंत्र मॉरिशस की सरकार ने इसी वर्ष (1985) संसद सदस्यों की एक प्रवर समिति नियुक्त की है जो इस पर जांच कर रही है कि हिंदी को किस प्रकार सी.पी.ई. परीक्षा में उचित स्थान मिले।

इस समस्या के सुलझने पर हिंदी को बहुत बड़ा प्रोत्साहन मिल सकता है। छात्रों की हिंदी से रुचि बढ़ेगी और इस देश में भारतीय भाषा, सभ्यता एवं संस्कृति के बचे रहने का आश्वासन बढ़ेगा।

छठी कक्षा में उत्तीर्ण होने पर जब छात्र माध्यमिक स्कूलों में पहुंचते हैं तो उनके सामने ढेर सारे विषय रखे जाते हैं, जिनमें हिंदी भी होती है। लेकिन प्रायः ऐसा देखा गया है कि कॉलेजों के संचालक—क्या सरकारी क्या, गैर-सरकारी, विषयों का क्रम इस प्रकार बनाते हैं कि हिंदी को इकोनॉमिक्स, एकाउंटस या कार्मस आधुनिक विषयों के साथ वैकल्पिक रूप में रखते हैं। अब चूंकि देश के श्रम मंडी में हिंदी का स्थान नहीं, छात्र स्वतः इस भाषा की पढ़ाई त्याग देते हैं।

वैसे तो कैम्ब्रिज की स्कूल सर्टिफिकेट और हाई स्कूल सर्टिफिकेट लंदन की जनरल सर्टिफिकेट ऑफ एजुकेशन (ओ. और ए. लेवल) में भी हिंदी निर्धारित विषय है। मॉरिशस से ही पत्राचार पाठ्यक्रम द्वारा भी हिंदी में डिग्री की परीक्षाएं होती हैं। लेकिन फ्रेंच और अंग्रेजी जैसी यूरोपीय भाषाओं की समता, इस देश में, हिंदी को प्राप्त नहीं। इसीलिए अपने अध्ययन काल की सीमा तक आते-आते हिंदी के इने-गिने छात्र रह जाते हैं।

सन् 1954 में मॉरिशस सरकार ने हिंदी का ज्ञान रखने वाले कुछ लोगों को, सरकारी स्कूलों में हिंदी अध्यापन कार्य के लिए नियुक्त किया। इन वरिष्ठ अध्यापकों के सहयोग

से, भारत से आए विशेषज्ञ प्रोफेसर रामप्रकाश ने 'नवीन हिंदी' पुस्तक माला का संपादन किया। हेम कुंट प्रेस, दिल्ली, में छपी यह पुस्तकमाला पहली कक्षा से छठी कक्षा तक के लिए औपचारिक रूप में निर्धारित हुई और 20 वर्षों तक चलती रही।

1978 के लगभग सरकार ने पाठ्यपुस्तक बदलने का निश्चय किया। उस समय से आज तक, भारत से कई विशेषज्ञ आए और लौट गए। तीन बार पुस्तकें लिखी गईं और ठुकरा दी गई।

आज स्थिति यह है कि महात्मा गांधी संस्थान के निर्देशन में नए शिक्षा-क्रम के आधार पर पहली कक्षा से पुनः पुस्तकें लिखी जा रही हैं। 15 जुलाई 1985 को एक पाठ्यक्रम विकास केंद्र की स्थापना हुई जिसको पुस्तकें तथा अन्य पठन सामग्री तैयार करने का भार सौंपा गया है। लेकिन 7 सालों में पुस्तक की कमी के कारण छात्रों को जो हानि पहुंची है वह हमारी कल्पना से बाहर की बात है।

माध्यमिक स्कूलों की हिंदी की पुस्तकों का भी कुछ ऐसा ही इतिहास है। इस स्तर की पुस्तकें तैयार करने का भार ऐसे व्यक्तियों के जिम्मे है जिन्होंने माध्यमिक स्कूलों में कभी काम ही नहीं किया है। जबकि प्राथमिक कक्षाओं के लिए पुस्तक लेखन में अध्यापक, निरीक्षक, परीक्षक एवं प्रशिक्षक भी लगे हुए हैं।

इसलिए हमारा विचार है कि केंद्रीय हिंदी संस्थान का विशेष सहयोग इस क्षेत्र में अत्यावश्यक है। एन.सी.ई.आर.टी. के सहयोग से प्रतिवर्ष कुछ मॉरिशसीय अध्यापकों एवं प्राध्यापकों को, जो पुस्तक लेखन में लगे हैं, छात्रवृत्ति देकर प्रशिक्षण के लिए भारत बुलाया जाए, जिससे कि वे अपने कार्य को सुचारू रूप से संपन्न करें।

मॉरिशस में हिंदी प्रचार कार्य उपनिवेशीय सरकार से पहले और अधिक रुचिपूर्ण ढंग एवं व्यवस्था से गैर-सरकारी संस्थाएं करती आ रही हैं।

सन् 1940 में मणिलाल डॉक्टर जी के सहयोग से इस देश के कुछ लोगों ने आर्य परोपकारिणी सभा की स्थापना की। इस सभा ने आर्य समाज के सिद्धांतों के साथ हिंदी प्रचार का भार उठाया। गांवों में समाजों की स्थापना और बैठकों में हिंदी की सायंकालीन पाठशालाओं का प्रबंध होने लगा। भारत से 'सरल हिंदी' एवं 'राष्ट्र भाषा' जैसी पुस्तकें मंगवाकर पढ़ने-लिखने की सुविधाएं दी जाने लगीं।

सन् 1926 में धारा नगरी (लोंग माऊंटेन) के कुछ हिंदी प्रेमियों ने 'तिलक विद्यालय' की स्थापना की। यही विद्यालय सन् 1935 में हिंदी प्रचारिणी सभा के नाम से पंजीकृत हुआ। इसका प्रमुख उद्देश्य था हिंदी का प्रचार। आर्य परोपकारिणी सभा और हिंदी प्रचारिणी सभा ने हिंदी के प्रचार-प्रसार कार्य की देश भर में व्यवस्था की। इस कार्य में, कुछ समय पश्चात् आर्य रविवेद प्रचारिणी सभा का भी सहयोग प्राप्त हुआ।

आजकल हिंदी प्रचारिणी सभा 250, आर्य सभा 200 और आर्य रविवेद प्रचारिणी

सभा 200 सांयकालीन पाठशालाओं में हिंदी की पढ़ाई का निरीक्षण एवं परीक्षण कार्य करती है। प्रायः सभी प्राथमिक कक्षाओं के छात्रों को परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर प्रमाण-पत्र भी, निःशुल्क, इन सभाओं द्वारा दिए जाते हैं।

हिंदी की माध्यमिक शिक्षा का भी प्रबंध आर्य सभा और हिंदी प्रचारिणी सभा करती है, भारत के विश्वविद्यालयों की परीक्षाएं, इन सभाओं के नियंत्रण में प्रतिवर्ष मॉरिशस में होती हैं।

लेकिन मुख्य रूप में हिंदी प्रचारिणी सभा अपना 18 संबद्ध संस्थाओं के सहयोग से माध्यमिक स्तर की शिक्षा एवं परीक्षा का प्रबंध करती है; माध्यमिक कक्षाओं में प्रवेश पाने के लिए छात्रों को हिंदी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित 'प्रवेशिका परीक्षा' में भाग लेना अनिवार्य है। इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही आर्य सभा, हिंदी प्रचारिणी सभा, एवं आर्य रविवेद प्रचारिणी सभा से संबद्ध पाठशालाओं के छात्र 'परिचय' परीक्षा में भाग ले सकते हैं।

हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, भारत की परिचय परीक्षा, हिंदी प्रचारिणी सभा की देखरेख में, मॉरिशस में सर्वप्रथम 1946 में हुई। प्रथमा सन् 1953 से, मध्यमा सन् 1962 से और उत्तमा (साहित्यरत्न) सन् 1969 से हो रही हैं। इन परीक्षाओं में हजारों की संख्या में अब भी परीक्षार्थी भाग लेते हैं। इसके अतिरिक्त आर्य सभा मॉरिशस द्वारा वैदिक सिद्धांत की परीक्षा; विद्या-विनोद, विद्या-विशारद, विद्या वाचस्पति आदि परीक्षाएं भी होती हैं।

इस देश के परीक्षार्थियों को साहित्यरत्न का प्रमाण पत्र-प्राप्त कर लेना जितना सुगम है उतना ही दुर्गम है उसके आधार पर जीविकोपार्जन। अतः इस देश में हिंदी का पठन भाषा ज्ञान एवं संस्कृति की रक्षा मात्र के लिए हुआ करता है। सरकारी प्राथमिक स्कूलों में हिंदी अध्यापन कार्य की सुविधा जो पहले थी, वह देश की आर्थिक कठिनाइयों के कारण बंद पड़ी है। माध्यमिक स्तर पर भी चाहे बहुत कॉलेजों में हिंदी की पढ़ाई हो रही है, पर कम प्रशिक्षित अध्यापक इस क्षेत्र में हैं जिसके कारण कार्य की गति अति मंद है।

हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की पढ़ाई को बढ़ावा देने के लिए मॉरिशस की वर्तमान सरकार ने महात्मा गांधी संस्थान में 28 छात्रवृत्तियों का प्रबंध किया है। ये छात्रवृत्तियां उन छात्रों को प्राप्य हैं जो सी.पी.ई. में उत्तीर्ण होने के साथ-साथ हिंदी एवं अन्य भाषाओं में पूर्णांक कमाते हैं।

कैम्ब्रिज हाई स्कूल सर्टिफिकेट के स्तर पर 2 छात्रवृत्तियां उन छात्रों को मिलती हैं जो हिंदी में प्रिंसिपल लेवल में पास होते हैं। इन छात्रवृत्तियों द्वारा हिंदी के पठन-पाठन में प्राथमिक एवं माध्यमिक, दोनों स्तरों पर प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

मॉरिशस सरकार तथा इस देश की गैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा पूरा प्रयास किया जा रहा है कि इस देश में हिंदी का पौधा जीवित ही नहीं रहे, अपितु बढ़े, फले और फूले। लेकिन एक बहुजातीय देश होने के कारण, युगों तक उपनिवेशीय शासकों एवं भाषाओं के दवाब में रहने के कारण, अंग्रेजी तथा फ्रेंच भाषाओं में शिक्षण को अधिक सुविधाएं मिलने

के कारण, यह कार्य अति मंद अवस्था में हो रहा है।

इसलिए ही, आज हमारी दृष्टि भारत की ओर जमी हुई है। हम मॉरिशस के हिंदी भाषियों को इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि केंद्रीय हिंदी संस्थान को विदेशों में शर्तबंद मजदूरों की तरह कठिन परिस्थितियों में पड़ी हिंदी का ध्यान आया। इस संस्थान के अन्य उद्देश्यों के अंतर्गत—द्वितीय/विदेशी भाषा के रूप में हिंदी के अध्ययन-अध्यापन की सुविधा प्रदान करना; देश तथा विदेश में हिंदी शिक्षा के स्तर को उच्च करने के उद्देश्य से हिंदी अध्यापकों तथा अध्यापक प्रशिक्षकों को भाषा-शिक्षण की आधुनिक तकनीकों का ज्ञान प्रदान करना; हिंदी शिक्षण की नयी विधियों का विकास करना और उसके लिए उपयुक्त सामग्री तैयार करना, आदि बातों को जानकर हममें यह आशा बंधी है कि विदेशों में बसी हिंदी का भविष्य उज्ज्वल है। □

प्रांतीय ईर्ष्या-द्वेष दूर करने में जितनी सहायता हिंदी-प्रचार से मिलेगी, उतनी किसी दूसरी चीज से नहीं।

—सुभाषचंद्र बोस

हंगरी में हिंदी

डॉ. एवा अरदी

बुडापेस्ट, हंगरी की प्रसिद्ध अध्यापिका एवा अरदी ने हिंदी तथा हंगरी के अनुवाद क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। वे हंगरी में हिंदी के अध्यापन से भी जुड़ी हैं और इस क्षेत्र की विसंगतिओं पर चिंतन करती रहती हैं।

भारत के नाम से ही हम हंगरीवासी एक विचित्र जादू महसूस करते हैं। पुराने समय से यह देश हम लोगों के लिए एक कथालोक जैसा रहा है। इसीलिए हंगरी में भारत के बारे में लिखी हुई किताबें, यात्रा-डायरी आदि बहुत लोकप्रिय हैं। इस सिलसिले में कुछ पुराने हंगेरियन विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण काम किया है।

इनमें सबसे प्रसिद्ध विद्वान थे अलेक्संदेर चोमा दे कोरोश। उनका जन्म 1784 में पूर्व हंगरी में हुआ था। वे एक पुरानी 'सेकय' जाति के थे। सेकय जाति का इतिहास बहुत दिलचस्प है। यह कुल ईसा के बाद चौथी शताब्दी में हूण जाति के साथ हंगरी के क्षेत्र में बसा हुआ था। हूंण और सेकय जातियां भी मगयार नायक हंगेरियन कुल की थीं। हमारा क्षेत्र इन लोगों के सबसे बड़े महाराज अत्तिला के साम्राज्य का केंद्र था। अत्तिला सन् 453 में मर गया। तब सेकय लोग हंगरी के पूर्व भाग की ज्यादा संरक्षित घाटी में बसे हुए थे। इस क्षेत्र का लैटिन नाम ट्रांसल्वानिया है अर्थात् 'जंगल के पार'।

सेकय लोगों की निरंतर इच्छा बहुत दिनों से यह थी कि वे मगयार जाति के स्रोत का पता लगायें जो एशिया में कहीं हो सकता है, भारत में हो। इसीलिए एक गरीब और अत्यंत साधारण सेकय युवक अलेक्संदेर चोमा 1819 में भारत की ओर रवाना हुआ। वह अधितर पैदल चलता था और अनेक कष्टों के बाद 1822 में भारतवर्ष में लाहौर पहुंचा।

उस समय उसकी सारी धनराशि समाप्त हो चुकी थी पर भाग्य से वह एक अंग्रेज यात्री राबर्ट मूरक्राफ्ट से मिला जिसने उसकी सहायता की और उसे अंग्रेजी-तिब्बत शब्दकोश लिखने का परामर्श दिया।

इसके बाद अलेक्संदेर चोमा ने अपने प्रथम चार साल लद्दाख के एक बौद्ध मठ में बिताए और शब्दकोश एवं तिब्बती व्याकरण लिखने का काम समाप्त किया। यह संसार में प्रथम अंग्रेजी-तिब्बती शब्दकोश था।

परंतु अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यानी अपने देश की जाति का स्रोत जानने के लिए वह पूरे भारत में घूमा। वह तेरह भाषाएं जानता था। भारतीय भाषाओं में से उसने संस्कृत, हिंदुस्तानी, बंगला, मराठी और पंजाबी अच्छी तरह से सीखीं। घूमने के बाद वह कलकत्ता में बस गया। वहां वह 'एशियाटिक सोसाइटी' का सदस्य बन गया और उसने अनेक भाषाशास्त्रीय संदर्भ तैयार किए, जो उसके इस सिद्धांत से संबंधित थे कि यूरोपीय भाषाओं में से हंगेरियन भाषा संस्कृत के सबसे निकट हैं। यह सिद्धांत यद्यपि पूरी तरह से खरा नहीं उतर सका, तथापि यह तथ्य बहुत से हंगेरियन भाषाशास्त्रियों का ध्यान अपनी ओर खींच चुका है।

अलेक्संदेर चोमा की मृत्यु 1842 में दार्जिलिंग में हो गयी। जबकि वह प्राचीन बौद्ध लिपियों को देखने के लिए ल्हासा की ओर जा रहा था। उसने हंगेरियन पूर्व-भूमि की तलाश में अपना जीवन दिया और उसने विश्व के सब लोगों का तिब्बती भाषा से व बौद्धधर्म के इतिहास से परिचय कराया। वह दार्जिलिंग में दफनाया गया और भारत सरकार ने उसकी कब्र की हिफाजत की है, जिसके लिए हम लोग भारत सरकार के आभारी हैं।

पिछली शताब्दी में प्रोफेसर कारोय फिओक, डॉक्टर योजेफ शिमदत् और डॉक्टर सर औरेल श्टैय्न ने भारत-विद्या एवं संस्कृत में शोध कार्य किया। सर श्टैय्न भारत आया और अलेक्संदेर चोमा के कार्य को पूरा करना चाहता था, पर इस समय भाषाविज्ञान का बहुत विकास हो गया था तथा सर श्टैय्न ने पाया कि चोमा का विचार सिद्ध नहीं किया जा सकता। वास्तव में हंगेरियन का मूल-स्थान कहीं उत्तर-मध्य एशिया में था, जैसा कि आधुनिक विज्ञान कहता है। लेकिन सर श्टैय्न ने इतिहास, पुरातत्त्व और दूसरे क्षेत्रों के लिए बड़ी सेवा की। उसके अविष्कार उसकी महान किताब 'सैर इन्दिया' में लिखे हुए हैं। यह किताब भारत में पहली बार प्रकाशित हुई।

हंगेरियन विद्वान भारतीय सभ्यता एवं दर्शन से प्रभावित थे। इस शताब्दी में एक प्रसिद्ध विद्वान डॉ. एर्विन वक्तई भारत आया और उसने पुरातत्त्वशास्त्र, धर्म तथा भारतीय कला के इतिहास का अध्ययन किया। उसने एक प्रसिद्ध पुस्तक भारतीय कला पर लिखी।

उसने धर्म व पौराणिक विषयों पर भी लिखा। उसे संस्कृत आती थी तथा उसने वेद, पुराणों एवं उपनिषदों से पंक्तियां उद्धृत की हैं। उसने महाभारत, रामायण, गीता तथा भारतीय

कथाओं का हंगेरियन भाषा में अनुवाद किया।

एक दूसरे प्रसिद्ध हंगेरियन प्रोफेसर ज्ञुला गेर्मानुस शांति-निकेतन में अध्यापन कार्य करते थे। वह रवींद्रनाथ ठाकुर के अच्छे मित्र थे। कोई तीस-चालीस साल पहले हमारे विद्वानों ने मुद्राराक्षस, वैताल पचीसी, हितोपदेश और पंचतंत्र एवं महाकवि कालिदास की शकुंतला, मेघूदत आदि का अनुवाद किया। साधारण हंगेरियन लोग भारतीय साहित्य में बहुत दिलचस्पी लेते हैं और आधुनिक कवियों-लेखकों की कृतियों के अनुवाद पढ़ना चाहते हैं।

हमारे पास अब तक रवींद्रनाथ ठाकुर की अनेक कृतियों का अनुवाद है जो कि मूल बंगला से नहीं बल्कि अंग्रेजी से किये गये हैं। हमारे पास प्रेमचंद के 'गोदान' तथा मोहन राकेश का 'अंधेरे बंद कमरे में' शीर्षक उपन्यास और कृष्ण चंद्र की कुछ कहानियों के अनुवाद हैं। लेकिन हम जानते हैं कि हिंदी साहित्य बहुत समृद्ध है, विश्वास है कि हंगेरियन लोग बड़े ही चाव से इसे पढ़ना चाहेंगे। मैं चार साल पहले भारत से वापस आयी और तुरंत काम शुरू किया। मैंने धर्मवीर भारती, कमलेश्वर, जैनेंद्र कुमार, राजेंद्र यादव, गुलाबदास ब्रोकर, मन्नू भंडारी और जाकिर हुसैन की कहानियों, दिनकर की 'उर्वशी' से कुछ भाग, कबीर, तुलसीदास, मैथिलीशरण गुप्त, बच्चन, भारती और वीरेंद्र मिश्र की कुछ कविताओं का अनुवाद किया। उनमें से लगभग 15 कहानियां अब तक अलग-अलग हंगेरियन मासिक पत्रिकाओं में और हंगेरियन रेडियो में प्रकाशित-प्रसारित हुई हैं।

इसके सिवा मैंने पिछले साल प्रेमचंद की 12 कहानियों और उपन्यास 'निर्मला' का अनुवाद किया, ये एक ही ग्रंथावली में इस वर्ष प्रेमचंद शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित होंगे।

अब जहां तक हिंदी के अध्ययन का संबंध है अभी तक यह हमारे यहां केवल एक विश्वविद्यालय में संस्कृत के साथ पढ़ायी जाती है। वहां से दो साल में एक-दो विद्यार्थी आ जाते हैं। यह संख्या बहुत कम है। बात यह है कि हंगरी में हिंदी पढ़ने की मांग काफी है पर छात्र पढ़ाई के बाद कोई काम नहीं पा सकते; इसीलिए हिंदी पढ़ाने के ज्यादा अवसर नहीं मिल पाते। हमारी इस समस्या में सिर्फ एक मदद हो सकती है यदि हिंदी भारत में सबसे पहले पूरी तरह स्वीकार कर ली जाय। यदि सब दूतावासों और वाणिज्य कार्यालयों में अंग्रेजी के बजाय हिंदी अनिवार्य हो तो हिंदी के लिए अधिक अवसर मिलें और हम लोग जो हिंदी पढ़ाते हैं वे भी ज्यादा व्यस्त हों। पर इन हालात में भी हम चार-पांच हिंदी प्रेमी उत्साह से काम करते हैं। पहला कार्य हिंदी को आगे बढ़ाना है।

इसके संबंध में 1964 में डॉ. आरपाड डेब्रेत्सेनि ने हिंदी व्याकरण को हंगेरियन भाषा में लिखा। 1975 में हमारे यहां पहला हंगेरियन-हिंदी शब्दकोश प्रकाशित हुआ, जो हमारे भूतपूर्व भारतीय राजदूत डॉ. पेटैर कोश ने दिल्ली विश्वविद्यालय के दो अध्यापकों की सहायता से पूरा किया। अभी तो डॉ. डेब्रेत्सेनि हिंदी-हंगेरियन शब्दकोश पर केंद्रीय हिंदी संस्थान के साथ काम करते हैं। अगले साल में यह शब्दकोश शायद प्रकाशित होगा।

सांस्कृतिक और वैज्ञानिक संबंध हमारे देशों के बीच निरंतर विकसित होते हैं और इसलिए एक हंगेरियन-हिंदी बातचीत पुस्तक का प्रकाशन भी आवश्यक है। इसलिए हमने 1979 अप्रैल में हंगेरियन बातचीत पुस्तक—हिंदी भाषा में—बनायी। इसकी पांडुलिपि केंद्रीय हिंदी संस्थान के पास है। आशा है कि 1980 में यह पुस्तक प्रकाशित होगी।

मैं इस पुस्तक की लेखिका हूं, अतएव इसके बारे में कुछ कहना चाहती हूं। पुस्तक के संपादक प्राध्यापक शांदोर रोट हैं जो बुडापेस्ट विश्वविद्यालय में अंग्रेजी ज्ञानपीठ के प्राध्यापक हैं और बड़े भाषाविद् हैं। वे 21 भाषाएं जानते हैं, इनमें से—संस्कृत, हिंदी और बंगला भी हैं। वे 300 से अधिक वैज्ञानिक लेख और किताबें लिख चुके हैं।

हम अपनी कृति से तो हंगरी में आने वाले भारतीयों की मदद करना चाहते हैं जो न केवल हमारे देश के सुंदर स्थान देखने आते हैं बल्कि भाषा की सहायता से देश के लोगों के साथ भी प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करने की इच्छा रखते हैं। पुस्तक के अध्यायों में भिन्न विषय होते हैं, उदाहरण के लिए : 'हवाई अड्डे पर' , 'नागरिक यातायात', 'होटल में', 'समय', 'मौसम', 'भोजन,' 'हंगेरियन रहन-सहन', 'परिवार' और 'सांस्कृतिक जीवन' ।

हम हंगेरियन वर्णमाला के अक्षर भी दिखाते हैं और उनके उच्चारण हिंदी शब्दों में बताते हैं। उदाहरण के लिए हंगेरियन भाषा में—हिंदी की तरह—दोनों 'अ' और 'आ' ध्वनियां होती हैं। हमने बताया कि हंगेरियन a=अ, जैसे हिंदी शब्द में; 'अमर', इसी तरह a=आ, जैसे हिंदी शब्द मेंः 'आम' । क्योंकि प्रायः सब हंगेरियन ध्वनियां हिंदी में होती हैं, इसलिए पुस्तक में हंगेरियन मूलपाठ की प्रतिलिपि देवनागरी अक्षरों में है। इससे हम जोर देना चाहते थे कि हमारी दोनों भाषाओं के बीच तीसरी मध्यस्थ भाषा नहीं चाहिए।

हंगेरियन भाषा उराल के भाषा-कुल की फिनिश-उग्रिएन शाखा की सदस्य है और इस शाखा में सबसे ज्यादा लोग—डेढ़ करोड़—हंगेरियन भाषा बोलते हैं। भाषा-विज्ञान हंगेरियन भाषा को—प्रतीकात्मक से अभिश्लिष्ट भाषाओं के वर्ग में रखता है और हिंदी भाषा योरोपीय भाषा कुल की सदस्य है।

हमने यह बातचीत पुस्तक हंगरी और भारत के सांस्कृतिक संबंध के आधार पर बनायी है। इस योजना के अनुसार आगरा या वाराणसी विश्वविद्यालय हिंदी पढ़ाने वाले हंगेरियन विद्यार्थी को प्रतिवर्ष एक छात्रवृत्ति देता है। आज तक हमारे पांच-छह विद्यार्थी भारत में हिंदी पढ़ चुके हैं।

मैं सोचती हूं कि इस दिशा में जो कार्य किए गए हैं, या बाद में आने वाले वर्षों में किए जाएंगे वे भारत के साथ हमारा संबंध बढ़ाने में सहायक होंगे। यह कार्य हंगेरियन लोगों को भारतीय संस्कृति, साहित्य, इतिहास व भाषाओं से परिचित कराने में अधिक सहायक सिद्ध होगा। □

चीन में हिंदी के कदम

ली जाऊ छान

चीन में हिंदी के कर्मठ सेवियों के रूप में, जिन कुछ व्यक्तित्वों को जाना जाता है, उनमें ली जाऊ छान अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।

चीन में हिंदी की पढ़ाई सबसे पहले 1942 में यूनान प्रांत के 'पूर्वी भाषा महाविद्यालय' में शुरू हुई। उस समय वहां हिंदी सीखने वाले विद्यार्थियों की संख्या केवल दस थी। ये विद्यार्थी केवल दो वर्ष का पाठ्यक्रम पूरा करने के बाद स्नातक हो जाते थे। 1946 में यह महाविद्यालय नानचिङ् चला गया और इसका हिंदी पाठ्यक्रम दो वर्ष की जगह तीन वर्ष का कर दिया गया। 1942 से 1948 तक चीन में केवल 70 विद्यार्थियों ने हिंदी सीखी, जिनमें से केवल 2 व्यक्ति आज भी हिंदी के क्षेत्र में काम कर रहे हैं।

1949 में चीन मुक्त हो गया और हमारे देश में लोक गणराज्य की स्थापना हुई। इसके बाद पेइचिङ विश्वविद्यालय में पूर्वी भाषा एवं साहित्य विभाग स्थापित किया गया, जिसके अध्यक्ष पद पर चीन के सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्वान प्रो. ची श्येलिन की नियुक्ति हुई। इस विभाग में एक 'हिंदी अनुभाग' भी कायम किया गया, जहां हिंदी भाषा तथा साहित्य के अध्ययन-अध्यापन का कार्य सुचारू रूप से आरंभ हो गया। संस्कृत विद्वान डॉ. चिन खम को इस अनुभाग का अध्यक्ष बना दिया गया।

1951 से अब तक अनुमानतः 300 से अधिक हिंदी विद्यार्थी पेइचिङ विश्वविद्यालय से स्नातक हो चुके हैं। मैं इनमें से एक हूं। आज भी यह विश्वविद्यालय चीन में हिंदी का अध्ययन-अध्यापन करने वाला सबसे महत्वपूर्ण उच्च-शिक्षा संस्थान है। इस समय विश्व-विद्यालय के हिंदी अनुभाग में लगभग दस प्राध्यापक हैं।

चीन में हिंदी साहित्य के अनुवाद का कार्य भी निरंतर होता रहा है।

हिंदी साहित्य की रचनाओं का अनुवाद कार्य चीन में पहली बार 1957 में शुरू हुआ। प्रथम अनूदित रचना प्रेमचंद की कहानियों का संकलन थी, उसमें कुल 20 कहानियां थीं। 8 कहानियों को मूल हिंदी से और 12 कहानियों को अंग्रेजी से अनूदित किया गया था। इसके बाद अनेक अन्य साहित्यिक रचनाओं को चीनी भाषा में रूपांतरित किया गया। इनमें प्रमुख रचनाएं ये थीं—प्रेमचंद का उपन्यास 'गोदान', 'निर्मला'। राहुल सांकृत्यायन की रचना 'वोल्गा से गंगा' और जैनेंद्र कुमार की रचना 'त्यागपत्र'। इनमें केवल 'निर्मला' का अनुवाद मूल हिंदी भाषा से प्रो. चिन तिङ हान द्वारा किया गया था। शेष सबका चीनी रूपांतर उन रचनाओं के अंग्रेजी पाठ पर आधारित था।

जैसे-जैसे चीन मे हिंदी भाषा तथा साहित्य के अध्ययन में रुचि बढ़ती गई, वैसे-वैसे सुप्रसिद्ध रचनाओं का अनुवाद-कार्य भी पहले से अधिक होने लगा। प्रेमचंद, यशपाल, जैनेंद्र और राहुल के अलावा निराला, वृंदावनलाल वर्मा, सुदर्शन, अश्क, उग्र आदि आधुनिक साहित्यकारों की प्रमुख कृतियों के चीनी अनुवाद मूल हिंदी भाषा में होने लगे। साथ ही भक्तिकालीन कवियों में तुलसी, सूर और कबीर की रचनाओं के पद्यानुवाद भी तैयार किए जाने लगे। इस क्रम में पेइचिङ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर चिन तिङ हान ने तुलसी के 'रामचरितमानस' का पद्यानुवाद चीनी भाषा में प्रस्तुत किया, जिससे चीनी जनता को पहली बार इस श्रेष्ठ मध्यकालीन काव्य-रचना का परिचय प्राप्त हुआ। इधर कुछ समय से सूर और कबीर के काव्य-संग्रहों को चीनी भाषा में प्रस्तुत करने के प्रयास भी किए जा रहे हैं।

1982 में हमारे देश में 'अखिल चीन भारतीय साहित्य अध्ययन संघ' नामक संस्था की स्थापना हो चुकी है। इस संघ के अधिकांश सदस्य हिंदी साहित्य का अध्ययन कर रहे हैं। संघ की ओर से दो वर्ष में एक बार भारतीय साहित्य अध्ययन संगोष्ठी का आयोजन किया जाता है, जिसमें अनेक विद्वान हिंदी साहित्य के बारे में भी निबंध पढ़ते हैं।

पेइचिङ विश्वविद्यालय के पूर्वी भाषा विभाग के अलावा पेइचिङ विश्वविद्यालय तथा सामाजिक-विज्ञान अकादमी के अधीन 'दक्षिण एशिया अध्ययन संस्थान' में भी हिंदी साहित्य का अध्ययन-अनुसंधान किया जाता है। साथ ही कुछ विद्वान सामाजिक विज्ञान अकादमी के 'विदेशी साहित्य अध्ययन संस्थान' में भी हिंदी साहित्य के अध्ययन में जुटे हुए हैं।

1980 के बाद से हिंदी की साहित्यिक कृतियों के चीनी अनुवादों का सिलसिला बढ़ता गया है। प्रेमचंद के उपन्यास 'रंगभूमि' और 'प्रेमाश्रम' तथा प्रेमचंद की कहानियों के तीन खंड अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। साथ ही शिवदान सिंह चौहान, डॉ. रामविलास शर्मा, प्रकाशचंद्र गुप्त आदि निबंधकारों की कृतियां भी हिंदी के साहित्यिक निबंधों के संग्रह के रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं। चीनी विश्वकोश के विदेशी खंड में भी 20 सुप्रसिद्ध हिंदी लेखकों का परिचय दिया गया है, जिनमें विद्यापति, तुलसी, सूर, कबीर, जायसी, मीरां,

केशव, भारतेंदु, मैथिलीशरण गुप्त, रामचंद्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, पंत, निराला, वृंदावनलाल वर्मा, उग्र, हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, राहुल, यशपाल और जैनेंद्र शामिल हैं।

चीनी पाठकों के लिए शीघ्र ही 'हिंदी साहित्य का इतिहास' भी प्रकाशित होने वाला है।

कोश-निर्माण के क्षेत्र में भी कुछ कार्य हुआ है। 1959 में प्रथम हिंदी-चीनी शब्दकोश बनाया गया था। हाल ही में हिंदी-चीनी मुहावरा कोश प्रकाशित हो चुका है। चीनी-हिंदी शब्दकोश के प्रकाशन की योजना भी तैयार की जा चुकी है।

इनके अतिरिक्त चीन की उन तीन प्रमुख संस्थाओं का उल्लेख करना भी कम आवश्यक नहीं है, जो हिंदी पुस्तकों, पत्रिकाओं के प्रकाशन या रेडियो-प्रसारण का काम कर रही हैं। ये संस्थाएं हैं—विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, 'चीन सचित्र' और रेडियो पेइचिङ।

विदेशी भाषा प्रकाशन-गृह पेइचिङ में है। इसका हिंदी अनुभाग 1955 में स्थापित किया गया था। यह प्रकाशन संस्थान अब तक राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक विषयों पर अनेक चीनी रचनाओं के हिंदी अनुवाद प्रकाशित कर चुका है। 'चीन सचित्र' चीन से हिंदी में निकलने वाली एकमात्र मासिक पत्रिका है, जिसे 1957 में शुरू किया गया था। चीनी संस्कृति एवं जनजीवन के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालने वाली यह पत्रिका चीन और भारत की जनता के बीच मैत्री तथा सद्भाव बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान कर रही है। रेडियो पेइचिङ से भारतीय श्रोताओं के लिए प्रतिदिन एक-एक घंटे के दो कार्यक्रम हिंदी भाषा में प्रसारित किए जाते हैं। इन सभी संस्थाओं के प्रयास से चीन और भारत के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान को प्रोत्साहन मिल रहा है और सद्भाव बढ़ रहा है। मुझे पूरा विश्वास है कि भविष्य में चीन में हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य का अध्ययन-अनुसंधान करने वाले लोगों की संख्या बढ़ती जाएगी तथा वे चीन और भारत इन दोनों महान देशों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान बढ़ाने में सकारात्मक योगदान कर सकेंगे। □

हिंदी के लिए पोलिश प्यार

डॉ. मंजु गुप्ता

स्व. मंजु गुप्ता एक कर्मठ हिंदी सेवी एवं साहित्यकार थीं। अल्पायु में उनके निधन से इस क्षेत्र में अभाव पैदा कर दिया है। तीन वर्ष तक पोलैंड में रहकर उन्होंने वहां के साहित्य, कला, तथा संस्कृति को खूब पहचाना था।

विकासशील देशों की भाषाओं के बीच हिंदी अब काफी विकसित स्थिति में है। विभिन्न कारणों से वह संसार के विभिन्न देशों में अध्ययन-अध्यापन का विषय बन चुकी है एवं गहन चर्चा का विषय बन चुकी है। प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं कि अब अमेरिका के 38 विश्वविद्यालयों में, पश्चिमी जर्मनी के 17 विश्वविद्यालयों में तथा रूस के 8 विश्वविद्यालयों में हिंदी-शिक्षण की व्यवस्था है। इसके साथ-साथ ब्रिटेन, बेल्जियम, स्वीडन, पेरिस, पोलैंड जैसे अन्य कई देशों में भी, 'भारतीय विभाग' में हिंदी एक प्रमुख विषय के रूप में पढ़ाई जाती है। जापान के दो विश्वविद्यालयों में हिंदी के स्नातकोत्तर (एम.ए.) शिक्षण की व्यवस्था है तथा अन्य दो विश्वविद्यालयों एवं एक विद्यापीठ में स्नातक स्तर (बी.ए.) तक हिंदी-शिक्षण का कार्य होता है। मॉरिशस के लगभग 300 प्राथमिक तथा माध्यमिक शालाओं में हिंदी पढ़ाई जाती है। इसी प्रकार ट्रिनिदाद एवं टुबैगो की लगभग 27 संस्थाओं में स्नातक स्तर तक हिंदी-शिक्षण की व्यवस्था है। वहां लगभग 143 संस्थाओं में माध्यमिक स्तर तक हिंदी अध्यापन तथा उसके प्रचार-प्रसार के कार्य में हिंदी-प्रेमी लगे हुए हैं।

उपर्युक्त संक्षिप्त जानकारी अपने आप में हिंदी के अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व की द्योतक है। हमें यहां पर यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत सरकार भी हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए

भरसक प्रयत्न कर रही है। अपने अनेक 'सांस्कृतिक-सहयोग' कार्यक्रमों के अंतर्गत हिंदी-अध्यापन संबंधी सुविधाएं प्रदान करने की जी-तोड़ कोशिश कर रही है। अनेक देशों, जैसे सूरीनाम, ट्रिनिडाड, गयाना, रोमानिया, बुल्गारिया, बेल्जियम, चीन, पूर्वी बर्लिन तथा पोलैंड आदि देशों में 'सांस्कृतिक सहयोग' समझौते के अंतर्गत भारत से हिंदी के प्राध्यापक इन देशों में प्रचार-प्रसार के लिए 2-3 वर्षों के लिए नियुक्त किए जाते हैं। यहां हिंदी-पुस्तकालयों के विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में भाषा, संस्कृति, दर्शन, साहित्य आदि विषयों से संबंधित पुस्तकें तथा 'हिंदी टाइपराइटर' आदि 'भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्' द्वारा प्रतिवर्ष या आवश्यकतानुसार भेजे जाते हैं। इसी कार्यक्रम के अंतर्गत मैं वार्सा-विश्वविद्यालय, पोलैंड में सितम्बर 1987 में आई थी। पोलैंड एक छोटा-सा देश है लेकिन सुखद आश्चर्य की बात है कि यहां के तीन प्रमुख शहरों के विश्वविद्यालयों में हिंदी-शिक्षण होता है।

पहला प्रमुख विश्वविद्यालय पोलैंड की राजधानी 'वार्सा' में है। यहां भारतीय-विभाग की स्थापना सन् 1931 में भारतीय-दर्शन के प्रसिद्ध पोलिश विशेषज्ञ प्रो. शायर द्वारा की गई। इस समय यहां हिंदी और बंगला का अध्यापन कार्य होता था। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् सन् 1953 में इसे पुनः जीवित किया गया। वास्तव में सन् 1950 के अंत से ही प्राचीन भारत संबंधित विभिन्न विषयों का अध्ययन-अध्यापन शुरू हो गया था, जैसे वैदिक अध्ययन संस्कृत महाकाव्य, प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय भाषा-विज्ञान, दर्शन, प्राचीन भारत का इतिहास एवं बौद्ध धर्म। सन् 1953 में प्रो. स्लुष्केविच ने विभाग का संचालन किया। इनका प्रमुख अध्ययन -क्षेत्र 'वाल्मीकी रामायण' था। इस समय प्रमुख रूप से संस्कृत-भाषा का अध्यापन होता था तथा साथ-ही-साथ 'प्राचीन भारतीय इतिहास' एवं 'प्राचीन भारतीय सभ्यता' संबंधी जानकारी दी जाती थी। इसी समय हिंदी भाषा सिखाने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी, फलतः सन् 1955 में पहली बार इस विभाग में एम.ए. पाठ्यक्रम के रूप में हिंदी भाषा को शामिल किया गया। इस नए हिंदी विभाग का श्रीगणेश डॉ. (श्रीमती) तात्याना रूत्कोवस्का ने किया। इन्होंने लेनिनग्राद-विश्वविद्यालय (रूस) से हिंदी में एम.ए. की उपाधि प्राप्त की।

इनके अध्ययन का प्रमुख क्षेत्र 'भारतीय मध्यकालीन साहित्य' है। इन्होंने कई आधुनिक कहानियों तथा प्रेमचंद की कहानियों का पोलिश भाषा में अनुवाद भी किया है, जो अनूदित कहानी-संग्रहों में प्रकाशित हो चुके हैं। आजकल ये इसी विभाग में हिंदी-शिक्षण में कार्यरत श्रीमती दानुता स्ताशिक के साथ मिलकर 'हिंदी साहित्य के इतिहास की रूपरेखा' पोलिश भाषा में तैयार कर रही हैं, जिसका लेखन कार्य लगभग समाप्त हो चुका है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के साथ-साथ श्रीमती स्ताशिक विस्थापित भारतीयों की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति पर भी शोधकार्य में संलग्न हैं।

जब वार्सा-विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग की बात आती है, तो इस विभाग में

कार्यरत अनेक विद्वानों का नामोल्लेख करना आवश्यक लगता है। अपनी भाषा का प्रचार-प्रसार तो सभी करते हैं, परंतु दूसरों की भाषा का प्रसार करना सचमुच प्रशंसा की बात है। ऐसी ही स्थिति के इस विभाग में दर्शन होते हैं। हिंदी-विभाग में पूर्णतया भारतीय माहौल बनाने का प्रयास किया गया है। विभिन्न देवी-देवताओं की तस्वीरों से लेकर प्रसिद्ध प्राचीन ऐतिहासिक स्थलों, मंदिरों, चित्रकलाओं से कमरों की दीवारें सुसज्जित हैं। वास्तव में इस विभाग को सुदृढ़ बनाने में हिंदी-विभाग के विभागाध्यक्ष डॉ. प्रो. क्रिस्तोफर ब्रिस्की हैं, जिन्होंने अपने प्रयासों तथा अपने सहकर्मी प्राध्यापकों की सहायता से इस विभाग को एक मजबूत स्तंभ के रूप में खड़ा किया है। इन्होंने 'बनारस हिंदू विश्वविद्यालय' से संस्कृत में पी.एचडी. की उपाधि प्राप्त की है। इनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है : 'वात्स्यायन के कामसूत्र' तथा 'मनुस्मृति' का पोलिश भाषा में अनुवाद। इनके अन्य कई महत्त्वपूर्ण प्रकाशन 'प्राचीन भारतीय थियेटर' से संबंधित हैं। एक अन्य पोलिश विद्वान श्री गावरोन्सकी ने भारतीय नाटकों पर विशेष अध्ययन किया था तथा उनका एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन 'भारतीय नाटकों के स्रोत तथा उस पर ग्रीक-प्रभाव' सन् 1946 में क्राकूव शहर से प्रकाशित हुआ था। आजकल प्रो. ब्रिस्की इस कार्य को आगे बढ़ा रहे हैं। ये 'हिंदी रंगमंच' तथा 'नौटंकी' पर विशेष अध्ययन कर रहे हैं, खासतौर पर इसके सैद्धांतिक, दार्शनिक तथा सौंदर्यपरक पक्षों पर। इस सिलसिले में ये समय-समय पर भारत की अनेक नौटंकी-मंडलियों में जाकर तत्संबंधी जानकारी एकत्रित करते रहते हैं। स्पष्टतः संस्कृत के साथ-साथ ये हिंदी-भाषा में भी दक्ष हैं। आजकल ये संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'मृच्छकटिकम' के पोलिश अनुवाद कार्य में संलग्न हैं। श्रीमद्भगवत्गीता का सस्वर पाठ वे अपने विद्यार्थियों से करवाते हैं तथा उसे कंठस्थ भी करवाते हैं। यह अतिशयोक्ति न होगी कि संस्कृत और हिंदी को इस विभाग में स्थापित करने में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

हिंदी के मर्म को पोलिश जनता तक पहुंचाने के कार्य में इस विभाग के एक अन्य विद्वान श्री पारनोव्सकी का योगदान उल्लेखनीय है। इनका प्रमुख अनुवाद क्षेत्र 'आधुनिक हिंदी कहानियां' है। इन्होंने फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंचल' उपन्यास का भी पोलिश में अनुवाद किया है। यह उपन्यास एक आंचलिक उपन्यास होने के कारण हिंदी जानने वालों के लिए भी कठिन है, लेकिन इन्होंने इस प्रकार के आंचलिक प्रभाव को भी अपनी भाषा के माध्यम से ग्रहण कर अपनी साहित्य-प्रेमी जनता तक पहुंचा दिया है। वस्तुतः इस प्रकार के कार्य सराहनीय हैं। आजकल ये डोगरी कहानियों के अनुवाद-कार्य में संलग्न हैं। इन्होंने कई बंगला कहानियों का भी पोलिश में अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त जो पोलिश विद्वान वार्सा विश्वविद्यालय में हिंदी-दर्शन, हिंदी भाषा का इतिहास, हिंदी-व्याकरण, भूगोल, धर्म, संस्कृति आदि पढ़ाते हैं उनमें श्री आरतुर कार्प, श्री आंजीय उगोवस्की, शी क्रिस्तोफर दांबनित्स्की, श्री मारेक मेयर, श्रीमती बारबर ग्राबोवस्का, श्रीमती कार्लिकोवस्का, श्रीमती दानुता

स्ताशिक, श्रीमती आन्ना शेक्लुत्स्क आदि प्रमुख हैं। श्री आरतुर कार्प ने 'प्राचीन भारतीय दर्शन' का विशेष अध्ययन किया है तथा तत्संबंधी इनके लेख भी प्रकाशित हो चुके हैं। इन्होंने विशेष रूप से भारतीय दर्शन की विभिन्न समस्याओं एवं सौंदर्यशास्त्र को उभारा है। श्री आंजेय उगोव्स्की ने भारतीय काव्यशास्त्र के सैद्धांतिक पक्ष पर विशेष अध्ययन किया है तथा सन् 1973 में इनका एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन 'भारतीय काव्य का क्रमिक विकास' प्रकाश में आया। इन्होंने बंगला भाषा के क्षेत्र में भी विशेष अध्ययन किया है। इन्होंने विद्यापति और चंडीदास पर शोध प्रबंध लिखा। इनके अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन हैं 'संस्कृत और बंगाली गीतिकाव्य में राधा', 'संस्कृत-प्राकृत के प्रेमगीत', 'विद्यापति और भारतीय शास्त्रीय काव्य' आदि। डॉ. रूत्कोव्स्का ने भी हिंदी तथा बंगला साहित्य की साहित्यिक परंपरा तथा हिंदी के मध्यकालीन साहित्य पर कई लेख लिखे, जैसे 'हिंदी साहित्य का जन्म' (1973), 'रामायण के परिवेश में' (1974), 'मध्यकालीन भारतीय गीतिकाव्य पर विभिन्न प्रभाव' (1976)।

इस समय विभाग में हिंदी भाषा के साथ-साथ बंगला और तमिल भाषाओं का भी अध्यापन होता है। पांच वर्ष के पाठ्यक्रम में तीन वर्ष संस्कृत पढ़ना सभी विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य है, लेकिन हिंदी, बंगला और तमिल में से विद्यार्थियों को एक प्रमुख भाषा के रूप में चुनना होता है और दूसरी सहायक भाषा के रूप में। इनके साथ-साथ उर्दू और पालि का भी अध्यापन समय-समय पर किया जाता है। हिंदी के पाठ्यक्रम में प्रारंभिक दो वर्षों में हिंदी की बोलचाल की शैलियां सिखा दी जाती हैं। 'हिंदी-लिपि' प्रारंभिक पाठ्यक्रम के अंतर्गत पहले एक महीने में सिखा दी जाती है। चतुर्थ वर्ष के पाठ्यक्रम के पश्चात् विद्यार्थियों को एक शोध लेख तैयार करना होता है, जिनमें आमतौर पर विभिन्न प्रमुख साहित्यिक कृतियों का अनुवाद, किसी प्रमुख रचनाकार की किसी एक प्रमुख कृति का आलोचनात्मक अध्ययन शोध का प्रमुख विषय रहता है। हिंदी पढ़ने वालों की औसतन संख्या प्रत्येक वर्ष 20 तक रहती है।

दूसरा प्रमुख विश्वविद्यालय 'यागिलोनियन विश्वविद्यालय' है, जो पोलैंड की प्रथम राजधानी क्राकूव शहर में है। यहां भी इस समय 'भारतीय विभाग' में हिंदी का पाठ्यक्रम पांच वर्ष का है। युद्ध के पहले यहां एक प्रसिद्ध पोलिश विद्वान श्री आंजेय गावरोन्स्की, जिन्होंने भारतीय नाटकों के क्षेत्र में विशेष अध्ययन किया था, की अकाल मृत्यु से इस क्षेत्र में एक अंतराल आ गया। उन्होंने संस्कृत के साथ-साथ 'पालि' का भी विशेष अध्ययन किया था तथा पोलिश पाठकों के लिए पालिभाषा में बौद्ध साहित्य का अध्यापन प्रारंभ किया था । इनके 'अश्वघोष' के कुछ चुने हुए गीतों पर सन् 1966 में पुस्तक भी प्रकाशित हुई। इसी विभाग की एक अन्य विदुषी हेलेना विलमानोवा ने इस अंतराल को भरने के लिए अथक परिश्रम किया तथा भारतीय विभाग को पुनः स्थापित करने में अपना महत्त्वपूर्ण

योगदान किया। इन्होंने संस्कृत के महान् कवि कालिदास पर विशेष कार्य किया। इन्होंने 'महाभारत' के कुछ अंशों का भी पोलिश भाषा में अनुवाद किया। 'वैताल पचीसी' का पोलिश अनुवाद भी इनका एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, जो सन् 1955 में प्रकाशित हुआ।

आधुनिक भारतीय भाषाओं पर कार्य करने वाले भाषा-वैज्ञानिकों में इस विश्वविद्यालय के प्रो. तादेउश पोबोजनियांक का नाम सर्वोपरि है। इन्होंने हिंदी व्याकरण से संबंधित प्रमुख समस्याओं तथा भारत की भाषायी समस्याओं पर कई महत्त्वपूर्ण लेख लिखे। इनकी विशेष योग्यता का क्षेत्र 'जिप्सी' लोगों की भाषा थी। इनका 'लोवारी बोली का व्याकरण' इस दिशा में एक उल्लेखनीय प्रकाशन है जो सन् 1964 में क्राकूव से प्रकाशित हुआ। सन् 1973 से इस भारतीय विभाग में हिंदी और संस्कृत भाषा के साथ-साथ पालि, उर्दू, पंजाबी और बंगाली भाषाओं का भी अध्यापन होने लगा। प्रो. पोबोजनियांक ने वास्तव में सन् 1973 में सुव्यवस्थित रूप से 'भारतीय अध्ययन' की नींव डाली तथा उसका संचालन किया तथा प्रमुख भाषा के रूप में हिंदी का अध्यापन इस विभाग में प्रारंभ हुआ।

इस विश्वविद्यालय में भारत से हिंदी प्राध्यापकों के आने का सिलसिला सन् 1987 से ही शुरू हुआ। इससे पूर्व पोलिश विद्वान ही इस बीड़े को संभाले हुए थे। कभी-कभी पंजाबी या उर्दू पढ़ाने वाले भारतीय विद्वानों ने हिंदी पढ़ाने का कार्य किया। संस्कृत पढ़ाने वाले पोलिश विद्वानों में प्रो. पोबोजनियांक, श्री चिश्लीवोवस्की, श्री वौंचाक, श्रीमती मिलेन्स्का, श्रीमती सूदिका आदि प्रमुख हैं। श्री चिश्लीवोवस्की प्रमुख रूप से मनोवैज्ञानिक हैं। इन्होंने भारतीय अध्ययन के क्षेत्र में संस्कृत साहित्य, प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र पर विशेष रूप से कार्य किया। श्री वौंचाक प्रमुख रूप से भाषावैज्ञानिक हैं। इन्होंने संस्कृत, पालि और अवेस्ता भाषाओं पर कार्य किया है।

हिंदी-साहित्य, संस्कृति एवं भाषा के क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्वानों में डॉ. पिकार्स्की हैं, जो प्रमुख रूप से भाषा-वैज्ञानिक हैं तथा हिंदी भाषा एवं साहित्य का अध्यापन करते हैं। आजकल ये कबीर की भाषा तथा काव्य पर कार्य कर रहे हैं। श्रीमती द्रोजदोविच भारतीय संस्कृति एवं कला के क्षेत्र में कार्य कर रही हैं। आजकल ये हिंदू-संस्कारों पर शोध कर रही हैं।

श्रीमती कुदेलस्का भारतीय-दर्शन पढ़ाती हैं। संस्कृत भाषा के क्षेत्र में भी इन्होंने कार्य किया है। डॉ. माशेव्स्की ने भारतीय इतिहास तथा भूगोल में विशेष अध्ययन किया है। इन्होंने उत्तर भारत के आदिवासियों के जीवन का अध्ययन किया है तथा तत्संबंधी अनेक लेख लिखे हैं। इस अध्ययन के लिए भारत भी जा चुके हैं।

पहले इस विश्वविद्यालय में हिंदी के साथ-साथ पंजाबी का भी अध्ययन होता था, लेकिन प्राध्यापकों के न होने से अब संस्कृत और हिंदी का ही अध्यापन कार्य हो रहा है। विद्यार्थियों को प्रथम दो वर्षों में संस्कृत व्याकरण तथा साहित्य पढ़ना होता है तथा वैदिक

संस्कृत से कुछ अनुवाद-कार्य करने होते हैं। संस्कृत के साथ-साथ हिंदी-व्याकरण एवं साहित्य भी पढ़ना होता है। व्यावहारिक हिंदी की कक्षा पांचों वर्षों में अनिवार्य है। इनके साथ-साथ विद्यार्थी भारतीय संस्कृति, दर्शन एवं कला का अध्ययन भी करते हैं। वार्सा विश्वविद्यालय के समान यहां भी प्रारंभिक दो वर्षों में हिंदी की बोलचाल की शैलियां सिखा दी जाती हैं। चतुर्थ वर्ष के विद्यार्थियों को एक शोध-लेख तैयार करना होता है। जिसका प्रमुख विषय हिंदी भाषा और साहित्य से संबंधित होता है, इसका निर्देशन डॉ. पिकार्स्की करते हैं; या वैदिक संस्कृत से संबंधित होता है, जिनका निर्देशन श्री वौंचाक करते हैं; या संस्कृत साहित्य तथा काव्यशास्त्र से संबंधित होता है, जिनका निर्देशन श्री चिश्लीवोवस्की करते हैं। यहां हिंदी पढ़ने वालों की औसतन संख्या प्रत्येक वर्ष 20 तक रहती है। प्रत्येक वर्ष वार्सा तथा क्राकूव के हिंदी विभागों से 3-4 विद्यार्थी दिल्ली के 'केंद्रीय संस्थान' में विशेष अध्ययन के लिए जाते हैं, जिनको भारत सरकार की ओर से छात्रवृत्ति भी मिलती है।

तीसरा प्रमुख विश्वविद्यालय 'आदम मित्स्कयेविच विश्वविद्यालय' पोजनान में है जहां 'एशियाई और अफ्रीकी विभाग' में पिछले वर्ष से विदेशी भाषा के रूप में हिंदी भाषा का अध्ययन प्रारंभ किया गया। यह तथ्य हिंदी के महत्त्व को और बढ़ा देता है तथा पोलिश विद्यार्थियों की हिंदी भाषा के प्रति रुचि का परिचायक है। यहां अभी पोलिश विद्वान श्री दारियुश गौंश्योर की इस दिशा में विशेष प्रयत्नशील हैं। ये 'हिंदी-व्याकरण' की पुस्तक पोलिश भाषा में लिख रहे हैं। यह आशा की जाती है कि इनकी देखरेख में इस विभाग में हिंदी का प्रसार होगा।

हिंदी सीखने के पीछे पोलिश लोगों का प्रमुख उद्देश्य है—भारतीय संस्कृति की गहराई तक पहुंचना, जिसकी जड़ें बहुत दूर-दूर तक मजबूती से फैली हैं। 'दर्शन' की दिव्य परतों में घुसना, जिसकी चकाचौंध से कोई विदेशी विद्वान बच नहीं सका। हिंदी सीखकर नौकरी पाना इनका उद्देश्य नहीं, बल्कि भारत की आत्मा को समझना इनका उद्देश्य है। अतः हमें इस बात पर गर्व होना चाहिए कि हमारे साथ-साथ हमारे विदेशी हिंदी प्रेमी भी हिंदी प्रचार-प्रसार के कार्य में हृदय से लगे हुए हैं। □

पूर्वी जर्मनी में हिंदी-शिक्षण

प्रो. सोमशेखर 'सोम'

पूर्वी जर्मनी में हिंदी-शिक्षण को लेकर कैसी परिस्थितियां हैं और कैसे अवरोध हैं। इन सबका परिचय दे रहे हैं वहां के परिवेश से परिचित प्रो. सोमशेखर 'सोम'

विदेशों में हिंदी भाषा एवं साहित्य की प्रगतिशील तथा उन्नत गतिविधियों को देखकर किस भारतीय को प्रसन्नता नहीं होगी। यह सर्वविदित है कि हिंदी का विदेशी विश्वविद्यालयों व संस्थानों में विगत 30-35 वर्षों से विभिन्न कक्षाओं के स्तर पर अध्ययन तथा अध्यापन हो रहा है।

जर्मन जनवादी गणतंत्र (पूर्व जर्मनी) के अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुम्बोल्द, विश्व-विद्यालय, बर्लिन (Humboldt University, Berlin) में लगभग सन् 1950 से हिंदी का हार्दिक स्वागत हुआ था। तब से आज तक हिंदी भाषा एवं साहित्य का विधिवत पठन-पाठन हो रहा है।

हुम्बोल्द विश्वविद्यालय में 'एशियाई विलय अध्ययन संस्थान' की स्थापना हुई है, जहां संस्कृत, हिंदी, उर्दू, बंगला भाषाओं का अध्ययन-अध्यापन कई वर्षों से होता आ रहा है।

इस विश्वविद्यालय में मुझे लगभग पांच वर्ष हिंदी भाषा एवं साहित्य पढ़ाने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। इस अवधि के मध्य प्राप्त अनुभवों के आधार पर यहां पर संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहा हूं।

हिंदी को एक मुख्य भाषा विषय के रूप में न पढ़ाकर एक गौण विषय के रूप में हिंदी का अध्यापन कार्य संपन्न हो रहा है। भारतीय इतिहास, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र की

भांति हिंदी भी एक 'पूर्ण विषय' (Complete Subject) है। अन्य विषयों की तरह हिंदी का पठन-पाठन 5 वर्षों का ही है। 5 वर्षों का यह शैक्षणिक कोर्स 'डिप्लोमा' कहलाता है जो भारतीय विश्वविद्यालय के एम.ए. के समकक्ष होता है। हिंदी विषय को यहां पर 'साइंस फैकल्टी' के अंतर्गत रखा गया है। इस पूरे पांच वर्ष की शैक्षणिक अवधि में हिंदी की प्रारंभिक तथा उच्च स्तर की पढ़ाई होती है। हिंदी के छात्र शुद्ध हिंदी में बातचीत करें; नित्य जीवन में प्रत्युत हिंदी शब्दावली का ज्ञान प्राप्त कर हिंदी में धाराप्रवाह बातचीत करें आदि उद्देश्य हिंदी के अध्यापक के सम्मुख होंगे। इन्हीं दिशाओं में हिंदी का पठन-पाठन होता रहता है।

हिंदी शिक्षण के प्रथम वर्ष की अवधि में हिंदी की वर्णमाला—स्वर, संयुक्त स्वर, व्यंजन आदि का परिचय शब्दों के आधार पर कराया जाता है। हिंदी के छात्रों को हिंदी के अनुनासिक, अनुस्वार, विसर्ग, संयुक्त व्यंजन के उच्चारण करने में काफी परिश्रम करना होता है। इसी तरह महाप्राण व्यंजनों के उच्चारण पर भी अधिक ध्यान दिया जाता है। इस दिशा में 'उच्चारण-अभ्यास' का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इस कार्य में हिंदी के छात्र अध्यापक का साथ अवश्य देते हैं तथा हिंदी सीखने में स्वयं प्रयत्नशील रहते हैं।

धीरे-धीरे हिंदी शब्द भंडार पर बल दिया जाता है। हिंदी शब्द भंडार का परिचय अधिकतर हिंदी माध्यम द्वारा ही कराया जाता है। बीच-बीच में जर्मन, अंग्रेजी, फ्रेंच भाषाओं का सहारा लेना जरूरी है। संबोधन, अभिवादन तथा परिचय, धन्यवाद, क्षमा और खेद, विदा और इच्छाएं, समय, मौसम, परिवार, उम्र, घर-मकान, फ्लैट, भारतीय घर, यात्रा, होटल, रेस्तरां, नगर, शहर, भारतीय ग्राम्य जीवन, भारतीय भोजन, भारतीय कृषि, व्यापार, राजनीति और समाज, कानून, स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय, पत्र, साहित्य, रेडियो, दूरदर्शन, डाक तथा तारघर, नाई, केश प्रसाधक, बैंक, खरीदारी, मनोरंजन, खेल-कूद और विमान, बीमारी-दुर्घटना आदि विषयों पर बातचीत करने का अभ्यास कराया जाता है। इन विषयों पर पढ़ाते समय भारतीय सभ्यता, संस्कृति, नृत्यकला, चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत कला, वेशभूषा आदि की ओर विशेष आकर्षित किया जाता है। भारतीय भाषाओं और विभिन्न संस्कृतियों के प्रति यहां के विद्यार्थियों की विशेष अभिरुचि होती है। हिंदी के माध्यम से भारतीय किसान, गांव, अर्थशास्त्र आदि विषय जानने-समझने के लिए काफी उत्सुक रहते हैं।

प्रथम तथा द्वितीय वर्ष की पढ़ायी अवधि में महीने में एक बार किसी भारतीय विषय को लेकर वाक्स्पर्धा की भी योजना होती है। हिंदी के अध्ययन के समय, अनुवाद संबंधी अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। वाक्य रचना के समय काफी दिक्कतें अनुभव करते हैं यहां के हिंदी छात्र। सबसे पहले, इसी बात पर बार-बार बल दिया जाता है कि वे हिंदी में सोचें तथा हिंदी में लिखा करें। प्रथम वर्ष की पढ़ाई की अवधि में अपेक्षाकृत अधिक गलतियां करते रहते हैं। परंतु धीरे-धीरे हिंदी में ही सोचने की कोशिश करने लगते हैं। तृतीय वर्ष के छात्र शुद्ध हिंदी का प्रयोग अवश्य करने लगते हैं। इसी अवधि में साधारण

मुहावरे तथा लोकोक्तियों का परिचय प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में होता जाता है। अभिवादन करते समय शुरू से ही 'नमस्ते' शब्द का प्रयोग अवश्य करेंगे। 'प्रोफेसर' को संबोधन करते समय 'प्रोफेसर साहब' 'गुरुजी', 'पंडितजी' शब्दों का प्रयोग करेंगे। यह स्पष्ट है कि इनके लिए भारत तथा भारतीय भाषाएं विशेषकर हिंदी, बंगाली भाषा तथा साहित्य काफी जिज्ञासा के विषय हैं। इसलिए हिंदी के पठन-पाठन में इन भाषाओं की ओर भी विशेष ध्यान देना होता है।

भारतीय भाषाओं के विदेशी विद्वानों की देन को कौन भुला सकता है। कई ऐसे महान साधक एवं तपस्वियों के नाम तथा कीर्ति-गौरव आज तक अविस्मरणीय हैं जिन्होंने विदेशी होते हुए भी भारतीय भारतीय भाषाओं का चिंतन, मनन किया है। भारतीय भाषाओं में ही अपनी रचनाएं लिखीं। ऐसे महान से महानतम पुजारियों की साहित्यिक पूजा से हिंदी की गरिमा और भी बढ़ गई है। इन पंक्तियों का लेखक जर्मन जनवादी गणतंत्र के ऐसे मूर्धन्य हिंदी विद्वानों के संपर्क में आया है, जिन्होंने हिंदी का अध्ययन विधिवत किया है तथा हिंदी व्याकरण को आत्मसात् कर लिया है। हिंदी में जहां धारावाहिक भाषण देते हैं, वहां लिखते भी हैं।

हिंदी के छात्र जर्मन हिंदी विद्वानों से हिंदी व्याकरण का अध्ययन करते हैं। हिंदी व्याकरण को जर्मन भाषा के माध्यम से इसलिए पढ़ाना लाभप्रद होता है कि छात्र हिंदी व्याकरण संबंधी सारी सामग्री बड़ी आसानी से ग्रहण कर लें। यहां के हिंदी विद्वानों में डॉ. श्रीमती मारग्रेट गात्सलाफ, डॉ. श्रीमती बारबरा ब्यूरनर, डॉ. श्री लुत्स बगान्त्स, कुमारी हन्नी लोत्स्कअ, कुमारी क्रिस्टीना आदि के नाम बड़े गौरव के साथ लिए जा सकते हैं जो विगत कई वर्षों से हिंदी, बंगाली, उर्दू के पठन-पाठन में लगातार सेवारत हैं।

हिंदी के विद्वानों में हिंदी व्याकरण पर डॉ. श्रीमती मारग्रेट गात्सलाफ तथा डॉ. श्रीमती ब्यूरनर ने ठोस काम किया है। हिंदी व्याकरण के क्षेत्र में इन दोनों का किया गया सतत् मनन एवं चिंतन वास्तव में स्तुत्य है। डॉ. श्रीमती गात्सलाफ की हिंदी व्याकरण पर लिखी पुस्तक 'Grammaticher Leitfaden der Hindi' हिंदी व्याकरण की कोटि में एक मानक पुस्तक मानी जा सकती है। इस पुस्तक में इन्होंने जर्मन भाषा के माध्यम से हिंदी के व्याकरण को वैज्ञानिक, सरल पद्धति अपनाकर प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त शब्दकोश के क्षेत्र में भी काफी अच्छा काम किया है। परिणामस्वरूप इनसे ही बनाया गया जर्मन-टिकी-शब्द-कोश, 'Worter buch Deutseh Hindi' (जर्मन-हिंदी शब्दकोश) अपने आप में एक अनूठी उपलब्धि एवं संदर्भ ग्रंथ है। इस शब्दकोश में लगभग 15000 शब्द सम्मिलित किए गए हैं। श्रीमती एरिका क्लेम्भ से बनाया गया और एक हिंदी-जर्मन शब्दकोश (सन् 1971) हिंदी भाषा के क्षेत्र में सराहनीय देन है जिसमें लगभग 12000 शब्द सम्मिलित किए गए हैं। ये दोनों शब्दकोश हिंदी के पठन-पाठन में काफी सहायक एवं उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

हिंदी के छात्र डॉ. श्रीमती ब्यूरनर के योग्य तथा स्नेहपूर्ण निर्देशन में हिंदी व्याकरण का अध्ययन करते हैं। डॉ. ब्यूरनर का हिंदी तथा जर्मन व्याकरण पर पूर्ण अधिकार है। यहां के छात्रों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे हिंदी व्याकरण को बड़े वैज्ञानिक ढंग से पढ़ते हैं। यहां छात्रों को हिंदी भाषा की नींव डालने का जो महत् कार्य होता है, जो अत्यधिक कष्टसाध्य तथा श्रमसाध्य साधन है, वह डॉ. श्रीमती ब्यूरनर के सहयोग से ही होता है। इस दिशा में इनका परिश्रम अपेक्षाकृत अधिक होता है।

सन् 1981 में 'जर्मन-हिंदी बातचीत' नामक पुस्तक (Gesprachs buch Deutseh-Hindi) प्रकाशित हुई है जिसके लेखक डॉ. श्रीमती उगमर मर्कोंबा अनसारी और डॉ. श्री अहमद अनसारी हैं। यह पुस्तक यहां के हिंदी प्रेमियों तथा छात्रों को हिंदी की व्यावहारिक जानकारी देने में सहायक सिद्ध हुई है। श्रीमती डॉ. अनसारी ने 'Chrestomathic der Hindi Prosader 20 Jahrhunderts' शीर्षक से बीसवीं शताब्दी के हिंदी गद्य साहित्य पर एक संकलन प्रकाशित किया है।

हिंदी की विविध साहित्यिक-विधाओं पर अनुवाद के माध्यम से काफी काम संपन्न हुआ है। स्व. प्रेमचंद का उपन्यास 'निर्मला' जर्मन भाषा में अनुवादित है। इसके अलावा हिंदी के ख्यात-प्रख्यात कवियों, गद्य लेखकों की कई रचनाओं का जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ है। 'Moderne Hindi Lyrik' शीर्षक से (आधुनिक हिंदी गीत) एक पुस्तक प्रकाशित हुई है जिसमें स्व. निराला से लेकर रामजीत के प्रमुख गीत-प्रगीतों का जर्मन अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। यह अनुवाद कार्य श्रीमती इरोना त्सेहरा के नेतृत्व एवं संपादकत्व में संपन्न हुआ है।

हिंदी जर्मन अनुवाद के क्षेत्र में सूरदास के पदों का जो अनुवाद कार्य हुआ है, वास्तव में एक महान देन है। यह कार्य 'सूरदास कृष्णायन' (Surdas Krishnayan-1978) के शीर्षक से दो भागों में प्रस्तुत किया गया है। यह अनुपम कार्य हिंदी-जर्मन-रूसी-अंग्रेजी के कर्मज्ञ श्री सेलांद बीर के अथक परिश्रम का सुफल है। इन दोनों भागों का प्रस्तुतीकरण बड़ी ही कलात्मक शैली में हुआ है। सूरदास के सरस तथा मनोवैज्ञानिक पदों का जर्मन अनुवाद जर्मन भाषा में वैज्ञानिक पद्धति पर प्रस्तुत करके श्री वीर महोदय ने सूरदास जैसे हिंदी के महान कवि का परिचय यहां के सारे हिंदी प्रेमियों को कराया है। हिंदी तथा जर्मन दोनों भाषाओं के लिए श्री बीर महोदय की एक अमूल्य एवं अपूर्व देन है जिसे युगों तक भुलाया नहीं जा सकेगा।

रेडियो और टेलीविजन के माध्यम से भी यहां हिंदी का प्रचार एवं प्रसार सुचारू रूप से हो रहा है। रेडियो बर्लिन के अंतर्राष्ट्रीय विभाग से प्रतिदिन लगभग 2 घंटे के प्रोग्राम हिंदी में प्रसारित होते रहते हैं। हिंदी के छात्र इन प्रोग्रामों से काफी लाभान्वित होते हैं। कभी-कभी हिंदी फिल्में भी जर्मन भाषा में अनुवादित कर प्रसारित होती रहती हैं। स्मरण है

कि एकाध बार 'दो बूंद पानी' नामक हिंदी फिल्म भी दर्शायी गयी है। इसी तरह 'आक्रोश' तथा 'अंकुर' फिल्में भी दिखायी गईं। सन् 1981 में 'जुनून' भी यहां दिखाई गई थी। हिंदी का वातावरण प्रस्तुत करने के लिए यहां के हिंदी के छात्रों तथा हिंदी प्रेमियों को कभी-कभी हिंदी फिल्में भी दिखायी जाती हैं। इसके अलावा बर्लिन स्थित भारतीय राजदूतावास हिंदी की अनेक पुस्तकें हुम्बोल्द विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग को भेंट स्वरूप प्रदान करता रहा है तथा भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद की ओर से हिंदी पुस्तकें भेंट स्वरूप प्राप्त होती रहती हैं।

जर्मन जनवादी गणतंत्र में हिंदी के प्रचार एवं प्रसार की गतिविधियां काफी प्रगतिशील हैं तथा यहां की जनता भी बड़ी आस्था, लगन से हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में काफी प्रयत्नशील तथा क्रियाशील है। यहां की सरकार तथा विश्वविद्यालय के अधिकारियों की भावी योजनाओं के अंतर्गत हिंदी भाषा तथा साहित्य के पठन-पाठन संबंधी अनेक योजनाएं हैं। हुम्बोल्द विश्वविद्यालय में हिंदी विषय को लेकर पढ़नेवालों की संख्या में काफी वृद्धि हो रही है। गत डिप्लोमा-सत्र में जहां छह विद्यार्थी हिंदी का अध्ययन कर गए, वहां 1984 के सत्र में 12 छात्र-छात्राएं हिंदी का अध्ययन कर रहे थे।

सन् 1981 में बर्लिन में प्रेमचंद जन्म शताब्दी समारोह बड़ी सफलता के साथ मनाया था जिसमें हिंदी प्रेमियों, छात्र-छात्राओं ने काफी अभिरुचि ली थी। इस समारोह में हुम्बोल्द विश्वविद्यालय के 'स्कूल ऑफ एशियन स्टडीज' के तत्कालीन निदेशक प्रोफेसर डॉ. वैडामन तथा 'साऊथ एशियन स्टडीज' के तत्कालीन निदेशक तथा संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान प्रोफेसर मार्गेनरोथ भी उपस्थित थे। □